मूल्य ४ ७५

प्रथमावृत्ति वीर नि० सं० २४७५ प्रति १०००

द्वितीयावृत्ति वीर नि० सं० २४८० प्रति १०००

मुद्रक—

नेमीचन्द बाकलीवाल

कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के विषयमें

उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक—
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि–शिलालेख]

अर्थः—कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाएं विभूषित हुई है, जो चरणों के चारण-ऋद्धिधारी महामुनिओं के करकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र मे श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे प्रभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

*　　*　　*　　*

. . . .　　. कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त–
र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विन्ध्यगिरि–शिलालेख]

अर्थ—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रज-स्थान—भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करते थे, उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु अन्तर में, वैसे ही बाह्य में, रज से (अपनी) अत्यंत अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अन्तरंग में वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)

• • • •

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

[दर्शनसार]

अर्थ—(महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

• • • •

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के विषय में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचन को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष होरहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्वलाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्ग को प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओं को मोक्षमार्ग में लगाने के मूल कारणभूत इस ग्रन्थराज की विस्तृत व्याख्या का प्रकाशन करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरे बड़े सौभाग्य की बात है।

इस ग्रन्थराज के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। इस समयसार के स्मरण मात्र से ही मुमुक्षु जीवों के हृदयरूपी वीणा के तार आनन्द से झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावना में दिया हुआ है इसलिये यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांग का निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसार में कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि से सीधा संबन्धित होने के कारण अत्यन्त प्रमाणीक है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का हमारे ऊपर महान् उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमन्धर भगवान के पादमूल में आठ दिवस तक रहकर भगवान की दिव्यध्वनिरूप अमृत का पेट भरकर साक्षात् पान किया, और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवों के लिये उस अमृत को श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पञ्चास्तिकाय, श्री नियमसार, अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों के रूप में परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग रहे हैं एवम् भविष्य में भी लगेंगे।

इसीप्रकार समयसार के अत्यन्त गंभीर एवम् गूढ़ रहस्यों को प्रकाशन करने वाले श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने भी भगवान के गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनि को द्वादशांगरूप में विस्तृत कर देते हैं) के समान इस ग्रन्थ के गंभीर रहस्यों को खोलने का कार्य किया है, इसलिये उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान् उपकार है।

लेकिन आज क्षयोपशम एवम् रुचि की मंदता के कारण हम लोग उस टीका को भी यथार्थरूप में नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवम् रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्व की जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्व को और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसार के अभ्यास का ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समय में हमारे सद्भाग्य से समयसार के मर्मज्ञ एवम् अनुभवी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के सत् समागम का महान लाभ हम मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुनने वाला धुनिया रुई के बँधे पिंड को धुन-धुनाकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है उसीप्रकार आपने भी समयसार के एवम् उसकी टीका के गंभीर से गंभीर एवम् गूढ़ रहस्यों को इतनी सरल एवम् सादी भाषा में खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धि वाला भी, इसको यथार्थ रुचि के साथ ग्रहण कर लेने से, अनन्तकाल में नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्ग को सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये हम मंद बुद्धि वाले जीवों पर तो भी कानजी महाराज का महान् २ उपकार है क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराज को नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्ग की प्राप्ति कैसे होती? इसलिये हमारे पास आपके उपकार का वर्णन करने के लिये कोई शब्द ही नहीं हैं। मात्र श्रद्धा के साथ आपको प्रणाम करते हैं।

भगवान महावीर स्वामी के समय में दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेप में ही मोक्षमार्ग का प्रकाशन होता था और उसी से पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे। उसके बाद धीरे-धीरे जीवों की रुचि, आयु, बल और

क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवान के निर्वाण होने के करीब पांचसौ वर्ष वाद ही मोक्षमार्ग के मूल प्रयोजनभूत तत्व का श्री कुन्दकुन्द देव द्वारा ग्रन्थरूप में संकलन हुआ, उसके बाद और भी क्षीणता बढी तो उनके एकहजार वर्ष बाद ही श्री अमृतचन्द्राचार्य देव द्वारा उसकी और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या होगई, और जब अधिक क्षीणता बढ़ी तो उनके एकहजार वर्ष बाद इस पर और भी विस्तृत एवम सरल व्याख्या श्री कानजी स्वामी द्वारा होरही है। यह सब इस बात के द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवान का मार्ग काल के अन्त तक अक्षुण्ण बना ही रहेगा और उसके पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजी स्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कब, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी सङ्कलना किसप्रकार किसके द्वारा और क्यों की गई, यह सब प्रस्तावना में खुलासा किया गया है।

इसके अनुवादक श्रीमान् प० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अति उत्साह से इस अनुवाद कार्य को किया।

अन्त में पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजी स्वामी को मेरा अत्यन्त भक्ति से नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि ससार को नष्ट कर देने वाले सत्‌धर्म की प्राप्ति हुई।

कार्तिक शुक्ला १
वीर नि० सं० २४७५

भवदीय—
नेमीचन्द पाटनी, आगरा

॥ ॐ ॥

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

भरतक्षेत्र की पुण्यभूमि में आज से २४७४ वर्ष पूर्व जगतपूज्य परम-भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाण के उपरांत कालदोष से क्रमशः अपार ज्ञानसिंधु का अधिकांश भाग तो विच्छेद होगया, और अल्प तथापि बीजभूत ज्ञान का प्रवाह आचार्यों की परंपरा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमें से आकाशस्तम्भ की भाँति कितने ही आचार्यों ने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्यों में से एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी से प्रवर्तित ज्ञान को गुरु-परंपरा से प्राप्त करके, उसमें से पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि शास्त्रों की रचना की और संसार-नाशक श्रुतज्ञान को चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसार के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में होगये हैं, दिगम्बर जैन परम्परा में उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामी के पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपने को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहने में गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के

शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों के बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्य देव के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, इसलिये यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तव में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अपने परमागमों में तीर्थंकर देवों के द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तों को सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्ग को स्थापित किया है। विक्रम सवत् ९९० में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि—"विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ ने (कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) स्वत प्राप्त किये हुए ज्ञान के द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते ?" एक दूसरा उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य देव को कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। 'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से विभूपित, चार अगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह में जाकर सीमन्धर भगवान की वन्दना की थी और उनके पास से मिले हुए श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया है ऐसे श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थमें सूरीश्वर श्री श्रुतसागर की रची हुई मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।' इसप्रकार षट्प्राभृत की श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीका के अन्तमें लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की महत्ता को दर्शाने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्य में मिलते हैं, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन सम्प्रदाय में कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव का अपूर्व स्थान है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के रचे हुए अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से कुछ इस समय भी विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव के मुख से प्रवाहित श्रुतामृत की सरिता में से भरे हुए वे अमृतभाजन वर्तमान भी

अनेक आत्मार्थियोंको आत्मजीवन देते हैं। उनके समस्त शास्त्रोंमें भीसमयसार महा अलौकिक शास्त्र है। जगत के जीवों पर परम करुणा करके आचार्य भगवान ने इस शास्त्र की रचना की है, इसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करने वाले जीवों को जो कुछ समझना शेष रह गया है वह इस परमागम में समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान श्री समयसार शास्त्र के प्रारम्भ में कहते हैं—'काम-भोग-बन्ध की कथा सभी ने सुनी है, परिचय एवं अनुभवन किया है, किन्तु मात्र पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही दुर्लभ है। उस एकत्व की-पर से भिन्न आत्मा की बात इस शास्त्र में मैं निजविभव से (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव से) कहूँगा।' इस प्रतिज्ञा के अनुसार समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा का एकत्व-परद्रव्य से और परभावों से भिन्नत्व को समझाया है। आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति कराना ही समयसार का मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिये आचार्य भगवान ने उसमें अनेक विषयों का निरूपण किया है। आत्मा का शुद्धस्वभाव, जीव और पुद्गल की निमित्त-नैमित्तिकता होने पर भी दोनों का बिल्कुल स्वतंत्र परिणमन, नवतत्त्वों का भूतार्थ स्वरूप ज्ञानी के राग-द्वेष का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, अज्ञानी के राग-द्वेष का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सांख्यदर्शन की ऐकान्तिकता, गुणस्थान-आरोहण में भाव की और द्रव्य की निमित्त-नैमित्तिकता, विकाररूप परिणमित होने में अज्ञानियों का अपना ही दोष, मिथ्यात्व आदि की जड़ता उसीप्रकार चेतनता, पुण्य-पाप दोनों की बन्धस्वरूपता, मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान आदि अनेक विषयों का प्ररूपण श्री समयसारजी में किया गया है। इस सबका हेतु जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाना है। श्री समयसारजी की महत्ता को देखकर उल्लसित होकर श्री जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवन्त हों वे पद्मनन्दि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य जिन्होंने महान तत्त्वों से परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्यजीवों को समर्पित किया है। वास्तव में इस काल में

श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवों का परम आधार है। ऐसे दुषमकाल में भी ऐसा अद्भुत, अनन्यशरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेव के मुखारविंद से प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना महान् सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रथ में नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजी स्वामी के शब्दों में कहा जाय तो 'यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें विद्यमान है, जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधकों के लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्व का रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्टे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव से प्रगट हुई है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक सस्कृत टीका के लेखक (लगभग विक्रम सवत् की १० वीं शताब्दी में होगये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्य देव हैं। जिसप्रकार श्री समयसार के मूल-कर्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति के समान टीका आजतक किसी भी जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई। उन्होंने पचास्तिकाय और प्रवचनसार की टीका भी लिखी है एव तत्वसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीका का स्वाध्याय करने वाले को ही उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति का भलीभाँति अनुभव होजाता है। संक्षेप में ही गंभीर-गूढ़रहस्यों को भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानों को आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवली के वचनों के समान है। जैसे मूल शास्त्रकर्ता ने समयसार जी शास्त्र को समस्त निज-वैभव से रचा है, वैसे ही टीकाकार ने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभव से टीका की रचना की है, टीका के पढ़ने वाले को सहज ही ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस कलिकाल

में जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने मानों वैसे ये भगवान कुन्दकुन्द के हृदय में ही प्रवेश कर गये हों इसप्रकार उसके गम्भीर आशय को यथार्थरूप से व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्याति में विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभव की तरङ्गों से परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ आचार्यों पर उन कलशों ने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मरस से परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकों की हृदयतंत्री को मंकृत कर देते हैं। अध्यात्म कवि के रूप में श्री अमृतचन्द्राचार्य देव का स्थान जैन साहित्य में अद्वितीय है।

श्री समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ४१५ गाथाओं की रचना प्राकृत में की है। उसपर श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्य देव ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीकायें लिखी हैं। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकार के स्मरण में उन्हें अत्यन्त भक्तिभाव से वन्दन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचन्द्रजी ने मूल गाथाओं का और आत्मख्याति का हिन्दी में अनुवाद किया और स्वतः भी उसमें कुछ भावार्थ लिखा। यह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नाम से विक्रम संवत् १९६४ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजी ने उसको प्रचलित हिंदीभाषा में परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नाम से विक्रम संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पंडित मनोहरलालजी का और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल का मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी समयसार का अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी पर परम उपकार हुआ। विक्रम संवत् १९७८ में उन महात्मा के करकमलों में यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरी ने इसे परख लिया। सर्वरीति से स्पष्ट देखने पर उनके हृदय में परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवान ने चिरसुप्त

हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्ति को संभाला और अनादिकाल से पर के प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल होगई, तथा परसम्बन्ध से छूटकर स्वरूप में लीन होगई। इसप्रकार ग्रन्थाधिराज समयसार की असीम कृपा से बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजी स्वामी ने चैतन्यमूर्ति भगवान समयसार के दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसार में गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पिता से उत्तराधिकार में आई हुई अद्भुत निधियों को उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजी का गंभीरतापूर्वक गहरा मनन करने के पश्चात् "किसी भी प्रकार जगत के जीव सर्वज्ञ पिता की इस अमूल्य सम्पत्ति को समझलें तथा अनादिकालीन दीनता का नाश करदें !" ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनों का प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आजतक पूज्य श्री कानजी स्वामी ने सात वार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़ में आठवीं बार वह अमृतवर्षा होरही है। सवत् १९९९-२००० की साल में जिस समय उनकी राजकोट में ९ महीने की स्थिति थी उस समय श्री समयसार के कितने ही अधिकारों पर उनके (छटवीं बार) प्रवचन हुए थे। इस समय श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट को ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल खिरे जाते हैं यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओं की दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मी की प्राप्ति करादें।' ऐसा विचार करके ट्रस्ट ने उन प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रकाशित कराने के हेतु से उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखों से श्री समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में पाँच भागों में पुस्तकाकार प्रकाशित होचुका है और उन्हीं का हिन्दी अनुवाद कराके श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओं के हाथ में देते हुए हर्ष होरहा है। इस अनुवाद

में कोई न्यायविरुद्ध भाव न आजावे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्र के मूल-कर्ता और टीकाकार अत्यंत आत्मस्थित आचार्य भगवान थे वैसे ही उनके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतराग के परम भक्त, अनेक शास्त्रों के पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारी युगप्रधान महापुरुष हैं। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठकों को उनके आत्म-अनुभव, गाढ़ अध्यात्म प्रेम, स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्ति में रंग में रंगा हुआ उनका चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोग का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उसका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिये उनके गुणों के विषय में यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावना का उदय होने के कारण गत चौदह वर्षों में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, तत्त्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगमरहस्यप्रकाशक, स्वानुभव मुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्र में अध्यात्मविद्या का अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र सौराष्ट्र में ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्र के द्वारा प्रकाशित होने के कारण समस्त भारतवर्ष में अध्यात्मविद्या का आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत होरहा है। इसप्रकार, स्वभाव से सुगम तथापि गुरुगम की लुप्तप्रायता के कारण और अनादि अज्ञान को लेकर अतिशय दुर्गम होगये जिनागम के गम्भीर आशय को यथारूप से स्पष्ट प्रगट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञान की बुझती हुई ज्योति को प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानों से परिपूर्ण है, किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि गुरुदेव के समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए प्रवचन-अंजन के बिना हम अल्पबुद्धियों को यह कैसे प्राप्त होता! पंचमकाल में श्रुतज्ञान की महान् दिग्गज वाले शासनप्रभावक गुरुदेव की वाणी

स्वामी ने आगम के रहस्यों को खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं होसकता।

जिसप्रकार गुरुदेव का प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवों का अपार उपकार कर रहा है, उसीप्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्यकाल के हजारों जीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने के लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषमकाल में जीव प्राय बन्धमार्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ के बिना-निश्चयनय के आश्रय के बिना मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं होता उस पुरुषार्थ की जीवों को गध भी नहीं आई है, किन्तु मात्र परावलम्बी भावों को-व्यवहाराभास के आश्रय को ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्बी पुरुषार्थ का उपदेश देने वाले ज्ञानी पुरुषों की दुर्लभता है एव समयसार परमागम का अभ्यास भी अति न्यून है, कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगम के बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसार के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ हीनवीर्य जीवों को अनादि अपरिचित होने के कारण, ज्ञानी पुरुषों के प्रत्यक्ष समागम के बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनों के बिना समझना अत्यंत कठिन है। श्री समयसारजी की प्राथमिक भूमिका की बातों को ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिका की कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थान के भावों को तेरहवें गुणस्थान का मान लेते हैं तथा निरालम्बी (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कथनमात्र की ही वस्तु है, इसप्रकार उसकी उपेक्षा करके सालम्बी (परावलम्बी) भावों के प्रति जो आग्रह है उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थिति में जबकि सम्यक्-उपदेष्टाओं की अधिकाश न्यूनता के कारण मोक्षमार्ग का प्राय लोप होगया है तब युगप्रधान सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने श्री समयसारजी के विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनों के द्वारा जिनागमों का मर्म खोलकर मोक्षमार्ग को अनावृत करके वीतराग दर्शन का पुनुरुद्धार किया है, मोक्ष के महामन्त्र समान

समयसारजी की प्रत्येक गाथा को पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रों के विराट अर्थ को प्रवचनरूप से प्रगट किया है। सभी ने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगों के अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवान के परमभक्त श्री कानजी स्वामी ने समयसारजी के अत्यन्त अर्थ-गम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीव के कैसे भाव रहें तब जीव-पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन, तथा कैसे भाव रहें तब नवतत्त्वों का भूतार्थ स्वरूप समझ में आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहें तब निरावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीतरागिक की प्राप्ति हुई कहलाती है-आदि विषयों का मनुष्य के जीवन में आने वाले सैकड़ों प्रसंगों के प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओं को उन-उन विषयों का स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर हो और वे बन्धमार्ग में मोक्षमार्ग की कल्पना को छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक्-पुरुषार्थ में लीन हो जायें। इसप्रकार श्री समयसारजी के मोक्षदायक भावों को अतिशय मधुर, नित्य-नवीन, वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषा में अत्यन्त स्पष्ट रूप से समझाकर जगत का अपार उपकार किया है। समयसार में भरे हुए अनमोल तत्त्व-रत्नों का मूल्य ज्ञानियों के हृदय में छुपा रहा था उसे उन्होंने जगत को बतलाया है।

किसी परम मंगलयोग में दिव्यध्वनि के नवनीतस्वरूप श्री समयसार परमागम की रचना हुई। इस रचना के पश्चात् एक हजार वर्ष में जगत के महाभाग्योदय से श्री समयसार के गहन तत्त्वों को विकसित करने वाली भगवती आत्मख्याति की रचना हुई और उसके उपरान्त एक हजार वर्ष पश्चात् जगत में पुनः महापुण्योदय से मन्दबुद्धियों को भी समयसार के मोक्षदायक तत्त्व ग्रहण कराने वाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवों की बुद्धि क्रमशः मन्द होती जाती है

तथापि पचमकाल के अन्ततक स्वानुभूति का मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिए स्वानुभूति के उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसार जी के गम्भीर आशय विशेप-विशेप स्पष्ट होने के लिये परमपवित्र योग वनते रहते हैं। अन्तर्वाह्य परमपवित्र रोगों में प्रगट हुए जगत के तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवन्त रहें। और स्वानुभूति के पथ को प्रकाशित करें।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अशत सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनों की वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजी स्वामी के चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप वह रहे हों। ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी अन्तर-वेदन को उग्ररूप से व्यक्त करती, शुद्धात्मा के प्रति अपार प्रेम से उभराती, हृदयस्पर्शी वाणी सुपात्र पाठक के हृदय को हर्षित कर देती है, और उसकी विपरीत रुचि को क्षीण करके शुद्धात्म रुचि जागृत करती है। प्रवचनों के प्रत्येक पृष्ठ में शुद्धात्म महिमा का अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गुंजित होरहा है, और प्रत्येक शब्द में से मधुर अनुभव-रस झर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरस से और अनुभवरस से मुमुक्षु का हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्मा की लय में मग्न होजाता है, शुद्धात्मा के अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणी में क्वचित् ही देखने में आती है।

इसप्रकार दिव्य तत्वज्ञान के गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्म रुचि को जाग्रत करके पुरुषार्थ का आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी दिखलाने वाले यह प्रवचन जैन साहित्य में अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुष से विलग हैं एवं

जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है ऐसे मुमुक्षुओं को यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थ को समझना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य होने पर भी उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रों के सर्व प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनों में आगया है, जैसे श्रुतामृत का परम आह्लादजनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचन ग्रन्थ हजारों प्रश्नों के सुलझाने के लिये महाकोष है। शुद्धात्मा की रुचि उत्पन्न करके, पर के प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करने की परम औषधि है। स्वानुभूति का सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के समस्त आत्मार्थियों के लिये यह अत्यन्त उपकारी है। परमपूज्य कानजी स्वामी ने इन अमृतसागर के समान प्रवचनों की भेंट देकर भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधा की प्राप्ति के इच्छुक जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्ष को नष्ट करने के लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भव में जीव का सर्वप्रथम यदि कोई कर्तव्य हो तो वह शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि के कराने में यह प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। हे मुमुक्षुओ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थ से इसमें भरे हुए भावों को भलीभाँति हृदय में उतारकर, शुद्धात्मा की रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को प्राप्त करो।

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख,
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़

अगहन बदी १२
वीर संवत २४७२

❀ नम समयसाराय ❀

समयसार प्रवचन

प्रथम भाग
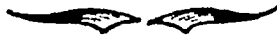
❀ मंगलाचरण ❀

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥

श्री पच-परमेष्ठि को नमस्कार !

प्रथम 'ॐ' शब्द है। जब आत्मा सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंत परमात्मा होते हैं, तब पूर्वबद्ध तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति के पुण्य प्रारब्ध के कारण दिव्य वाणी का योग होने से ओष्ठ बन्द होने पर भी आत्मा के सर्व प्रदेशो से ॐकार एकाक्षरी (अनक्षरी) दिव्य वाणी खिरती है। (उसे वचन-ईश्वरी अर्थात् वागेश्वरी कहा जाता है, वह शब्द ब्रह्मरूप है) अरहन्त भगवान सर्वथा अकषाय शुद्ध भाव से परिणमित हैं, इसलिए उनका निमित्त होने से वाणी भी एकाक्षरी हो जाती है। और वह वाणी ॐकार रूपमे विना ही इच्छा के खिरती है। इस प्रकार की ॐकार दिव्यध्वनि-सरस्वती के रूप में तीर्थंकर की वाणी सहज भावसे खिरती है।

+ ॐकारमय ध्वनि–तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना को सुननेवाला जीव अंतरंग से अपूर्व भावसे उल्लसित होकर स्वाभाविक 'हाँ' कहे कि मैं पूर्ण कृतकृत्य अविनाशी शुद्ध आत्मा हूँ ऐसा–इतना ही हूँ। ऐसी सहज हाँ कहनेवाला सुयोग्य जीव अविनाशी मंगल पर्यायको प्राप्त करता है। जो जीव नित्य स्वभाव–भावसे नित्य मंगल पर्याय से परिणमित हुआ है वह भव्य जीव नैगम नयसे परमार्थ का आश्रयवाला हो चुका है। पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ करके वह अल्प काल में ही उस पूर्ण पवित्र परमात्मदशा को प्रगट कर लेता है जो शक्ति रूपमें विद्यमान है।

यहाँ ॐकार से शुद्ध स्वरूपको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट आत्म स्वभाव पूर्ण वीतराग स्वभावमय शुद्ध सिद्ध दशा जिसे प्रकट हो गई है उसे पहचान कर नमस्कार करना सो व्यवहार भाव स्तुति है। उससे हटकर स्वरूप में लीन होना सो निश्चय भाव स्तुति है। परमात्मा को नमस्कार करनेवाला अपने भावसे अपने इष्ट स्वभाव को नमस्कार करता है वह उसीकी ओर झुक जाता है।

स्वाध्याय प्रारंभ करनेसे पूर्व भगवान की दिव्य वाणी के नमस्कार के रूपमें मंगलाचरण किया है।

स्वाध्याय का अर्थ है–स्व के सम्मुख आत्मा स्वभाव के अभ्यास में ही परिणमित होना। अधि–सन्मुख आय–युक्त होना। स्वरूप में युक्त होना सो स्वाध्याय है। जो पापको गाले और पवित्रता को प्राप्त करावे सो मंगल है। पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ स्वभाव प्रकट है ऐसे त्रिलोकी नाथ तीर्थंकरदेव की अखण्ड देशना को जो भव्य जीव अंतरंग में उतार कर अरिहन्त के द्रव्य–गुण–पर्यायको निश्चयसे जानकर, मैं भी

+ अ=अरिहन्त अ=अशरीरी सिद्ध परमात्मा आ=आचार्य उ=उपाध्याय म=मुनि अ+अ+आ+उ+म=ॐ (ओम्)

इस महामन्त्रमें पंचपरमेष्ठी एवं सर्व आत्मों का सार सर्वगुण सम्पन्न शुद्ध आत्मस्वरूप का भाव गर्भित है।

ऐसा ही हूँ' इस प्रकार पूर्ण स्वाधीन स्वभाव की दृष्टि से अभेदको लक्ष्य करता है, वह स्वयं अविनाशी मांगलिक होकर पुण्य–पाप उपाधिमय सर्व कर्मों का नाश करता है।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥ १ ॥

भावार्थ—ओम्‌कार वाचक है, उसका वाच्य भाव ओम्‌कार शुद्ध आत्मा है। उस शुद्ध आत्मस्वरूपकी पहिचान और रुचि परमात्म पद-रूप पूर्ण पवित्र इष्टको देनेवाली है। योगी पुरुष उस शुद्धात्मा का नित्य ध्यान करते है और उसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं। यदि किसी अंशमें दशा अपूर्ण हो तो स्वर्ग प्राप्त करके, फिर मनुष्य होकर, मोक्षको प्राप्त करते है। ऐसे 'ओम्' को वारम्वार नमस्कार हो !

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

भावार्थः—अविरल सवघरूप शब्द मेघ ऐसी एकाक्षरी 'ॐकार' दिव्यध्वनि की दिव्यधारारूपी तीर्थंकर भगवान की अखण्ड देशना, सद्‌-बोध सरस्वती उस सम्यग्ज्ञान को कहनेवाली है। वह कैसी है ? इस प्रश्न के उत्तरमे कहते है कि जैसे मेघ–वर्षा पृथ्वी के मैलको धो डालती है, उसी प्रकार वीतराग भगवान की दिव्यध्वनि रूपी सरस्वती को अखण्ड ज्ञानधारा के द्वारा ग्रहण करके भव्य जीवोने दोष–दुःखरूप मल–मैल–पापको धो डाला है, अशुद्ध परिणतिका नाश कर दिया है, जिसके तीर्थकी मुनिश्वरो द्वारा उपासना की गई है। ऐसी सरस्वती हमारे दोषो को हरो।

दूसरे मंगल में श्री गुरुदेवको नमस्कार किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

भावार्थः—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में अन्ध बने हुओं की आंखों को ज्ञानाञ्जन रूपी शलाका से खोल दिया है उन श्री गुरुदेवको नमस्कार करता हूँ।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रांति राग द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सत्पुण्य के देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टि के द्वारा असंग निर्मल ज्ञायक स्वभाव को जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागम का सार है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥

अर्थ—समयसार=शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थों में सार रूप है। सार=द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूपको पहचान कर भाव से नमस्कार करके अंत स्वरूप में झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूँ।

द्रव्यकर्म=रजकण सूक्ष्म धूल ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़ रूपी कर्म प्रकृति है।

भावकर्म = रागद्वेष विकाररूप विभावादिक शक्ति का परिणमन द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है वह अशुद्ध उपादान के आश्रित है किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव = अवस्था परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है यह भाव मूलरूप नहीं है—क्षणिक विकारी भाव है। कर्म=कार्य।

विभावरूप = शुभाशुभ कर्मभाव के रूपमे अशुद्ध–विकारी अवस्था।

नोकर्म = शरीर, इन्द्रिय इत्यादि स्थूल पुद्गल पिण्ड।

भावाय = सत्‌रूप, अस्तिरूप, अविनाशी वस्तु। जो 'है' वह पर निमित्त रहित, परके आधारसे रहित, त्रैकालिक, सहज स्वभावरूप, स्वाधीन पदार्थ है, परसे असयोगी वस्तु है। उसे सत् अर्थात् त्रिकाल स्थिर रहने वाला शुद्ध पदार्थ कहा गया है। उसका आदि अन्त नही है, वह स्वतत्र शुद्ध है। जो 'है' उसे नामरूप सज्ञा के द्वारा गुण गुणी अभेद स्वतत्र पदार्थ का लक्ष्य करके (वाचक शब्द से उसके वाच्य—पदार्थ को) ज्ञानने जाना है। त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायक स्वरूप असग निर्मल स्वभाव है। उसकी ज्ञान के द्वारा पहचान करके, परसे पृथक् सम्यग्ज्ञान के द्वारा समझ कर उसे नमस्कार करता हूँ।

पदार्थ किसी अपेक्षा से भावरूप है और किसी अपेक्षा से अभावरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा अपनेपन से भावरूप है, स्वद्रव्य, स्व–क्षेत्र, स्वकाल, स्वभावपन से है, और परकी अपेक्षा से नही है, अत उस अपेक्षा से अभावरूप है।

स्वाधीनपन से भावरूप होना अर्थात् परिणमन करना। साधक भावमे आशिक निर्मल पर्याय प्रकट हुई है, वह भावरूप है और पूर्ण नही खुली है, उतने अश मे अभावरूप है। नित्य द्रव्य स्वभाव से भावरूप है।

(द्रव्य=वस्तु) क्षणवर्ति पर्याय का व्यय होना सो अभावरूप है। (पर्याय=अवस्था) 'भावाय' शुद्ध सत्तास्वरूप शाश्वत वस्तु है। मैं सहज चिदानद त्रिकाल ज्ञायक हूँ, ऐसे असली स्वभावको भूलकर मैं रागी द्वेषी हूँ, क्षणिक कषाय वेगकी वृत्तिया ठीक है, पुण्यादिक देहादिमे सुख बुद्धि के द्वारा ठीक रहें, स्थिर रहें, ऐसी बहिरात्म दृष्टिवाले अपने स्वाधीन एकत्व विभक्त भावका अस्वीकार करते हैं, इसलिए वे नास्तिक हैं। जब आस्तिक्य गुणवाला स्वाधीन भाव से अविनाशी सहज स्वभाव की 'हाँ' कहता है, पूर्ण कृतकृत्य स्वभाव को अपने अनुभव मे निश्चय के

द्वारा स्वीकार करके इस प्रकार पर–भाव का निषेध करता है कि द्रव्य कर्म भावकर्म और नो कर्म मैं नहीं हूँ तथा असंयोगी अखण्ड ज्ञायक स्वभाव में एकत्व भावसे स्थिर होता है अर्थात् स्वभाव में परिणमन करता है ममता है या उस ओर ममता है तब नास्तिक मत रूप विपरीत दशा का (विकारी पर्याय का) अभाव हो जाता है।

चित्स्वभावाय=ज्ञान चेतना जिसका मुख्य गुण है उससे पूर्ण चैतन्य स्वभाव त्रिकाल स्वाधीन रूप है। जो है उसीको पहचानने से भेद विकल्प (राग) का लक्ष्य छूट जाता है इसलिए उस अखण्ड गुण में एकाग्र स्थिरता होनेपर शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है। ज्ञान चेतना की अनुभूति के द्वारा प्राप्त की प्राप्ति होती है। पर निमित्त रहित अन्तर में स्थिर स्वभाव में स्थिर होने से वह प्रकट होता है। बाह्य लक्ष्य से वह स्वरूप प्रकट नहीं होता। मैं अखण्डित चैतन्यरूप अपार अनन्त सामर्थ्य से पूर्ण हूँ। पर से भिन्न अकेला पूर्ण और स्वाधीन हूँ। इस प्रकार की श्रद्धा अंतरग एकाग्रता से प्रकट होती है। अपना गुण किसी बाह्य निमित्त से नहीं आता किन्तु अपने स्वभाव में से ही प्रकट होता है।

अधूरी अवस्था समस्त द्रव्य को एक ही साथ प्रत्यक्ष लक्ष्य में नहीं ले सकती किन्तु अपने त्रैकालिक अखण्ड द्रव्य को पहचानने के लिए गुण–गुणी में व्यवहार दृष्टि से भेद करके अभेद के लक्ष्य से प्रत्येक गुण को लक्ष्य में लेकर निर्णय किया जासकता है। उससे कहीं वस्तुस्वभाव में सर्वथा भेद नहीं होता। वर्तमान मति–श्रुतज्ञान से त्रैकालिक पूर्ण आत्मस्वभाव का स्वाधीनतया निर्णय किया जा सकता है। यह असली स्वभाव क्योंकर प्रकट होता है ? 'स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपने ही अनुभव से प्रकट होता है। पर से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनन्त ज्ञानी सवज्ञदेवने जैसा निर्णय किया है वैसा ही निश्चय करने से स्वाधीन अनुभूति रूप शुद्ध निर्मल अवस्था अन्तरंग परिणतिरूप ज्ञानक्रिया के द्वारा प्रकट होती है। उससे शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्ध स्वभाव दशा प्रकट होती है। (अतरग स्थिति

के लिए आभ्यंतर ज्ञान क्रिया में सक्रिय है और पर से अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भाव से, राग (विकल्प) से अविकारी स्वभाव प्रकट नहीं होता।

निश्चय से अर्थात् यथार्थ दृष्टि से स्वयं निज को अपने से ही जानता है, उसमे किसी निमित्त का आधार नही है। अपनी सहज शक्ति से ही स्वयं परिणमन करता है, जानता है और प्रकट प्रकाश करता है। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ता के भान मे स्वयं प्रत्यक्ष है, परोक्ष नही। अज्ञानी भी निजको ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूप से मानता है। वास्तव में तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्मअभिप्राय पराश्रित है वे मानते हैं कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्त का साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूँ, यो मानने वाले निज को ही नही मानते। और फिर कोई यह माने कि पहले भव का स्मरण हो तो जान सकूँ, वर्तमान सीधी बात को मैं नही जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञान स्वरूप का लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमान में ज्ञान की निर्मलता मे स्पष्ट ज्ञात होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहले का भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि तू अभी जाग और उन्हें देख। अनन्त ज्ञान दर्शन सुख और अनन्त बल स्वरूप धर्म तो आत्मा के स्वभाव में ही है, किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थ से त्रिकाल स्वभाव को जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थ के लिए पूर्व भवका स्मरण तथा किसी निमित्त के आधार पर ज्ञान धर्म होता हो तो एक गुण के लिए दूसरे पर गुण का आधार तथा अन्य पर पदार्थ का आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस परंपरा से पराश्रितपन का बहुत बडा दोष आता है। पराश्रित सत्ता को नित्य स्वभाव नही माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नही हैं। वे त्रिकाल एक रूप हैं। अवस्था में शक्ति-व्यक्ति का भेद है, किन्तु

वस्तु में–गुण में खण्ड–भेद नहीं है। गुणी के आधार से त्रिकाल गुण साथ ही रहते हैं। वस्तु त्रिकाल एकरूप ही है। उसे वर्तमान निर्मलता से पुरुषार्थ से स्वानुभव से प्रत्यक्षतया जाना जा सकता है। अपने आधार से स्वयं निज को ही जानता है इसलिये प्रत्यक्ष है।

सर्वभावान्तरच्छिदे–अपने को तथा समस्त जीव–अजीव चराचर विश्व में स्थित त्रैकालिक सर्व वस्तुओं को एक ही साथ जानने की स्वाधीन शक्ति प्रत्येक जीव में है। ऐसा अतत्स्वरूप समयसार आत्मा है। उसे पहचानकर नमस्कार करता हूँ। ऐसा इतना पूर्णस्वभाववान ही आत्मा है। उसकी ही कहनेवाला ज्ञायक स्वयं अकेला महिमावान है बड़ा है पूर्ण स्वभाव में त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है। अनन्त अपार के ज्ञाता तथा अपार और अनन्तता को ध्यान में लेनेवाले की धैर्यी (ज्ञान–समझरूपी धैर्यी) भाव दृष्टि से (गम्भीरतामें) अमाप है अनन्त गम्भीर भावयुक्त है। इसप्रकार का भाव करनेवाला स्वयं ही शक्ति रूप में पूर्ण परमात्मस्वरूप सर्वज्ञ स्वभाव को पहचानकर नमस्कार करनेवाला स्वयं ही परमात्मा है। वह शुद्ध साध्य के लक्ष्य से प्रकट परमात्मा हो जाता है। जिसका बहुमान है रुचि है वह उस रूप हो जाता है।

पूर्ण स्वाधीन स्वरूप की प्रतीति के बिना परमात्मा की भक्ति नहीं हो सकती। परमात्मा की पहचान के बिना राग का–विकारका–संसार–पक्ष का बहुमान करेगा। स्वरूप की प्रतीति वाला निःशंकतया पूर्ण को (साध्यको) नमस्कार करता हुआ अखण्डता से अखण्ड सत् के बहुमान द्वारा पूर्ण को प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक आत्मा में एक समय में तीन काल और तीन लोक को जानने की शक्ति विद्यमान है। ऐसे आत्मा अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न अकेला पूर्ण सर्वज्ञ है। त्रैकालिक द्रव्य, क्षेत्र काल भावमय अनन्त पदार्थ को सर्वरीत्या जानने की शक्ति प्रत्येक जीव द्रव्य में विद्यमान है। प्रत्येक समय में तीनोंकाल और तीनोंलोक केवलज्ञान में सहज दिखाई देते हैं। अनन्त के वाच्यरूप भाव को भव्य जीव श्रवण करके एक क्षण भर में

अनन्त का विचार कर लेते हैं। अनन्त ज्ञान की शक्ति और सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहने वाले समस्त जीव शक्तित: सर्वज्ञ है। ना कहने-वाला नास्तिक भी शक्तित. सर्वज्ञ है। ना कहने वाला भी अपार अनत को ध्यान में लेने वाला तो है ही, इसलिए ना कहने पर भी उसमें हाँ गर्भित है। अत प्रत्येक देहधारी आत्मा पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ ही है। निश्चय से मैं पूर्ण अखण्ड आनदघन त्रिकाल हूँ, सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार स्वत हाँ कहकर 'सर्वोत्कृष्ट' अनुपम स्वभाव को पहचान कर अपनी अपूर्व महिमा को प्राप्त करके अपने को देखने वाला अपूर्व महिमा को लाकर नम्रीभूत होता हुआ वह वैसा ही है। पूर्ण स्वभाव को माना—जाना और उसमें नत होता हुआ, वह श्रद्धा से पूर्ण ही है। वह बीचमें पुरुषार्थ के काल के अन्तर को भाव से पृथक् कर देता है। और पूर्ण परमात्मा को देखता हुआ पूर्ण स्वभाव की महिमा को गाता है। वह ससार की महिमा को नही देखता। बाह्य इन्द्रियो के आधीन बाह्य दृष्टि करने वाला, अपने को भूलकर दूसरे के बडप्पन को आंकता है। किंतु पूर्ण शक्ति को बताने वाली जो दिव्य दृष्टि है, उस पर वह विश्वास नही ला सकता और वर्तमान को ही मानता है।

अधूरी दशा होने पर भी मेरे मे शक्ति की अपेक्षा से तीनकाल और तीनलोक को जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। यद्यपि वह सीधा दिखाई नहीं देता तथापि उसका यथार्थ निर्णय निज से हो सकता है। जिस में तीनकाल और तीनलोक एक ही समय मे दिखाई देते हैं, ऐसे अपने त्रैकालिक ज्ञान को ही मै जानता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभाव की 'हाँ' कहनेवाला वर्तमान अपूर्ण ज्ञान से सम्पूर्ण का निर्णय नि सदेह तत्त्व मे से लाता है।

मैं पर को जानूँ तभी मैं बडा हूँ, यह बात नही है, किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्तज्ञान ऐश्वर्य के रूप में होने से मैं पूर्ण ज्ञानघन आत्मा हूँ। इस प्रकार पूर्ण साध्य का निश्चय करके उसी मे एकत्व—विभक्त, भिन्न एकाकार (पर से भिन्न, अपने से अभिन्न) परिणति को

युक्त करके 'आत्म ख्याति टीका' के द्वारा प्रथम मंगलाचरण किया है।

पूर्ण उत्कृष्ट आत्मशक्ति को जानकर जो निश्चय से नमता है वही अपनी शुद्ध परिणतिरूप होकर स्वाधीन स्वभावरूपसे नत हुआ है। वही परमात्मा का भक्त है। प्रतीति हीन जीव ही राग के प्रति नत होता है।

भूत भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय सहित अनंत गुण युक्त समस्त जीव-अजीवादि पदार्थोंको एक समय में एक ही साथ प्रगट रूप से जाननेवाला शुद्ध आत्मा ही सार रूप है। उसको मेरा नमस्कार हो। शुद्ध स्वभाव में तन्मय अस्तित्वरूप परिणमित हुआ और नत हुआ इसलिए असारभूत संसार के रूप में नहीं हुआ। अब राग-द्वेष रूप संसार का आदर कभी नहीं करूंगा इस प्रकार की सौगन्ध विधि सहित भाव वन्दना की है।

सर्वज्ञ वीतराग स्वरूप शुद्ध आत्मा इष्ट है उपादेय है। उसी की श्रद्धा रुचि और प्रतीति के द्वारा सर्वज्ञ के न्याय से जिसने त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव को स्वीकार किया वह सर्व पदार्थ त्रिकाल की अवस्था को प्रतीति के द्वारा जानने वाला हुआ। अब यदि वह उसी भाव से स्थिर रहे तो उसे रागद्वेष हर्ष-शोक उत्पन्न न हो। मैं जाननेवाला ही हूँ' इस भाव से यथार्थ और प्रसन्नता नहीं होती। जैसे सुन्दर रूप वाली अवस्था को लिये हुए आम (आम नाम का पुद्गल पिण्ड) पहले विष्ठा के खाद में से उत्पन्न होकर वर्तमान क्षणिक अवस्था में सुन्दर दिखाई देता है। स्मरण रहे कि वह पुनः विष्टारूप परिणमित होने वाला है। इस प्रकार त्रिकाल की अवस्था को देखने वाले को सुन्दर असुन्दर दिखाई देने वाले किसी भी पदार्थ के प्रति राग-द्वेष या हर्ष-विषाद नहीं होता और इस प्रकार किसी के प्रति मोह नहीं होता। नारकी के शरीर को छोड़कर बहुत बड़ी महारानी के पद पर उत्पन्न हुआ जीव पुनः नरक में उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पुद्गल की विचित्रता को देखने वाले को त्रिकाल लगातार जानने वाले को राग-द्वेष अथवा मोहरूप में अटकना नहीं होता। देहादिक पर्याय-

मय–दुःखमय क्षणिक अवस्था वाले पदार्थ वर्तमान मे कदाचित् पुण्य वाले, सुन्दर रूप वाले दिखाई दे अथवा कुरूप या रोगरूप दिखाई दें तो भी उनमें मोह नही करता। क्योकि त्रिकाल के ज्ञान को जानने वाला वह वीतरागदृष्टि है और वह सर्वज्ञदृष्टि धर्मात्मा है।

प्रश्नः—यहाँ इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यो नही किया ? और शुद्ध आत्मा को क्यो नमस्कार किया है ?

उत्तर—आत्मा अनेकान्त धर्म स्वरूप है। उसे पहचानने वाला अनेक अपेक्षित धर्मों को जानकर (समझकर) उसे गुण–वाचक इत्यादि चाहे जिस नामसे सम्बोधित करता है।

जैनधर्म रागद्वेष, अज्ञान को जीतने वाला आत्मस्वभाव है। इस प्रकार शुद्धस्वभाव को मानने वाला धर्मात्मा जहाँ देखता है वहाँ गुणको ही देखता है, गुण को ही प्रधानता देता है व्यक्ति को नही। जैसे पचपरमेष्ठी में पहले णमो अरिहताण कहकर गुण–वाचक पद की ही वन्दना की है। 'णमो महावीराण' इस प्रकार एक नाम लेकर किसी व्यक्ति विशेष की वन्दना नही की है। वह जो जैसा होता है, उस व्यक्ति को वैसा ही जानता है। व्यक्ति भेद करने पर राग होता है। इसलिए गुण–पूजा प्रधान है। धर्मात्मा किसी एक भगवान का नाम लेकर भी वन्दना करता है, किन्तु धर्मात्मा का लक्ष्य तो गुणी के गुणो के प्रति ही होता है। व्यक्ति विशेष के प्रति नही होता। इसलिए गुण–पूजा प्रधान है।

ब्रह्मा=अपने सहज आनन्द गुण को ब्रह्म (ज्ञानस्वरूप आत्मा) भोगता है अथवा ब्रह्मा=स्रष्टा, अपनी स्वाधीन सुखमय अवस्थाको उत्पन्न करने वाला। प्रत्येक समय नयी नयी पर्याय को उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्व स्वभाव परिणमन रूप सृष्टि का कर्त्ता जीव है। इस दृष्टि से प्रत्येक जीव स्वय स्वतत्र ब्रह्मा है।

विष्णु=रागद्वेष मोहरूप विकार से रहित अपने शुद्ध स्वभाव को स्थिर रखने वाला अथवा विभाव से निज को बचाने वाला और निज गुण

की रक्षा करने वाला विष्णु है। प्रत्येक समय अपने अनन्त गुण की शक्ति की सत्ता से भिन्न ध्रुव शक्ति (सहज अंश) को लगातार स्थिर रखने के कारण प्रत्येक आत्मा स्वभाव से विष्णु है।

महेश=जो राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है अथवा पूर्ववर्ती क्षणिक पर्याय का नाश करता है वह महेश है। जो अनुपम है अर्थात् जिसे किसी और की उपमा नहीं दी जा सकती, जो स्वयं ही समस्त पदार्थों को जानने वाला है और ज्ञान के द्वारा माप करने वाला तथा अपार ज्ञान एवं ऐश्वर्य वाला है इसलिए वह अनुपमेय है। तथापि कथन में वह सिद्ध परमात्मा के समान कहा जा सकता है। जैसे शुद्ध आत्मा कैसा है? जो शुद्ध बुद्ध मुक्त प्रगट सिद्ध परमात्मा हुए हैं वैसा है। वैसा है वैसा (शाश्वत् टंकोत्कीर्ण) पर सत्ता से भिन्न स्वसत्ता में निश्चल है।

पुरुष=जो अखंड ज्ञान दर्शन उपयोगमें एकत्व मानता और जानता हुआ उपयोग पूर्वक स्वरूप में एकाकार होकर पूर्ण पवित्र दशा को प्राप्त करके उत्कृष्ट आनन्द रस रूपी शिव रमणी के साथ रमण करता है तथा शुद्ध चेतना सखी के साथ निराकुलता सहित निजानन्द पूर्वक केलि करता है वह पुरुष है।— —

पुरुष=आत्मा।

सत्य आत्मा=अपने पूर्ण स्वरूप को पहिचानने वाला तथा शुद्ध स्वरूप में सुनिश्चित भाव से रहने वाला स्थिर होने वाला एवं पर मात्मदशा को प्राप्त सत्य आत्मा है और रागद्वेष अज्ञान भाव को प्राप्त मूढ़ आत्मा मिथ्यादृष्टि है अमात्मा है।

अरहंत=पूज्य=त्रिकाल के इन्द्रों के द्वारा पूजाके योग्य त्रिलोक पूज्य हैं तीनों लोकों में सब के लिये वन्दनीय हैं सभी गुण निर्मल प्रगट हो गये हैं और जिनमें परम पूज्य गुण की मुख्यता प्रगट है वे पूज्य हैं।

जिन=रागद्वेष और अज्ञान को स्वरूप की स्थिरता के द्वारा जीत लिया है ऐसे पूर्ण पवित्र वीतराग को जिन कहते हैं।

आप्त=अठारह दोषो से रहित परम हितोपदेशक सर्वज्ञ आप्त है।

भगवान्=महिमावान्। सहज आनद=पर निमित्त से रहित निरुपाधिक स्वाभाविक आनन्द।

हरि=जो अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति से मिथ्यात्व और पुण्य-पाप के रोग को हर लेता है सो हरि है। जो पराधीनता का, रागादि मल का, कर्म कलक का नाश करके पूर्ण पवित्र स्वाधीनता प्रगट करता है, पुण्य-पाप की उपाधि को हरता है और पवित्रता को प्राप्त करता है, वह हरि है। इस प्रकार जो जो गुण निष्पन्न नाम हैं, उन गुणो को लक्ष्य में रखकर उस अपेक्षा से आत्मा का कथन करने मे कोई विरोध नही है (एकान्त पक्ष वाले को नामादि मे विरोध होता है।) यदि कोई 'पापी' नाम रखे तो पापी अर्थात् पा+पी=दूसरे को सत्बोधरूपी धर्म अथवा अमृतरूपी उपदेश को पिलाने वाला और स्वय पीने वाला अर्थात् स्वय अपने ही सहज समता आनन्द गुण को धारण करने वाला सिद्ध हुआ। इस प्रकार गुण की दृष्टि को ही मुख्य करने वाले, अनेक अपेक्षाओ को समझने वाले अर्थात् इस प्रकार विशाल बुद्धि द्वारा सम्यक् अपेक्षारूप स्याद्वाद से वस्तु स्वभाव को समझने वाले का राग-द्वेष विलीन हो जाता है।

इस समयसार में आत्मा की शुद्धि का अधिकार है।

आत्मा देहादि-रागादि से पृथक् है। जबतक आत्मा ऐसी वास्तविकता को नही जानता तबतक मोह कम नही होता। जब यथार्थता जानी जाती है, तभी अन्तरग से पर पदार्थ की महिमा दूर होती है और निज का माहात्म्य प्रगट होता है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को जैसा देखा, वैसा ही आत्मस्वभाव इस समयसार शास्त्र मे वर्णित है।

दूसरे कलश का प्रारभ

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकांतमयी मूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अर्थ—जिसमें अनेक अंत–धर्म हैं ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस मई मूर्ति नित्य सदा ही प्रकाशता अर्थात् प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं ऐसा और प्रत्येक–परद्रव्यों से पर द्रव्य के गुण पर्यायों से भिन्न तथा पर द्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को अर्थात् असाधारण सजातीय–विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निज स्वरूप को पश्यती–अवलोकन करती (देखती) है।

यहाँ पर सरस्वती को नमस्कार किया है। वह कैसी है—अनन्त धर्मणस्तत्त्व पश्यन्ती। उसमें कहा है कि प्रत्येक पदार्थ सद् है। उसके स्वभावरूप अनन्त धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं। ऐसे सब पदार्थों के स्वरूप को सरस्वतीरूप सम्यग्ज्ञान यथार्थ प्रकाशित करता है। आत्मा में अनन्त धर्म स्वाधीनतया भरे हुए हैं। वे आत्मा की पहिचान और स्थिरताके द्वारा आत्मा से प्रगट होते हैं।

कोई कहता है— अभी यह समझ में नहीं आ सकता किन्तु आत्मा कब नहीं है? देह इन्द्रियादिक तो कोई जानता नहीं है। जो जानता है वही स्वयं है इसलिये अवश्य समझा जा सकता है। अपने को सर्वज्ञ के न्यायानुसार जाने तो उसमें स्थिर हो और अतीन्द्रिय आनन्द आवे।

अनन्तगुण=अपार गुण। प्रत्येक जड़–चेतन पदार्थ में स्वतन्त्रतया अनन्त धर्म हैं। देह मंदिर में भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञान आनन्द स्वरूप में अनन्त गुणरूप तत्त्व है उसे पहिचान कर स्थिरता करे तो शुद्धस्वरूप प्रगट हो। इसका नाम है धर्म।

सर्वज्ञ भगवानने आत्मा पुद्गल धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय काल और आकाश इन प्रत्येक में शाश्वत् अनन्त गुण देखे हैं। किसी के गुण किसी के आधीन नहीं हैं। पर–वस्तु किसी के लिए मददगार नहीं है इसलिए वस्तु अर्थात् पदार्थ के कोई गुण किसी के आधीन नहीं होते।

कुछ गुणों का कथन

[१] प्रत्येक पदार्थ मे सत् [अस्तित्व] गुण अनादि अनन्त हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तु नाश रहित है अपनी अपेक्षा मे सत् है, किसी के आधीन नही है। यह समझने से स्वाधीन सुखरूप धर्म अपने आपसे प्रगट होजाता है। इस प्रकार पर से भिन्न ज्ञान हो जाये तो अपने सुख को स्वत. प्राप्त करले।

[२] प्रत्येक पदार्थ मे वस्तुत्व नाम का गुण है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप प्रयोजनभूत क्रिया स्वय ही कर सकता है। इसलिये अन्य कर्त्ता की उसकी क्रिया मे अपेक्षा नही है। आत्मा पर से भिन्न है। और मन, वाणी, देहादि सर्व सयोग आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। इस लिए आत्मधर्म मे किसी अन्य पदार्थकी सहायताकी आवश्यकता नही है।

(यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात मेरी समझमे नही आती, तब उसे अनन्त काल मे जो महा दुर्लभ मनुष्य भव मिला वह किस काम का। आत्म प्रतीति के बिना जगत् मे अनन्त कुत्ते बिल्ली कीडे-मकोडे उत्पन्न होते है और मरते हैं उनका क्या महत्त्व है। इसी प्रकार अनन्त काल मे अनन्त प्रकार से महान् दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त करके अपूर्व आत्मस्वभाव को सत्समागम के द्वारा न जाना तो उसकी कोई कीमत नही है। और यदि पात्रता के द्वारा आत्मस्वभाव को जान ले तो उसकी महिमा अपार है।)

वस्तुत्वगुण का अर्थ प्रयोजनभूत अपनी क्रिया का करना है। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रवृत्ति अपने आप करती है, तदनुसार आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा करता है। जड-परमाणु इत्यादि अपनी क्रिया अपने आप करते हैं, उसमे किसी की सहायता नही होती। इसलिए देह की क्रिया जीव की सहायता के बिना देह स्वतन्त्रतया करती है। देहकी क्रिया देहमें रहने वाला प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्रतया करता है। उसमे आत्मा कारण नही है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया आत्मा और जड़

देहादि की क्रिया जड़ करता है किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ। यह कर्तृत्व का अज्ञान है। पर वस्तु की क्रिया तीन काल और तीन लोक में कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[३] प्रत्येक पदार्थ में प्रमेयत्व अर्थात् किसी भी ज्ञानका विषय होना विद्यमान है। उसमें बताने की योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेय का अर्थ है—ज्ञान में किसी न किसी ज्ञान में ज्ञात होने योग्यपना—अपने को बताने की योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्न:—क्या यह आँखों से दिखाई देता है?

उत्तर:—नहीं, यह ज्ञान के द्वारा ही दिखाई देता है—ज्ञात होता है। आँखें तो अनन्त रजकण का पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूँ। किन्तु उसे जानने वाला असंग रहकर जानता रहता है। ज्ञान के द्वारा ठण्डा—गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञान में जानने की क्रिया करता है। उस ज्ञान की क्रिया में ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपने को जानता है। और ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि पर उसमें भिन्न रूप से ज्ञात होता है। यह प्रत्येक आत्मा का गुण है। स्वयं अपने को ज्ञेय बनाने पर सब धर्म समझ में आजाते हैं।

इस देह में रहने वाला आत्मा देह से भिन्न है। यदि यह न जाने तो अंतरंग में पृथक्त्व के ज्ञान का कार्य जो शान्ति है वह न हो किन्तु अज्ञान का कार्य जो अशान्ति है जिसे जीव अनादि काल से कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्माका त्रिकाल ज्ञान स्वभाव है। उसमें अनन्त पदार्थों को युगपत् जानने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादि से देह इन्द्रियों में दृष्टिपात करके अपने को भूलकर राग के द्वारा पर को जानता रहता है। दृष्टिपात करने वाला तो स्वयं है किन्तु दोष दूसरे को घुकाता है। अपने भीतर अनन्त गुण का मूलधन किस प्रकार विद्यमान है यह तो नहीं जानता किन्तु यह बराबर जानता

है कि घर पर नलियाँ, खिडकियाँ, दरवाजे कितने हैं और कैसे हैं। इसी प्रकार सबको जानने वाला यह नही जानता कि वह स्वय कैसा है। देह, इन्द्रियाँ स्वय कुछ नही जानती, किन्तु वे चैतन्य पदार्थ के ज्ञान मे ज्ञेयरूप हैं। जड नही जानता, क्योकि उसमे ज्ञान नही है, किन्तु वह ज्ञेय है।

(४) चौथा गुण है प्रदेशत्व।

प्रत्येक पदार्थ सदा अपने आकारवाला होता है पर क्षेत्र के सम्बन्ध से रहित अपने स्वक्षेत्र मे स्वगुणरूप प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल अपने स्वरूप मे है। *कोई पदार्थ असख्य प्रदेशी है। कालाणु और परमाणु एक प्रदेशी हैं। बहुत से परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होनेपर सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशी हो जाते हैं।

(५) चैतन्य—आत्मा का जानने देखने रूप गुण है।

देह के किसी भाग में किसी वस्तु का सयोग होने पर आत्मा उसे चेतना गुणके द्वारा जान लेता है। देह जड मे ज्ञातृत्व शक्ति नही है, क्योकि जड में सुख दुःख का अनुभव नही होता। चैतन्यघन आत्मा देह से भिन्न देहाकार है। वह स्वय स्व आकारवाला है। रूप, रस, गध स्पर्श आदि को जानने वाला आत्मा है। जबतक वह स्व और पर का यथार्थ स्वरूप नही जानता, तबतक उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहलाता।

निरजन=रागद्वेष और रूप रहित।

निराकार=जड पुद्गल के आकार से रहित। आत्मा निरजन निराकार है। वह शरीर के समस्त भाग मे विद्यमान है। अपने अनन्त गुणो का पिण्ड है तथा देहाकार और देह से भिन्न है।

---

* प्रत्येक जीव, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी है। वह उनके स्वक्षेत्र—प्रदेशमय आकार है।

देहादि की क्रिया जड़ करता है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूं। यह कर्तृत्व का अज्ञान है। पर वस्तु की क्रिया तीन काल और तीन लोक में कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[१] प्रत्येक पदार्थ में प्रमेयत्व 'अर्थात् किसी भी ज्ञानका विषय होना विद्यमान है। उसमें बताने की योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेय का अर्थ है—ज्ञान में किसी न किसी ज्ञान में ज्ञात होने योग्यपना—अपने को बताने की योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्न:—क्या वह आँखों से दिखाई देता है?

उत्तर:—नहीं, वह ज्ञान के द्वारा ही दिखाई देता है—ज्ञात होता है। आँखें तो अनन्त रजकण का पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूं। किन्तु उसे जानने वाला अलग रहकर जानता रहता है। ज्ञान के द्वारा ठंडा-गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञान में जानने की क्रिया करता है। उस ज्ञान की क्रिया में ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपने को जानता है। और ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि पर उसमें भिन्न रूप से ज्ञात होता है। वह प्रत्येक आत्मा का गुण है। स्वय अपने को ज्ञेय बनाने पर सब धर्म समझ में आजाते हैं।

इस देह में रहने वाला आत्मा देह से भिन्न है। यदि यह न जाने तो अंतरंग मे पृथक्त्व के ज्ञान का कार्य जो शान्ति है वह न हो किन्तु अज्ञान का कार्य जो अशान्ति है जिसे जीव अनादि काल से कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्माका त्रिकाल ज्ञान स्वभाव है। उसमें अनन्त पदार्थ को युगपत् जानने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादि से देह-इन्द्रियों में दृष्टिपात करके अपने को भूलकर राग के द्वारा पर को जानता रहता है। दृष्टिपात करने वाला तो स्वयं है किन्तु दोष दूसरे को चुकाता है। अपने भीतर अनन्त गुण का भुवन किस प्रकार विद्यमान है यह तो नहीं जानता किन्तु यह बराबर जानता

है कि घर पर नलियाँ, खिडकियाँ, दरवाजे कितने हैं और कैसे है । इसी प्रकार सबको जानने वाला यह नही जानता कि वह स्वय कैसा है । देह, इन्द्रियाँ स्वय कुछ नही जानती, किन्तु वे चैतन्य पदार्थ के ज्ञान मे ज्ञेयरूप हैं । जड नही जानता, क्योकि उसमे ज्ञान नही है, किन्तु वह ज्ञेय है ।

(४) चौथा गुण है प्रदेशत्व ।

प्रत्येक पदार्थ सदा अपने आकारवाला होता है पर क्षेत्र के सम्बन्ध से रहित अपने स्वक्षेत्र मे स्वगुणरूप प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल अपने स्वरूप मे है । *कोई पदार्थ असख्य प्रदेशी है । कालाणु और परमाणु एक प्रदेशी हैं । बहुत से परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होनेपर सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशी हो जाते हैं ।

(५) चैतन्य–आत्मा का जानने देखने रूप गुण है ।

देह के किसी भाग मे किसी वस्तु का सयोग होने पर आत्मा उसे चेतना गुणके द्वारा जान लेता है । देह जड मे ज्ञातृत्व शक्ति नही है, क्योकि जड मे सुख दु ख का अनुभव नही होता । चैतन्यघन आत्मा देह से भिन्न देहाकार है । वह स्वय स्व आकारवाला है । रूप, रस, गध स्पर्श आदि को जानने वाला आत्मा है । जबतक वह स्व और पर का यथार्थ स्वरूप नही जानता, तबतक उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहलाता ।

निरजन=रागद्वेष और रूप रहित ।

निराकार=जड पुद्गल के आकार से रहित । आत्मा निरजन निराकार है । वह शरीर के समस्त भाग मे विद्यमान है । अपने अनन्त गुणों का पिण्ड है तथा देहाकार और देह से भिन्न है ।

---

* प्रत्येक जीव, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी है । वह उनके स्वक्षेत्र–प्रदेशमय आकार है ।

(६) अचेतनत्व —आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन पदार्थ हैं। उसका गुण अचेतनत्व (जड़ता) है।

(७) मूर्तिकत्व—स्पर्श रस गंध और वर्ण पुद्गल के गुण हैं। पुद्गल में रूपित्व (मूर्तिकत्व) है। उसके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ अरूपी (अमूर्तिक) हैं।

(८) अमूर्तिकत्व=स्पर्श रस गंध वर्ण रहित।

उन उन गुणों में समय समय पर परिणमन होना सो पर्याय है जो कि अनन्त हैं।

(९) प्रत्येक वस्तु में एकत्व है। अपना अपना समस्त स्वभाव अर्थात् गुण वस्तुरूप में एक है इसलिए एकत्व है।

(१०) अनंतगुण के लक्षण संख्यादि भेद से देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु में अनेकत्व भी है।

(११) वस्तु में त्रिकाल स्थिर रहने की अपेक्षा से नित्यत्व भी है।

(१२) प्रतिक्षण अवस्था का बदलना और नई अवस्था का उत्पन्न होना इस प्रकार का अनित्यत्व भी है।

यह जानने की इसलिये आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है त्रिकाल में पर से भिन्नरूप है। यदि ऐसा न माना जाये तो राग-द्वेष और अज्ञान को दूर करके स्वभाव को नहीं पहचाना जा सकता।

(१३) भेदत्व प्रत्येक वस्तु में है। वस्तु अनन्त गुण स्वरूप से अभिन्न है। तथापि गुण-गुणी के भेद से नाम संख्या लक्षण प्रयोजन से भेद है। जैसे गुड़ नाम का पदार्थ है उसमें मिठास, गंध वर्ण इत्यादि अनेक गुण हैं उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। उसमें ज्ञान दर्शन इत्यादि अनन्त गुण हैं। गुण-गुणी के नाम से जो भेद होता है सो संज्ञाभेद है। गुणों की संख्या अनन्त है और आत्मा एक है यह संख्याभेद है।

लक्षण भेद

आत्मा का लक्षण चैतन्य आदि गुणो का धारण करना है। ज्ञान गुण का लक्षण स्वपर को जानना है। चारित्र गुण का लक्षण स्थिर होना है। श्रद्धा गुण का लक्षण प्रतीति करना है।

इस प्रकार गुण-गुणी में लक्षण भेद है।

(१४) 'अभेदत्व'-सभी गुण एक वस्तुरूप हैं, इसलिए अभेदत्व है।

अपने स्वाधीन स्वभाव को समझने की यह वात है। समझ के साथ सव सरल है और विना समझे सव मुश्किल है। अन्धकार को दूर करने के लिए मूसल अथवा सूपा की आवश्यकता नही होती, किन्तु प्रकाश की ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार अनत काल का अज्ञान दूर करने के लिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। जैसे अधकार मे देखने पर कोयला, सोना, कपडा इत्यादि तमाम वस्तुएँ एकसी दिखाई देती है और यदि प्रकाश लेकर देखा जाये तो वे जैसी भिन्न भिन्न हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसी प्रकार देह, मन, वाणी को राग-द्वेष से देखने पर अज्ञान के कारण सव एक सी दिखाई देती हैं। रागादि तथा देहादि के साथ आत्मा एक सा दिखाई देता है। उसे सम्यग्ज्ञान से देखने पर वह पृथक् दिखाई देता है। यथार्थ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय करे तो शुद्ध स्वरूप का भान नही होता, इसलिए सच्चे ज्ञान के द्वारा अनेक अपेक्षाओ से अनेक धर्मों को वरावर समझना चाहिए।

(१५) शुद्धत्व-द्रव्यदृष्टि से स्वभाव की अपेक्षा से जीव के शुद्धत्व है। वर्तमान में पाई जाने वाली प्रत्येक अवस्था मे अशुद्धता का अश है। उसे देखने की दृष्टि को गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा का स्वभाव शुद्ध ही है। शुद्ध-अशुद्ध दोनो धर्म एक आत्मा मे एक ही साथ विद्यमान हैं। जैसे पानी स्वभाव से शीतल है, किन्तु वर्तमान अग्नि के निमित्त से उष्ण अवस्था होने पर

भी वर्तमान निमित्ताधीन उष्ण अवस्था को न देखकर त्रैकालिक शीतल स्वभाव को देखें, तो बस स्वभाव से शीतल ही है। इसी प्रकार द्रव्यदृष्टि से आत्मा में सदा शुद्धत्व ही है।

(१६) अशुद्धत्व—काम-क्रोध मोह की वृत्ति वर्तमान अवस्था में क्षणिक है। उस (अशुद्धि) का नाश हो सकता है और स्वभाव में जो निर्मलतादिरूप से अनन्त गुण हैं वे रह सकते हैं। वर्तमान अशुद्ध अवस्था भी है और द्रव्य स्वभाव में पूर्ण शुद्धता भी है। इन दोनों पहलुओं को जानना चाहिए। यदि आत्मा वर्तमान अवस्था में भी शुद्ध ही हो तो समझ और पुरुषार्थ करके अशुद्धता को दूर करने का प्रयोजन न रहे।

ऊपर कुछ धर्म कहे गये हैं। उनमें से सामान्य धर्म तो वचन द्वारा कहे जा सकते हैं और कुछ ऐसे भी धर्म हैं जो वचन से नहीं कहे जा सकते किन्तु ज्ञान में जाने जा सकते हैं। ज्ञान में प्रत्येक वस्तु के धर्म भलीभाँति जाने जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म हैं उसी प्रकार आत्मा में भी अनंत धर्म हैं। उसमें चेतनता असाधारण गुण है। यह गुण अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं है। और फिर दूसरी सूक्ष्म बात यह है कि आत्मा में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य अनन्त धर्म हैं जो सब निर्विकल्प हैं। ज्ञातृत्व का लक्षण उन धर्मों में नहीं है। एक ज्ञान गुण ही सविकल्प अर्थात् स्वपर को जानने वाला है। ज्ञान गुण अपने को स्व के रूप में जानता है और पर को पर के रूप में जानता है। शेष गुण भी स्वतंत्र हैं। वे अपने को नहीं जानते तथापि प्रत्येक गुण स्वतंत्र रूप में अपनी प्रयोजनभूत क्रिया को कर सकता है। उन समस्त गुणों को एक ज्ञान गुण जानता है। वह ज्ञातृत्व अन्य अनन्त अचेतन द्रव्यों में नहीं है। सजातीय चेतन अर्थात् जीव द्रव्य अनन्त हैं तथापि उनका चेतनत्व भिन्न भिन्न है। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अनन्त धर्म अपने अपने स्वतंत्र हैं। वे दूसरे चेतन द्रव्यों में नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं इसलिए कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं

मिल सकता। यह चेतनतत्व अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा का तत्त्व कहा है।

कर्मों के निमित्त की क्षणिक उपाधि वाली स्थिति वर्तमान समय मात्र की है। उसे जो अपना स्वरूप मानता है उस जीव को स्वतन्त्र स्वतत्त्व की प्रतीति नही है। किन्तु पर से भिन्न जैसा है ठीक वैसा ही अपने को जाने तथा रागादि रहित पूर्ण शुद्ध ज्ञान–आनन्दमय जैसा है वैसा अपना स्वरूप जाने तो वह अपने स्वाधीन सुख गुण को प्रगट कर सकता है। इसलिए आत्मा का अनन्त गुण ही आत्मा का तत्त्व है। राग–द्वेष मन, वाणी और देह की प्रवृत्ति आत्मा का तत्त्व नही है।

आत्मा सदा पर से भिन्न रह कर अपने अनन्त गुणो से अभिन्न होने के कारण अपने में व्यापक है और इसलिए अनन्त गुणो मे फैला हुआ है। उसे तत्व रूप में–जैसा है, वैसा ही इस सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है और यदि इस प्रकार समझे तो इस से (इस सम्यग्ज्ञान की मूर्ति से–सरस्वती से) सर्व प्राणियो का कल्याण होता है। इसलिए 'सदा प्रकाश रूप रहो' इस प्रकार का आशीर्वाद-रूप वचन मात्र पर को नही किन्तु अपने परम कल्याण स्वरूप को लक्ष्य मे रखकर कहा है।

समयसारजी में अपूर्व सत्श्रुत की स्थापना की है। यह समयसार शास्त्र परमागम है। यह परम विशुद्धता को प्रकट करने वाला है। यह अजोड सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक (अद्वितीय जगत् चक्षु) परमात्म दशा को प्राप्त करने के लिए है। यह सम्यग्ज्ञान के द्वारा दी गई अपूर्व भेट है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इसकी टीका के द्वारा मैं इसका स्पष्टी-करण करूँगा। इसकी टीका करने का फल अपनी वर्तमान दशा की निर्मलता के रूप में चाहता हूँ। पूजा सत्कार आदि नही चाहता।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते ॥ ३ ॥

महा–महिमावन्त भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरा ज्ञान व्यापार निर्मल हो मेरा पूर्ण वीतराग–भाव प्रगट हो। दूसरी कोई आकांक्षा नहीं है। इस समयसार अर्थात् शुद्धात्माकी कथनी तथा टीका से ही मेरी अनुभूतिरूप परिणति की परम विशुद्धि हो' ऐसी भावना भाई है।

शुद्ध आत्मा को जानने वाले ज्ञान अभ्यास की दृढ़ता से रागादि कलुषित भाव का अनुभव दूर होकर उत्कृष्ट निर्मल दशा प्रगट हो ऐसी भावना करते हैं। ऐसा परमागम मेरे हाथ आया है और उसकी टीका करने का महा सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए उसके विश्वास के बल पर टीकाकार स्पष्ट घोषित करते हैं कि इस टीका से मेरी परिणति पूर्णतया निर्मल हो जायगी।

जैसे पैसे की प्रीति वाला व्यक्ति भगवान के गुण गाता है वह वास्तव में भगवान के नहीं किन्तु अपने ही गीत गाता है। क्योंकि उसे धन की रुचि है। वह उस रुचि के ही गीत गाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्मा के अनन्त गुण रुचिकर प्रतीत हुए हैं वह निमित्त में आरोपित करके अपने ही गुण गाता है। वाणी तो जड़ है, परमाणु है। किन्तु उसके पीछे जो अपना शुद्धभाव है वही हितकर है।

आचार्य महाराज अपनी परिणति को सुधारने की भावना करते हैं। मेरी वर्तमान दशा मोह के द्वारा किंचित् मैली है किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव द्रव्यदृष्टि से मलिन नहीं है इसलिये पूर्ण शुद्ध चिदानन्द अपार शुद्धरूप है। उसकी प्रतीति के बल पर वर्तमान अशुद्धता का नाश दूर हो जायगा आचार्य महाराज इसका विश्वास दिलाते हैं। इस प्रकार जो कोई योग्य जीव सत्समागम के द्वारा समझेगा वह भी अपनी उत्कृष्ट पवित्र दशा को प्राप्त होगा।

सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष ज्ञान से जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतत्र स्वरूप जैसा है वैसा कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके इच्छा नही है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परमतत्त्व (आत्मा का सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। जीव यदि उस यथार्थता को न जाने तो कदापि बधन से मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नही हो सकता। उसे समझे बिना यह जीव अनन्तबार पुण्य, क्रियाकाण्ड इत्यादि कर चुका, किन्तु पराश्रय दृष्टि के कारण आत्म-धर्म नही हुआ।

आत्मा पर से निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादि के सम्बन्ध से रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्र की टीका करते हुए कहते है कि 'इस टीका के फल स्वरूप मेरी वर्तमान दशाकी परम विशुद्धि हो, यही चाहता हूँ।'

आचार्य महाराजने महान् गम्भीर अर्थवाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार [टेलीग्राम] की डेढ पक्ति मे यह लिखा हो कि 'रुई की पाँच हजार गाठें चारसौ पचास के भाव मे खरीदो' इसे पढने वाला उस डेढ पक्ति मे समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारी का साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ पक्ति मे लिखा हुआ नही है) जान लेता है। बाजार भाव से अधिक भाव में खरीद करने वाला और खरीद कराने वाला दोनो कैसे हैं ? कैसी हिम्मत वाले हैं, ? इसका परस्पर दोनो को भरोसा है। किन्तु जो अपढ होता है, अजान होता है, उसे इसकी खबर नही होती। लेकिन जो जाननेवाला जो पढा लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढने वाला होता है, वह दोनो तरफ की दोनों पेढी के सभी भावो को जान लेता है। ४४० का तो भाव चल रहा है, तथापि ४५० के भाव से इतनी बडी खरीद करने को लिखा है, इसमे किंचित् मात्र भी शका नही उठती। यदि कोई अजान पढे तो वह उस बात को न माने। दूकान तो छोटीसी लेकर बैठा हो, और सब कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उसमे सारा वैभव

समाविष्ट है। इस प्रकार यदि पढ़ा लिखा हो तो देख सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ के अनन्त आगम का रहस्य डेढ़ पंक्ति में हो तो भी सम्यग्ज्ञानी उसे बराबर जान लेता है। आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी के द्वारा आगत शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश उसकी व्याख्या करते हुए शुद्ध आत्मा ऐसा है इस प्रकार ही है यों शुद्ध आत्मा की सच्ची श्रद्धा की दृढ़ता के द्वारा मेरी स्वरूपरमणता अर्थात् एकाग्रता होगी परम विशुद्धि होगी इसके लिए मेरी टीका (तत्त्व की व्याख्या) है। उसके द्वारा स्वयं (आचार्य) अपना परम आनन्द प्रगट करना चाहते हैं।

यथार्थ वक्ता की पहचान करके श्रोताओं को भरोसा रखकर पूर्ण श्रवण–मनन करना चाहिए। समझने की पात्रता पहले चाहिए। कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। किन्तु विनय से उपचारदृष्टि से दिया हुआ कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि वस्तुस्वरूप द्रव्यस्वभाव से देखने पर त्रिकाल शुद्ध ही है। किन्तु वर्तमान में चलने वाली प्रत्येक अवस्था चारित्रमोह के द्वारा निरन्तर मलिन हो रही है। वर्तमान अवस्था में पूर्ण आनन्द नहीं है। (पूर्णदशा कृतकृत्य होने के बाद पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रहती) कर्म के निमित्त में युक्त होने से जितना परवस्तु की ओर झुकाव का वेदन करता है उतनी वर्तमान अवस्था मलिन दिखाई देती है। वर्तमानमें चलनेवाली अवस्था में क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत होगया तथापि वह अशुद्धता अनन्त गुनी नहीं हुई है। जैसे पानी अनन्त काल तक गरम हुआ इस लिए त्रिकाल के लिए गरम नहीं हो गया है इसी प्रकार आत्मा द्रव्य स्वभाव से नित्य शुद्ध ही है। उसमें वर्तमान अवस्थामें क्रोध मान आदि वृत्तियां उठती हैं। आत्मा उतना नहीं है इसलिए वह क्षणिक अशुद्धता का रक्षक नहीं है प्रत्युत नाशक ही है। और अनन्त गुण का स्वभाव ही रक्षक है। जैसे मूढ़तर जीव यह मानता है कि मैं रागी द्वेषी ममतावाला हूँ स्नेहादि संयोगवाला हूँ किन्तु इससे वैसा पूर्ण नहीं हो गया है। वर्तमान अवस्था में अग्नि के निमित्त से पानी गरम हुआ

अब मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए मगलसूत्र कहते है—

वन्दित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइंपत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि मै ध्रुव, अचल और अनुपम इन तीन विशेषणो से युक्त गति को प्राप्त सर्व सिद्धो को नमस्कार करके श्रुतकेवलियो के द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहूँगा।

यह महामत्र है। जैसे वीन के नाद से सर्प डोलने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा की महिमा को कहने वाला जो समयसार है, उसके कथन से 'मै शुद्ध हूँ' इस प्रकार के आनन्द मे आत्मा डोलने लगता है।

देह, मन और वाणी रूपी गुफा मे छुपा हुआ यह आत्मा परमार्थ स्वरूप सर्वज्ञ की दिव्यवाणी का बोध और माधुर्य जानकर अपनी महिमा को ज्ञात करके निजस्वरूपको सुनने और सम्हालने के लिए जागृत होता है। जैसे मत्रके द्वारा सर्पका विष उतर जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर से भिन्न रागादि सर्व उपाधि रहित, मुक्त है। ऐसी प्रतीति के द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी मत्र के द्वारा अज्ञान रूपी विष उतर जाता है।

ससार की चार अध्रुवगतियाँ हैं। सिद्धगति पूर्ण पवित्र आत्मदशा है। वह ध्रुव है, अचल है, अनुपम है, इस प्रकार की आत्मा की निर्मल दशा को प्राप्त जो सिद्ध परमात्मा हैं, उनके लिए जगत् के किसी भी पदार्थ की उपमा नही दी जा सकती। उपरोक्त तीन विशेषणो मे युक्त उत्कृष्ट गति को प्राप्त सर्व सिद्धो को नमस्कार करके श्रुतकेवलियो के द्वारा कहे गये इस शुद्धात्मा के अधिकार को कहूँगा, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। 'सर्व' 'अनन्त सिद्ध भगवान हो चुके हैं, यह कहने से सब मिलकर एक आत्मा हो गया मानना मिथ्या ठहरा।

'मैं उनको नमस्कार करता हूँ' इस का अर्थ यह है कि "मैं पूर्ण पवित्रदशा को ही नमस्कार करता हूँ, अन्य भावो की ओर नही जाता, संसार की ओर किसी भी भाव से नही देखता" इस प्रकार

शुता को दूर करता है। जैसे वस्त्र का मूल स्वभाव मैला नहीं है किन्तु पर-संयोग से वर्तमान अवस्था में मल दिखाई देता है। यदि वस्त्र के उज्ज्वल स्वभाव का ज्ञान हो जाय तो उस मैल के संयोग का अभाव हो सकता है। इसी प्रकार पहले शुद्ध आत्मा का पूर्ण-पवित्र मुक्तस्वरूप जाने, तो अशुद्धता दूर की जा सकती है। इसलिए यहाँ टीका में मुख्यतया शुद्ध आत्मा का कथन किया गया है। और यों तो इसमें अचिन्त्य आत्मस्वरूप का गुण-गान किया गया है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि—पर के आश्रय अवलम्बन से रहित जैसा मेरा शुद्ध स्वरूप पूर्ण सिद्ध समान है उसका दृढ़निश्चय करके और अब तुम्हारी पूर्णशक्ति को देखकर तुम्हें पूर्ण का निश्चय कराता हूँ उसकी स्पष्ट महिमा गाता हूँ। संसार में प्रशंसा करने वाले की दृष्टि और उसकी कीमत कितनी है यह जानने के बाद उसकी प्रशंसा की कीमत करनी चाहिए। कोई किसी की प्रशंसा वास्तव में नहीं करता किन्तु जो जिसके अनुकूल बैठता है वह उसी की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार निन्दा करने वाला भी अपने बुरे भाव को प्रगट करता है। उसमें हर्ष या विषाद कैसा? सब अपनी अपनी भावना का फल पावे हैं। उसमें दूसरों को क्या है?

जामें जितनी बुद्धि है उतनो देय बताय।
वाको बुरो न मानिये और कहाँ से लाय॥

अपनी भूल से आत्मा स्वयं दु:खी होता है। आत्मा क्या है इस की खबर न होने से अज्ञानी अज्ञान भाव से निन्दा करता है। उस व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति अर्थात् वह आत्मा क्षणभर में बदल भी सकता है।

आचार्य कहते हैं कि— मैं अपने अविनाशी शुद्धस्वरूप की शुद्ध दशा को प्रगट करना चाहता हूँ जगत की पूजा-ख्याति नहीं चाहता क्योंकि कोई किसी को कुछ नहीं दे सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी सर्वशक्ति से पूर्ण है। उस पूर्ण के लक्ष्य से धर्म का प्रारंभ होता है।

करके अपने तथा पर के आत्मा को सिद्ध समान स्थापित करके उसका विवेचन करते हैं। मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्ति से मै भिन्न हूँ, इस प्रकार शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्ति से हट कर अन्तरग मे स्थिर होना सो भाव–स्तुति है। शेष शुभभावरूप स्तुति करना सो द्रव्यस्तुति है। इसमे से पहले अपना आत्मा सिद्ध परमात्मा के समान है, इस प्रकार अपने को स्थापित करके कहे कि मुझ मे सिद्धत्व–पूर्णता है। किसी को भले ही यह छोटे मुँह बडी बात मालूम हो किंतु पूर्ण स्वरूप को स्वीकार किये बिना पूर्ण का प्रारम्भ कैसे होगा ?

ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है'। इसे सुनते ही लोग बिचक जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आत्मा को प्रभु कैसे कहा! ज्ञानी कहते हैं–'सभी आत्मा प्रभु हैं।' बाह्य विषय कषाय मे जिनकी दृष्टि है वे आत्मा को प्रभु मानने से इन्कार करते है। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मै सिद्ध हूँ इस प्रकार विश्वास करके 'हाँ' कहो! पूर्णता के लक्ष्य के बिना वास्तविक प्रारम्भ नही होता। मैं पामर हूँ, मैं हीन हूँ, यह मानकर जो कुछ करता है उसके परमार्थत कोई प्रारभ नही होता। 'मैं प्रभु नही हूँ' यह कहने से 'ना' मे से 'हाँ' प्राप्त नही होती। यदि कोई केंचुए को दूध–शक्कर पिलाये तो वह नाग नही हो सकता। इसी प्रकार कोई पहले से ही अपने को हीन मानकर पुरुषार्थ करना चाहे तो वह सफल नही हो सकता। नाग का बच्चा केंचुए के बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ नाग ही है। वह शक्तिशाली होता है। छोटा नाग भी फणिधर है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था में भले ही शक्तिहीन दिखाई दे तथापि स्वभाव से तो वह सिद्ध समान पूर्ण-दशा वाला है, इसलिए आचार्य महाराज पहले से ही पूर्ण सिद्ध, साध्य-भाव से बात को प्रारभ करते हैं। उन्हे कितनी उमग है!

लोग भी पूर्ण की भावनाके गाना गाते हैं। शादी के समय ममता–भाव से गीत गाये जाते हैं कि 'मोतियन चौक पुराये' अथवा 'मोतियन थाल भराये'। भले ही घर मे एक भी मोती न हो किन्तु ऐसी भावना भाते हैं। इसी प्रकार कहते हैं कि 'हाथी झूमे द्वार पर'।

अपने पूर्ण साध्य को नमस्कार करके पूर्ण शुद्धस्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जो सर्वज्ञ भगवान के द्वारा बताया गया है उसी को कहना चाहते हैं।

श्रुत-केवली = भीतर के भावज्ञान में पूर्ण सर्व अर्थ सहित आगम को जानने वाले। समय = पदार्थ अर्थात् आत्मा। प्राभृत = भेंट। जैसे राजा से मिलने के लिए जाने पर उसे भेंट देनी होती है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा को अंतरंग में मिलने के लिए सम्यग्ज्ञान की भेंट देनी होती है। टीका में अथ' शब्द मंगलसूचक है। अथ साधकता का द्योतक है। पूर्णता के लक्ष्य से अपूर्व प्रारम्भ बताया है अर्थात् पहले अनन्तबार बाह्य साधनों से जो कुछ कर चुका है यदि वही हो तो वह अपूर्व प्रारम्भ नहीं है। यहाँ पर अपूर्व साधक दशा को प्रगट करने की बात है। संस्कृत में अथ' का अर्थ अब होता है। अनन्त-काल से जो मानता चला आ रहा है और जो कुछ भाव करता आ रहा है वह नहीं, किन्तु सर्वज्ञ भगवान ने जो कहा है वही अब कहता हूँ। अब शब्द इसी का द्योतक है।

इसी अपूर्व प्रारम्भ को समझे बिना यह जीव पुण्य के फल से अनंतबार नवमें ग्रैवेयक तक गया। मैं स्वाधीन स्वरूप हूँ पर के आश्रय से रहित हूँ यह भूलकर वन के महाव्रतादि भी धारण किये। वस्त्र के एक सूत से भी रहित नग्न दिगम्बरदशा धारण करके उग्र शुभभाव सहित अनन्तबार पंच महाव्रत पालन किये उत्कृष्ट तप किया। किसी ने अग्नि में जला दिया तो भी किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। तथापि सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि ऐसा अनन्तबार करने पर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ। मात्र वह उच्च पुण्य करके स्वर्ग में गया। उसे स्वरूप की पूर्ण स्वाधीनता की यह बात नहीं जम पाई कि आत्मा पर से निराला है और पुण्य-पाप की उत्पत्ति से परमार्थतः में भिन्न ही हूँ। मैं मन की सहायता से शुद्धदशा को प्रगट नहीं कर सकता।

शास्त्र के प्रारम्भ में सर्वसिद्धों को भावस्तुति और द्रव्यस्तुति

सम्बन्ध मे आप क्या कहते है ?

उत्तरः—ऐसी बातें करने से अन्तरग अनुभव के साथ मेल नहीं बैठता। मन के पहाडे मे यह धारण कर रखा हो कि सात पँचे पैंतीस होते हैं, किन्तु ठीक मौके पर पहाडे का हिसाब न जमा सके तो उसका निश्चय किया हुआ ज्ञान किस काम का ? इसी प्रकार मै राग–द्वेष मोह से रहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस प्रकार निरतर अखण्ड स्वभाव की प्रतीति न रहे तो मन का धारण किया हुआ विचार किस काम का ?

आचार्य देव कहते हैं कि 'मै प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' इस प्रकार निश्चय करके तुम भी प्रभुत्व को मानो और उस पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करने का उपाय जिम प्रकार यहाँ कहा गया है उसी प्रकार उसे यथार्थ ग्रहण करो। कहा जाता है कि पूत के लक्षण पालने मे मालूम होजाते हैं। यहाँ पर आचार्य देव कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तुम भी प्रभु हो, पहले इस बात की स्वीकृति जमती है या नही। कोई कहता है कि छोटी थैली में बडी थैली के रुपये कैसे समा सकते हैं ? किन्तु भाई ! तू अनन्त ज्ञान–आनन्दरूप है, इसलिए तू इतना वडा 'प्रभु स्वरूप' है। ऐसी बात सुनकर समझकर और उसे जमाकर, अन्तरग से स्वीकार कर। यदि कोई भाग्यशाली पिता पुत्र से कहे कि तू इतनी रकम लेकर अमुक व्यापार कर, तो वह 'हाँ' ही कहेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और अनन्तज्ञानी आचार्यों ने सभी आत्माओ को पूर्णतया देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्मा के समान है। ज्ञानी स्वभाव को देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है, क्योंकि भूल और अशुद्धि तेरा स्वरूप नही है। हम भूल को नही देखते, क्योंकि हम भूल रहित पूर्ण आत्मस्वभाव को देखने वाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके उसमें स्थिरता के द्वारा अनन्तजीव परमात्म दशा रूप हो चुके हैं, इसलिए जो तुम से हो सकता है, वही कहा जा रहा है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य पहले सिद्धो को नमस्कार करके पहली

भले ही घर में एक गाय भी न हो। बात यह है कि संसारी जीवों के गीत अपनी ममता स्नेह और अनुकूलता को लेकर होते हैं। इसी न्याय के अनुसार आत्मा स्वयं पर से भिन्न परिपूर्ण अखण्ड है। इसलिए वह पूर्ण की भावना प्रगट करता है। बाह्यमें कुलाँट खाकर विकार में पड़ा है, इसलिए विकार में पूर्ण की तृष्णा प्रगट करता है। 'मोतियन चौक पुराये मोतियन थाल भराये अथवा हाथी झूमे द्वार पर' इत्यादि अनन्त तृष्णा का भाव भीतर से आया है। स्वय अनन्त पूर्णों से परिपूर्ण है। उससे कुलाँट खाकर ऐसे अनन्त तृष्णा के विपरीत भाव करता है।

कभी २ कहा जाता है कि आज तो सोने का सूर्य उगा है। भला वह प्रतिदिन नहीं और आज क्यों? जिस बात की महिमा को जाना उसी की महिमा के गीत गाता है। उस उत्साह की वृत्ति को बदलवाकर यहाँ पर पूर्ण पवित्रता की भावना है। आचार्य देव कहते हैं कि जो अपूर्व आत्मधर्म को चाहता है उसे 'मैं सिद्ध परमात्मा हूँ' इस प्रकार की दृढ़ता की स्थापना अपने आत्मा में करनी होगी। स्वयं पात्र होकर पूर्ण की बात सुनते ही हाँ' कहनी होगी। किन्तु जिसका सुंघनी जर्दा या बीड़ी के बिना काम नहीं चलता उससे कहा जाय कि तू परमात्मा है तो वह इस बात को किस मन से बिठायेगा? 'पुण्य का संयोग भी मुझे नहीं चाहिए परमाणु मात्र मेरा नहीं है राग—द्वेष उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है इस प्रकार पूर्ण आत्मा के निर्णय के द्वारा अपने आत्मा में और पर आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके कहते हैं कि मैं जिन्हें सुनाता हूँ वे सब प्रभु हैं। यह देखकर प्रभुत्व का उपदेश देता हूँ। आचार्य देव घोषणा करते हैं कि मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा हूँ और तुम भी स्वभावत पूर्ण ही हो यह बात तुम्हें निस्सन्देह समझ लेनी चाहिए। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण प्रभुत्व शक्ति भरी हुई है। ज्ञानी कहते हैं कि उसकी 'हाँ' कह। उससे इन्कार करने वाला प्रभुत्व दशा को कैसे प्रगट कर सकता है?

प्रश्नः—बहुत से लोग कहते हैं कि हम परमात्मा हैं, तब इस

आत्मा है। आत्मा का स्वभाव, मन, वाणी, देह तथा रागादि–उपाधि से रहित है। ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्मा का जो स्वभाव है सो धर्म है। जिसे यह स्वभाव प्रगट करना है वह सिद्ध को पहिचान कर वन्दना करता है अर्थात् राग से किंचित् मुक्त होकर एकाग्र हो जाता है।

प्रश्नः—सिद्ध किसे कहते है ?

उत्तरः—जिसके पूर्ण कृतकृत्य परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसे सिद्ध कहते हैं।

भाव–वन्दना—'मैं पूर्ण ज्ञानघन एव स्वभाव से निर्मल हूँ' ऐसे भाव सहित रागादि को विस्मरण करके अपने लक्ष मे राग रहित अन्तरग मे स्थिर होना सो अन्तरंग एकाग्रता अर्थात् भाव-वन्दना है। शुभलक्षी भक्ति-भाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्य वदना है। उस द्रव्यस्तुति मे यद्यपि अल्प राग का भाव है तथापि वह गौण है। पहले अपने और दूसरेके आत्मा मे भी सिद्धत्व स्थापित करके सबको प्रभु के रूप में स्थापित किया है। यही सर्वज्ञ वीतराग का प्रसिद्ध मार्ग है। अहा! कैसी अद्भुत बात है और कैसा अपूर्व उपदेश है। जिसकी पात्रता हो वह 'हाँ' कहे। जो दूसरे मे अर्थात् पुण्य-पाप में रुक जाये और पर का अवलम्बन ले तथा इस प्रकार पर की ओर देखने मे लग जाये, उसका सच्चा हित नही हो सकता। जो अच्छा करना चाहता है अथवा भला करना चाहता है वह सम्पूर्ण अच्छा करना चाहेगा या अपूर्ण ? सब सम्पूर्ण ही अच्छा करना चाहेगे। इसलिए आत्मा को पूर्ण माने विना काम नही चल सकता। आत्मा को पूर्ण मानने पर ही वह पूर्ण प्रगट होगा। अच्छा, ठीक, परमार्थ, कल्याण और आनन्द इत्यादि सब निर्मल निरुपाधिक दशा है जो कि अपने में विद्यमान है। जो सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मदशा को याद करते हैं, उसका आदर करते हैं, उनकी आतरिक दशा परमात्मा के बराबर ही है। मुझे पूर्ण परमात्मस्वभाव ही आदरणीय है। दूसरे पुण्य-पाप का अश मुझे नही चाहिए। नित्य, निरावलम्बी, पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा होने के बाद शुद्धदृष्टि के द्वारा वह

गाथा का प्रारंभ करते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से सिद्ध समान है। अपने आत्मा में ऐसा निर्णय करके समयसार का स्वरूप कहते हैं। परमात्मस्वरूप सिद्ध पद को अपने आत्मा में और पर के आत्मा में स्थापित करके कहूँगा ऐसा अर्थ 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' में से निकलता है।

प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र सुख लेना चाहता है। उसमें कोई बाधा उपाधि नहीं चाहता। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है। उसमें मन वचन काय अथवा राग-द्वेष नहीं है। शुद्ध स्वभाव वाले आत्मा की पहिचान के साथ महिमा गाई जाती है। निर्धन आदमी भगवान की प्रशंसा करता है। वहाँपर भगवान के बड़प्पन का भाव उसके हृदय में बैठा हुआ है। लक्ष्मी की मिठास अनुकूल मालूम होती है इसीलिए उस अनुकूलता के गाने गाता है। अन्तरंग में जो तृष्णा जमी है उसके गीत गाया करता है। सामने वाले व्यक्ति की तारीफ कोई नहीं करता। कहीं कहीं राजा को ईश्वर का अवतार कहा जाता है किन्तु यह उपमा राजा कहे जानेवाले आदमी के लिए नहीं है किन्तु उसके (प्रशंसक के) हृदय में राजा के वैभव का प्रभाव है इसलिए उसकी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार जिसे सहजानन्द पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वभाव के प्रति आदर है वह सिद्ध भगवान के गीत गाता है। अर्थात् अपने आत्मा में जो पूर्ण सिद्ध स्वभाव जमा लिया है—स्थापित कर रखा है उसी के गीत गाता है।

आचार्यदेवने अद्‌भुत मंगलाचरण किया है। मलब्ध जिनशासन को जीवित रखा है। जो स्वतंत्रता लेना चाहता है वह ऐसा पद चाहता है जो किसी के आश्रित न हो। सिद्ध को वही वन्दना कर सकता है जिसके स्वाधीन परमात्मदशा जम गई है। जिसके हृदय में यह बात जम गई है वही भाव-वन्दना कर सकता है। मैं सिद्ध स्वभाव पूर्ण पवित्र परमात्मा हूँ ऐसी बात सुनते ही जिसके अन्तरंग में जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है और जो जीव धर्म को समझना चाहता है उसी की यह बात है। शंका में फँसे रहने वाले के लिए नहीं है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। यहाँ वस्तु का अर्थ

विषकन्या का धनाढ्य पिता विचार करने लगा कि इस कन्या के साथ कौन विवाह करेगा ? अपनी जातिका कोई भी व्यक्ति तो ग्रहण करेगा नही।

एक दिन मार्ग मे एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था। उसके वस्त्र फटे हुए, लकडी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था। तथा उसके शरीर पर मक्खियां भिनभिना रही थी। उसे देखकर सेठने विचार किया कि इस भिखारी को अपने घर रखकर अच्छे कपडे पहनाऊंगा, इसका शृगार करूंगा और इसे धन देकर अपनी पुत्री के साथ विवाह कर दूंगा। ऐसा विचार करके उसने अपने नोकर को वैसा करने को आज्ञा दी।

नोकर उस भिखारी को घर में ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनाने के लिए उसके फटे–पुराने कपडो को उतारने लगा, तब वह भिखारी बडे जोर से चिल्लाने लगा। उस भिखारी के जो वस्त्र और भिक्षा–पात्र इत्यादि फेक देने लायक थे, उन्हे नोकर फेंकने लगा कि–वह अज्ञानी भिखारी और अधिक रोने–चिल्लाने लगा। सेठ ने उसके रोने का कारण पूछा, तो नोकर ने कहा कि मै इसका पुराना वेश उतारता हूँ इसलिए यह चिल्लाता है। उसके पुण्य नही है, इसलिए वह पहले से ही घरमे प्रवेश करने से ही इन्कार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपडे इत्यादि उतारे जा रहे हैं, किन्तु वह यह नही सोच सकता कि भले आदमी के घर मे बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा।

सेठ ने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करने के लिए उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिकवाकर वही एक कौने में रख देने को कहा। पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न–मण्डप मे बिठाया। ज्यो ही उसका विष-कन्या के साथ हस्तमिलाप कराया गया ज्यो ही उसके शरीर में विष-कन्या के विष का दाह उत्पन्न हो गया।

भिखारी के पुण्य तो था नहीं, इसलिए उसने विचार किया कि मैं

सब भाव जमा लेगा। दृष्टि खुलने के बाद अल्प राग रहेगा किन्तु गुण को रोकने वाला वैसा राग नहीं रहेगा। यह विश्वास और रुचि वही कर सकता है जिसका शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति से अहंकार उठ गया है। 'मैं पुण्य-पाप, उपाधि रहित, असंग ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ जिसे ऐसा ज्ञान है वह सत् के प्रति अपनी रुचि प्रगट करता है। जिसे अन्तरंग में–आत्मा में परमात्मा की बात जम गई है वह भविष्य की अपेक्षा से साक्षात् सिद्ध ही है। जिन्हें मुक्तिकी बात सुनते ही पसीना आ जाता है और प्रभु कहते ही जो हाय–तोबा मचा देते हैं उनके लिये ज्ञानी कहते हैं कि हम सब को प्रभु के रूप में देखकर कह रहे हैं। क्षणिक उपाधि के भेद को सुनकर रुक मत जाओ। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम सिद्ध समान प्रभु हो। जबतक हमको ऐसा विश्वास अपने आप नहीं हो जाता, तबतक सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कही गई बातें तुम्हारे अन्तरंग में नहीं जम सकतीं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं तुझे परम-सत्य सुनाऊँगा। उसे श्रवण करते हुए तू एकबार अन्तरंग में इतना स्वीकार कर कि श्रवण सम्बन्धी राग मेरा नहीं है। मैं अरागी, अखण्ड, ज्ञायक प्रभु ही हूँ। दूसरी बात यह है कि जसे सिद्ध को सुनने इत्यादि की इच्छा नहीं है उसी प्रकार मुझे भी नहीं है। सिद्ध भगवान का आत्मा जितना बड़ा है उतना मेरा भी है। ऐसा निर्णय कर। इस प्रकार यह–समयसार शास्त्र (आत्मस्वभाव) का कथन है। इस शास्त्र को भाव वचन से अर्थात् अन्तरंग एकाग्रता से और द्रव्य वचन से अर्थात् शुभभाव से कहूँगा। इसके बाद कहते हैं कि मैं अनुभव प्रमाण से कहूँगा, उसे अवश्य स्वीकार कर लेना कल्पना मत करना।

यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं.—

पूर्वभवमें द्रोपदीका एक धनिक सेठ के यहाँ विषकन्याके रूपमें जन्म हुआ था। उसमें यह विशेषता थी कि जो भी उसे पत्नीके भावसे स्पर्श करेगा उसके शरीर में विषैला दाह उत्पन्न हो जायगा। इसलिए उस

विषकन्या का धनाढ्य पिता विचार करने लगा कि इस कन्या के साथ कौन विवाह करेगा ? अपनी जातिका कोई भी व्यक्ति तो ग्रहण करेगा नही।

एक दिन मार्ग मे एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था । उसके वस्त्र फटे हुए, लकडी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था । तथा उसके शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थी । उसे देखकर सेठने विचार किया कि इस भिखारी को अपने घर रखकर अच्छे कपडे पहनाऊँगा, इसका शृगार करूँगा और इसे धन देकर अपनी पुत्री के साथ विवाह कर दूँगा । ऐसा विचार करके उसने अपने नौकर को वैसा करने को आज्ञा दी ।

नौकर उस भिखारी को घर में ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनाने के लिए उसके फटे—पुराने कपडो को उतारने लगा, तब वह भिखारी बडे जोर से चिल्लाने लगा । उस भिखारी के जो वस्त्र और भिक्षा—पात्र इत्यादि फेंक देने लायक थे, उन्हे नौकर फेंकने लगा कि—वह अज्ञानी भिखारी और अधिक रोने—चिल्लाने लगा । सेठ ने उसके रोने का कारण पूछा, तो नौकर ने कहा कि मैं इसका पुराना वेश उतारता हूँ इसलिए यह चिल्लाता है । उसके पुण्य नही है, इसलिए वह पहले से ही घरमे प्रवेश करने से ही इन्कार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपडे इत्यादि उतारे जा रहे हैं, किन्तु वह यह नही सोच सकता कि भले आदमी के घर में बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा ।

सेठ ने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करने के लिए उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिकवाकर वही एक कौने मे रख देने को कहा । पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न—मण्डप मे बिठाया । ज्यो ही उसका विष-कन्या के साथ हस्तमिलाप कराया गया ज्यो ही उसके शरीर में विष-कन्या के विष का दाह उत्पन्न हो गया ।

भिखारी के पुण्य तो था नही, इसलिए उसने विचार किया कि मैं

इस कपड़े को नहीं रख सकूंगा इसलिए वह मध्यरात्रि में उठकर उन तमाम नवीन वस्त्राभूषणों को उतारकर और कोने में रखे हुए अपने उन फटे-पुराने वस्त्रों को पहनकर वहां से ऐसा भागा जैसे कसाई के हाथ से छूटकर कोई जानवर भागता है।

इस दृष्टान्त से यह सिद्धान्त निकलता है कि संसार की चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करने वाले भिखारियों को देख कर (जैसे उस सेठ ने नौकर को आज्ञा दी थी उसी प्रकार) केवलज्ञानी भगवान ने धर्मसभास्थित मुनियों को आज्ञा दी कि जगत् के जीवों को यह सुनाओ कि सभी आत्मा प्रभु हैं सिद्धस्वरूप हैं तुम पूर्ण हो, प्रभु हो इसलिए तुम्हारा ऐसा स्वरूप नहीं है कि जिससे तुम्हें पर की कोई इच्छा करनी पड़े। पर-पदार्थ की इच्छा करना भिखारीपन है। अधिक मांगे तो बड़ा भिखारी और थोड़ा मांगे तो छोटा भिखारी है। इसी प्रकार सभी जीव परवस्तुओं के छोटे बड़े भिखारी हैं।

लोग जबतक संसार की प्रतिष्ठा देखते हैं धन, घर इत्यादि का संयोग चाहते हैं तबतक वे सब उस भिखारी के समान हैं। वे बाहर से ऐसे बड़प्पन को ढूंढते हैं कि जिससे कोई हमारी प्रतिष्ठा के गीत गाये प्रशंसा करे और हम गण्यमान्य लोगों में गिने जाने लगें। ऐसे जो चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने वाले भिखारी हैं उनके लिए शाश्वत् उद्धार का उपाय बताने के लिये तीर्थंकर प्रभु ने संतों से कहा कि जगत् के लोगों से कहो कि तुम प्रभु हो। तुम अपनी पूर्ण स्वाधीन शक्ति की महिमा को सम्हालो। हम तुम्हारा तुम्हारी शुद्ध परिणति के साथ लग्न (लीनता) कराये देते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने मुनियों से कहा कि इन चौरासी के भिखा-रियों को बुलाकर उनके हृदय में उनका सिद्धत्व स्थापित करो और कहो कि तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु हो अनन्त पुरुषार्थ अनंतज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप हो। ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता की बात सुनते ही जो आत्मार्थी हैं, पुरुषार्थी हैं उन्हें तो सबसे पहले पूर्ण के प्रति श्रद्धा हो जाती

है और वे पूर्ण के प्रति अपूर्व रुचि दिखाकर विशेष समझने का उत्साह दिखाते हैं। और उनका जो विश्वास करते हैं वे स्वाधीन–निज घर मे प्रवेश करते हैं। पश्चात् अल्प–रागरूप अस्थिरता रह जाती है, उसे कैसे टाला जाय ? उस पुरुषार्थ को वह सम्हाल लेगा और निरन्तर अपने पूर्ण साध्य के गीत गायेगा। ज्ञानी के पास से सुनकर स्वीकार करके और आत्मा में निर्णय करके कहेगा कि मैं पूर्ण सिद्ध समान परमात्मा हूँ, प्रभु हूँ। उसके पूर्ण सिद्धपद शक्तिरूप मे विद्यमान है। उसकी निर्मलता की परिणति प्रगट करके वह मुक्तदशा के साथ परिणमन करेगा, अखंड आनद प्राप्त करेगा, किन्तु भिखारी को अनादिकाल से परिभ्रमण करने की रुचि है। यदि उससे ज्ञानी कहे कि आत्मा पुण्य–पाप रहित प्रभु है, उसे शुभ विकल्प की सहायता की आवश्यकता नही है, तो वह इसे सुनकर चिल्लपो मचायेगा कि हाय ! हाय ! यह कैसे हो सकता है ?

किंतु एकबार तो श्रद्धा पूर्वक कह कि मुझे पुण्यादि कुछ भी नही चाहिए, क्यो कि सिद्ध परमात्मा मे किसी उपाधि का अश नही है, और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है।

पर के लिए जो चाह उत्पन्न होती है वह भी विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नही है। इस प्रकार अन्तरग से एकबार स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो सुनते ही इन्कार कर देता है और चिल्लाता है, उसे ससार मे पुण्यादि पराश्रय की मिठास से भटकना अच्छा लगता है। उसे मुक्त होने की बात नही जमती। इसलिए कहता है कि इतने लम्बे समय से हमारा जो किया कराया है, उस सब पर पानी फिरता है। इसलिए हमारे कृतपुण्य की रक्षा करते हुए यदि कोई बात हो तो कहो ! किन्तु जो जैसा मार्ग हो उससे विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा तो पर से भिन्न चिदानन्द स्वरूप है। पुण्य-पाप की वृत्ति अथवा दया, हिंसा की वृत्ति तेरा स्वरूप नही है। पहले ऐसा विश्वास कर, फिर शुभ वृत्ति भी आयेगी। किन्तु इसे सुनते ही

इस कन्या को नहीं रख सकूँगा, इसलिए वह मध्यरात्रि में उठकर उन तमाम नवीन वस्त्राभूषणों को उतारकर और कोने में रखे हुए अपने उन फटे-पुराने वस्त्रों को पहनकर वहाँ से ऐसा भागा जैसे कसाई के हाथ से छूटकर कोई जानवर भागता है।

इस दृष्टान्त से यह सिद्धान्त निकलता है कि संसार की चौरासी-लाख योनियों में परिभ्रमण करने वाले भिखारियों को देख कर (जैसे उस सेठ ने नौकर को आज्ञा दी थी उसी प्रकार) केवलज्ञानी भगवान ने धर्मसभास्थित मुनियों को आज्ञा दी कि जगत् के जीवों को यह सुनाओ कि सभी आत्मा प्रभु हैं, सिद्धस्वरूप हैं तुम पूर्ण हो प्रभु हो इसलिए तुम्हारा ऐसा स्वरूप नहीं है कि जिससे तुम्हें पर की कोई इच्छा करनी पड़े। पर-पदार्थ की इच्छा करना भिखारीपन है। अधिक माँगे सो बड़ा भिखारी और थोड़ा माँगे सो छोटा भिखारी है। इसी प्रकार सभी जीव परवस्तुओं के छोटे बड़े भिखारी हैं।

लोग जबतक संसार की प्रतिष्ठा देखते हैं, धन घर इत्यादि का संयोग चाहते हैं तबतक वे सब उस भिखारी के समान हैं। वे बाहर से ऐसे बड़प्पन को ढूंढते हैं कि जिससे कोई हमारी प्रतिष्ठा के गीत गाये, प्रशंसा करे और हम गण्यमान्य लोगों में गिने जाने लगें। ऐसे जो चौरासी के चक्कर में परिभ्रमण करने वाले भिखारी हैं, उनके लिए शाश्वत् उद्धार का उपाय बताने के लिये तीर्थंकर प्रभु ने संतों से कहा कि जगत् के लोगों से कहो कि तुम प्रभु हो। तुम अपनी पूर्ण स्वाधीन शक्ति की महिमा को सम्हालो। हम तुम्हारा, तुम्हारी शुद्ध परिणति के साथ लग्न (लीनता) कराने देते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने मुनियों से कहा कि इन चौरासी के भिखारियों को बुलाकर उनके हृदय में उनका सिद्धत्व स्थापित करो और कहो कि तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु हो अनन्त पुरुषार्थ अनंतज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप हो। ऐसी पूर्ण स्वतंत्रता की बात सुनते ही जो आत्मार्थी हैं पुरुषार्थी हैं उन्हें तो सबसे पहले पूर्ण के प्रति श्रद्धा हो जाए

क्षणिक सयोग देकर छूट जायगा। उससे आत्मा को क्या मिलने वाला है ? मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्यादि की सहायता के बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ, इस विश्वाससे जिसने अतरग मे काम नही लिया, वह पुण्यादि मे मिठास मानकर बाह्य मे सतुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्ति की श्रद्धा के बिना पुण्य-बध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्य को सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नहीं हो सकता। उसके मन मे यह बात नही जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्बन इष्ट नही है, अथवा कोई पर-वस्तु इष्ट नही है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावना की हद नही होती। तू अखण्डानन्द अकेला परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुनो ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव की यह आज्ञा है कि पूर्ण की रुचि और अपार स्वभाव को स्वतन्त्ररूपमें घोषित करो। भाव और द्रव्यस्तुति से मोक्ष के उपाय का प्रारभ होता है। परम कल्याण स्वय ही अपने पूर्ण पद को मानने-जानने से और उसमे एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्‌भुत बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है, उसके सब झगडे दूर हो जाते हैं। सभी आत्मा सिद्ध समान प्रभु हैं और स्वतन्त्र हैं। यह जानने मे विरोध कहाँ है ? जिसने सिद्ध परमात्मा के साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वय सिद्ध समान है। तब फिर वह किसके साथ विरोध करेगा ? सिद्ध मे जो नही है वह मेरा स्वरूप नही है, और सिद्ध में जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखाई देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखाई देते हैं, उन्हे निकाल देने से मात्र पूर्णस्वरूप रह जायगा। जिस-जिसने अपने पूर्ण परमात्मपद को पहिचानकर अपने मे उसकी दृढता की स्थापना की है, वह पुण्य-पापादि अन्य किसी की स्थापना नही करेगा। लोकोत्तर-स्वरूपके माहात्म्य के लिए सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हें हम अपने आत्मा में स्थापित करते हैं, अखण्ड ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धत्व मेरा स्वरूप है और वह सदा रहेगा। इसके अति-

को चिल्लाता है इन्कार करता है उसके मनमें भगवानपनेकी मान्यता नहीं जमती।

जैसे पहले भिखारी के पूर्व-पुण्य नहीं था इसलिए उसके मन में सेठ की बात नहीं जमी, उसी प्रकार ज्ञानी ने अनन्त दुःख से छूटकर अनन्त सुखका उपाय बताया कि वहाँ वह सबसे पहले इन्कार कर बैठता है। क्योंकि उसे अपनी महत्ता का और पूर्णता का विश्वास नहीं है। अंतरंग में पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता इसलिए वह भविष्य में अनंत संसार का भिखारी रहना चाहता है। जितना बीर्य पुण्य–पापरूप बन्धन–भाव में लगा रहता है वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे हिंसा झूठ अव्रत आदि अशुभ भाव से पापबन्ध होता है उसी प्रकार दया सत्य व्रत आदि शुभ भावसे पुण्य–बंध होता है धर्म नहीं। मात्र आत्मा के शुद्धभाव से ही धर्म होता है। इस प्रकार पहली बात के सुनते ही अज्ञानी चिल्लाहट और घबराहट मचा देता है तथा कहता है कि इससे तो स्वर्ग या पुण्य भी नहीं रहा हमें यह प्रारम्भ में तो चाहिए ही है उसके बाद भले ही छोड़ने को कहो। किन्तु ज्ञानी कहता है कि उसे श्रद्धा में पहले से ही छोड़ दे। मैं सिद्ध समान हूँ मुझे कुछ नहीं चाहिए इस प्रकार एक बार तो स्वीकार कर फिर तू राग को दूर करने का उपाय समझे बिना न रहेगा। तू मोक्षस्वरूप है इसे एकबार स्वीकार कर।

आचार्यदेव मोक्ष का मंडप तानकर तुझमें मोक्षपद स्थापित करते हैं। *एकबार धर्म अर्थात् स्वभाव का निश्चय कर तो तुझे ऐसी महिमा स्वतः प्रगट हो जायगी कि मैं पूर्ण परमात्मा हूँ।* जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णता को न देखकर अपने अवि नाशी पूर्ण स्वभाव को देख। यदि ऐसा विश्वास अन्तरंग में आये और उसकी महिमा को समझे तो वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना न रहे। किन्तु जिसे पहले से ही यह विश्वास जमा हुआ है कि यहाँ न तो प्रभुता है और न पुण्य के बिना अकेला आत्मा रह सकता है वह केवली के पास रह कर भी कोरा का कोरा ही रहा। वह क्रियाकाण्ड करके थक गया और पुण्य के भाव में रुककर भटकता रहा। पुण्य तो

क्षणिक सयोग देकर छूट जायगा। उससे आत्मा को क्या मिलने वाला है ? मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्यादि की सहायता के बिना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ, इस विश्वाससे जिसने अतरग मे काम नही लिया, वह पुण्यादि मे मिठास मानकर बाह्य मे सतुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्ति की श्रद्धा के बिना पुण्य-बध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्य को सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नही हो सकता। उसके मन मे यह बात नही जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्बन इष्ट नही है, अथवा कोई पर-वस्तु इष्ट नही है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावना की हद नही होती। तू अखण्डानन्द अकेला परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुनो ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव की यह आज्ञा है कि पूर्ण की रुचि और अपार स्वभाव को स्वतन्त्ररूपमें घोषित करो। भाव और द्रव्यस्तुति से मोक्ष के उपाय का प्रारभ होता है। परम कल्याण स्वय ही अपने पूर्ण पद को मानने-जानने से और उसमे एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्‌भुत बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है, उसके सब झगडे दूर हो जाते हैं। सभी आत्मा सिद्ध समान प्रभु हैं और स्वतत्र हैं। यह जानने में विरोध कहाँ है ? जिसने सिद्ध परमात्मा के साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वय सिद्ध समान है। तब फिर वह किसके साथ विरोध करेगा ? सिद्ध मे जो नही है वह मेरा स्वरूप नही है, और सिद्ध में जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखाई देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखाई देते हैं, उन्हें निकाल देने से मात्र पूर्णस्वरूप रह जायगा। जिस-जिसने अपने पूर्ण परमात्मपद को पहिचानकर अपने मे उसकी दृढ़ता की स्थापना की है, वह पुण्य-पापादि अन्य किसी की स्थापना नही करेगा। लोकोत्तर-स्वरूपके माहात्म्य के लिए सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हें हम अपने आत्मा में स्थापित करते हैं, अखण्ड ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धत्व मेरा स्वरूप है और वह सदा रहेगा। इसके अति-

रिक्त जो शुभ–प्रशुभ राग की वृत्ति उठती है वह पर है। यह जानकर जिसने यह स्थापित किया कि मैं सिद्धात्मा प्रशरीरी हूँ उसने अपने में महा–मांगलिक मोक्षका प्रारंभ किया है। और अपने को भूलकर पूजा व्रत दान इत्यादि में शुभभाव के द्वारा जो कुछ पुण्य किया वह स्वामी भाव से किया है इसलिए वह पर का बन्धन और अभिमान करता है।

आत्मा शुद्ध ज्ञाता है। उसमें पूर्ण प्रभुत्व को स्थापित किये बिना मुक्ति के लिए तीन काल और तीन लोक में दूसरा कोई उपाय नहीं है।

भाव–वचन का अर्थ है–अन्तरंग एकाग्रता। द्रव्य-वचन का अर्थ है शुभभाव और शुभ विकल्प। इन दोनों के द्वारा शुद्धात्मा का कथन किया जायगा।

आचार्य कहते हैं कि यह सिद्ध भगवान साध्य जो शुद्ध आत्मा है उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है। साध्य का अर्थ है–साधन करने योग्य। जो पूर्ण निर्मलदशा है वह स्वरूप–साध्य है। धर्मों का ध्येय हितस्वरूप आत्मा का सिद्ध स्वरूप है। अशरीरी शुद्ध आत्मा उसका लक्ष्य है। ध्येय का अर्थ है–निशान साध्य। पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वरूप आत्मा का ध्येय आत्मा स्वयं ही है। जिसने यह निश्चय किया वह सिद्ध भगवन्त सिद्धत्व के कारण शुद्ध आत्मा के प्रतिच्छन्द के स्थान में है। मैं शुद्ध चिदानन्द पूर्ण कृतकृत्य परमात्मा हूँ। इसी प्रकार ज्ञान में उठता हुआ ज्ञानभाव स्वभाव की घोषणा के द्वारा कहता है कि हे सिद्धभगवान ! आप परमेश्वर हैं। और उधर सामने से आवाज आती है कि आप परमेश्वर हैं। इस प्रकार मानों प्रतिध्वनित होकर उत्तर आता है। इसी प्रकार सिद्धभगवान प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं।

हे सिद्धभगवान् ! आप मेरे स्वभाव स्वरूप हैं। हे सिद्ध परमात्मन् ! मैं आपकी वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार की प्रतिध्वनि ज्ञान में प्रतिच्छन्द के रूप में स्थापित हो जाती है।

सिद्ध तो कृतकृत्य होते हैं। उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं होता। मैं द्रव्यस्वभाव से सब जीवों को सिद्ध परमात्मा के समान देखता हूँ।

सर्वज्ञ वीतराग जगत् के सभी प्राणियो के लिए स्वतत्रता की घोषणा करते हैं। जो सिद्ध भगवान में नहीं है, वह मुझमें नहीं है और जो सिद्ध भगवान में है वह मुझमें है। इस प्रकार की नि शक दृढता किसी के साथ बातचीत करते हुए अथवा किसी भी प्रसग पर दूर नही होनी चाहिए। किसी भी क्षेत्र मे, किसी भी काल मे आत्मा का विश्वास आत्मा से पृथक् अर्थात् विस्मरणरूप नही होता, ऐसी रुचि निरतर रहनी चाहिए। धर्मी अपने को निश्चय से ऐसा ही मानता है कि जैसे सिद्ध परमात्मा के सकल्प–विकल्प अथवा रागादिक कोई उपाधि नही होती, वैसे ही मेरे भी नही है। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त गुण और अनन्त बल के द्वारा स्वाभाविक तत्त्व हूँ, क्योकि मै सिद्ध परमात्मा की जाति का हूँ। वे अनन्त ज्ञान–आनन्द के रसकन्द हैं, वैसा ही मै हूँ। इस प्रकार पहिचान कर उनका चिन्तवन करके उन्ही के समान अपने स्वरूप का ध्यान करके योग्य ससारी जीव उन्ही जैसे हो जाते हैं।

ध्यान करके अर्थात् त्रैकालिक निज शक्ति में से खीचकर अतरग एकाग्रता के द्वारा अपनी पूर्ण पवित्र दशा को प्रगट करते हैं।

पर से भिन्न अपने परमार्थ स्वरूप की जो प्रतीति है, सो निश्चय है और पुरुषार्थ के द्वारा मोक्षमार्ग को सिद्ध करना सो व्यवहार है। यहाँ पर–इसमें दोनो कहे गये हैं। पहले मैं सिद्धस्वरूप हूँ, परमात्मा के समान ही हूँ, ऐसी जो द्रव्यदृष्टि है सो निश्चय है और उसमे भाव–वन्दनारूप स्वभाव में एकाग्र होकर अनन्त जीव सिद्ध भगवान के समान हो गये हैं सो मोक्ष का उपाय है। उसे व्यवहार कहा जाता है।

यह अन्तरग मे स्थिर होने की (एकाग्र होने की) ज्ञान की क्रिया कही है। देहादि बाह्य की प्रवृत्ति आत्मा की क्रिया नहीं है क्योकि, जहाँ गुण हो, वहाँ अवगुण [दोष] दशा हो सकती है और वह पराव-लम्बी, क्षणिक विकारीभाव है। स्वभाव की स्थिरता से उसे दूर किया जा सकता है। तीनो काल में एक ही उपाय और एक ही रीति है।

अहो ! कितनी विशाल दृष्टि है ! प्रभु होने का उपाय अपने में ही है ! यथा —

चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूं रे !
मेरा जीवन सफल तब लेखूं रे !
मुक्तानन्द के माथ बिहारी रे !
शुद्धजीवन डोरी हमारी रे !

पुण्य–पाप इत्यादि जो पर हैं वे मेरे हैं। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ इस प्रकार की मान्यता पाप है। उसे जो हरता है सो हरि है (हरि=आत्मा)। विशाल दृष्टि का अर्थ है स्वतन्त्र स्वभाव को देखने की सच्ची दृष्टि। मैं भी प्रभु हूँ तुम भी प्रभु हो। कोई एक दूसरे के आधीन नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्र प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ किसके साथ बैर–विरोध रह सकता है ? सब को पवित्र प्रभुके रूपमें देखनेवाला आत्माके निर्विकारी स्वभावको देखता है। वह उसमें छुटाई–बड़ाई का भेद नहीं करता। जगत्में कोई शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है बैर–विरोध तो अज्ञानभाव से–कल्पना से मान लिया गया है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में ज्ञानमैत्र्य क्रिया होती है। उसे भूलकर पर को अच्छा या बुरा मानकर आकुलता क्यों करता है ? हे भाई ! इस अनन्तकाल में दुर्लभ मानव–जीवन और उसमें भी महा मूल्य सत्समागम तथा सत्की वाणी का श्रवण प्राप्त होता है, तथापि अपने स्वतंत्र स्वभाव को न माने यह कैसे चल सकता है ?

बाप बेटे से कहे कि बेटा ! यह कमाई के दिन हैं। यदि अभी न कमायेगा तो फिर कब कमायेगा। अभी दो महिने परिश्रम से बारह महीने की रोटियाँ निकल सकती हैं। सो यह तो धूल समान है किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ वीतराग भगवान कहते हैं कि मनुष्य–जीवन और सत्य को सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ है। मोक्ष का मंडप तैयार है तेरा सिद्ध–मुक्त स्वभाव है उसमें तुझे स्थापित किया जाता है। उसमें कहीं भी बैर–विरोध नहीं है। चतन्य आत्माके स्वभावमें विरोध

नही है, इसलिए मेरा स्वभाव भी वैर–विरोध रखना नही है; किंतु विरोध–दोष का नाशक है, क्योंकि सिद्ध मे दोष नही हैं। पूर्ण होने से पूर्व पूर्ण के गीत गाये हैं। जहाँ शका है, वही रोना है। ज्ञानी तो प्रभुता को ही देखता है।

आत्मा का पूर्ण अविकारी स्वरूप लक्ष्य मे लेना निर्मल परिणामी की डोरी का साध्य (लक्ष्य–ध्येय) शुद्धात्मा ही है। दूसरे के प्रति लक्ष्य नही करना है। ऐसे निर्णय के वाद जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उससे गुण का नाश नही होने देगा। ससारी योग्य जीव को सिद्ध के समान स्थापित किया है। उसका आश्रय लेने वाले को बादमे उस मे यह सन्देह नही रहता कि मै एकाग्रता के द्वारा निर्मलभाव प्रगट करके अल्पकाल में साक्षात् सिद्ध होऊँगा।

सकल्प-विकल्प और इच्छा मेरा स्वरूप नही है। मैं पर से भिन्न हूँ। इसप्रकार स्वतत्र स्वभाव को प्रगट करके जाग्रत होता है। उसमे कोई काल और कर्म बाधक नही होते। कर्म तो जड-मूर्तिक हैं। वे स्वभाव मे प्रविष्ट नही हुए हैं। क्योंकि आत्मा सदा अपने रूप मे है, पर रूप में नही है। जो तुझमे नही है, वह तुझे तीन काल और तीन लोक में हानि नही पहुँचा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नही है। इसलिए कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के हानि लाभ का कारण नही है। तथापि विपरीत कल्पना करके विपरीत मान्यता ने घर कर लिया है। जो यह कहता है कि मेरे लिए कर्म बाधक हैं, जड–कर्मों ने मुझे मार डाला, उन्हे सुधरना नही है। तेरी भूल के कारण ही राग द्वेष और विकाररूप ससार है। अपने बडप्पन को भूलकर दूसरे को बडप्पन देता है, मानो तुझमें पानी –(बल) ही नही। तू मानता है कि पर तुझे हैरान करता है या कुछ तुझे दे देता है, किन्तु ऐसा कभी नही होता। अपने को पूर्ण और स्वतत्र प्रभु न माने तो भी स्वय वैसा ही है। अपने स्वभाव से विपरीत मानने पर भी स्वभाव कही बदल नही जाता। जो अपने आत्मा को परमार्थत सिद्ध समान जानकर निरन्तर ध्याता है, वह उन्हीं जैसा हो जाता है।

त्रिकाल के ज्ञानी प्रथम ही शुद्ध आत्मा की स्थापना का उपदेश देते हैं। जो साहूकार होता है वह सोलहों आना चुकाता है, आठ आने वाले की आड़ नहीं लेता। वह अशक्त की बात का याद नहीं करता। वैसे ही मैं पूर्ण निर्मल सिद्ध समान हूं और वैसा ही होने वाला हूं। उसमें तीन काल और तीन लोक में कोई विघ्न नहीं देखता। आत्मा के लिए कर्म बाधक हैं इस प्रकार चिल्लाहट मचाने वाले को भी याद नहीं करता और जानता है कि इस प्रकार सिद्धस्वरूप का ध्यान करके अनन्त जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धगति कैसी है ? = संसार की चारों गतियों से विलक्षण (विपरीत लक्षण) पंचमगति अर्थात् मोक्ष है उसे अनन्त जीवों ने प्राप्त किया है। जिसकी जैसी रुचि होती है वह उसी के गीत गाता है। इसी प्रकार ज्ञानी (धर्मात्मा) जगत् के सुपात्र जीवों को अपने समान–सिद्ध समान बनाते हैं और कहते हैं कि ऐसे त्रिकाल अखण्ड स्वाधीनता के आन्तरिक स्वभाव में से हाँ' कहकर उस बात को श्रवण करने वाले तथा श्रवण कराने वाले सभी मोक्ष के मोती हैं तीर्थंकर भगवान ने भी हमारा–तुम्हारा और सब का सिद्धत्व स्थापित किया है।

इस टीका में परम अद्‌भुत अलौकिक बातें भरी पड़ी हैं। अपूर्व सत् की स्थापना करके सर्व प्रथम मोक्षका मंगलगान गाया है और यही सर्वोत्कृष्ट मंत्र है। उसकी घोषणा करके आचार्य महाराज संसार में सोये हुए प्राणियों को जगाते हैं। जैसे बीन के नाद से सर्प जाग्रत होकर आनन्द से डोलने लगता है उसी प्रकार इस देह रूपी गुफा में त्रिलोकीनाथ आत्मा विराजमान है और तेरी महिमा के गीत गाये जा रहे हैं, तब फिर तू क्यों न नाच उठेगा ? तू पूर्ण है प्रभु है इसे धर्मसपूर्वक सुनकर एकबार मस्तहोकर कहदे कि मुझे इस पूर्ण स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने तो तेरी स्वतन्त्रताके विज्ञापनकी घोषणा की है। जैसे राजा ढौंडी पिटवा कर घोषित करता है कि अब यहाँ मेरा राज्य है इसी प्रकार ज्ञानी होकर और आत्मलीन होकर तू घोषित करदे कि मेरा सिद्धपद का

राज्य है और इसमे ससारपद का नाश है। हम पहले गद्दी पर बैठे हैं और घोषणा की है, तू भी ऐसा ही कर।

अहा ! पचम काल में श्री कुन्दकुन्दाचार्यने और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत वर्षा की है। उसके श्रवण की मिठास और माधुर्यका क्या कहना? जिसे सुनते ही तत्त्व के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है कि अहो ! ऐसी बात तो कभी सुनी ही न थी। कैसी स्पष्ट बात है ! जिसके आत्मा में ऐसी निर्मल-स्पष्ट बात जम गई वह कभी पीछे नही रह सकता। मैं देख भाल कर कहता हूँ कि यह स्वीकार कर कि मै सिद्ध हूँ और तू भी सिद्ध है। ऐसे सुपात्र जीव को ही यह रहस्य सुनाया है।

सिद्धगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है। उसे किसी बाह्य आश्रय या अवलम्बन की आवश्यकता नही है। जो पराश्रय से उत्पन्न होता है वह स्वाभाविक अर्थात् स्वाधीन नही कहलाता। इसलिये पर निमित्त के बिना स्वभाव से उत्पन्न सिद्धगति ध्रुव और निश्चल है, चारो गतियाँ पर निमित्त से अर्थात् पुण्य–पाप से, विकार के कारण सयोग से उत्पन्न होती हैं, इसलिए देव, इन्द्र आदि पद मिले तो भी वह ध्रुव नही है। इसलिए चारो गतियाँ नाशवान हैं। और इसलिए इस पचम गति में विनाशीकता का अभाव है।

और फिर वह गति अचल है। चैतन्य उपयोग मे अशुद्धता, चलता जो कि पर निमित्त से अपनी भूल से थी वह अपने स्वभाव की प्रतीति और पुरुषार्थ से सर्वथा नष्ट कर दी गई है। इसलिए अचल गति प्राप्त हुई है। पुन अशुद्धता आने वाली नही है, इसलिए वह गति अचल है। जीव पहले परमात्मदशा में था, पश्चात् अशुद्ध हुआ है सो बात नही है। किन्तु अनादिकाल से अपनी ही भूल के कारण आत्मा में ससार दशा थी, उसका आत्मस्वभाव प्रतीति से सर्वथा नाश करके सिद्धगति प्रगट की है। वह कभी पलट नही सकेगी, इसलिए अचल है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ध्रुव, अचल और शुद्ध है, इसलिए यदि स्वभाव के प्रति लक्ष हो तो अशुद्धता नहीं हो सकती। किन्तु यह जीव पर लक्ष से विकार करके चारो गतियो में अनादिकाल से

भ्रमण कर रहा है। यदि वह एकवार सिद्ध-ध्रुवस्वभाव का आश्रय ले तो विश्रांति मिले। पुण्य-पाप की ओर का जो पर भाव है उसके निमित्त से चौरासी में परिभ्रमण हो रहा था। अब यदि वह स्वभाव के घर में आये तो शांति मिले। अज्ञानी जीव भी अपने द्वारा माने गये कल्पित घर में आकर शांति का अनुभव करते हैं।

जैसे एक आदमी धन कमाने के लिए परदेश गया। वहाँ वह एक नगर से दूसरे नगर में और दूसरे नगर से तीसरे नगर में गया वहाँ उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पश्चात् वह द्रव्य कमाकर अपने घर आया वहाँ उसे विश्रांति का अनुभव हुआ और वह वहीं पर जम गया तथा विचार करने लगा कि इस जगह बंगला बनाना चाहिए क्योंकि मुझे जीवन-पर्यन्त यहीं रहना है किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि उसकी आयु कब पूर्ण हो जायगी और वह यहाँ से कब, कहाँ चला जायगा। ज्ञानी कहते हैं कि वह अपनी रुचि विचार और प्रवृत्ति के अनुसार दूसरे भव में जायगा। यदि इस समय भव के अभाव का निर्णय न किया तो यह जीवन किस काम का? विपुल द्रव्य कमाया और कदाचित् देवपद प्राप्त किया तो भी किस काम का? जो सिद्ध भगवान ऐसी गति को प्राप्त हुए हैं उस सिद्धपद को पहिचानकर उसे हृदय में स्थापित कर वन्दना करते हैं। पहचाने बिना कोरी वन्दना किस काम की?

समय-सार अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप है परनिमित्ताधीन जो शुभा शुभ वृत्तियाँ उठती हैं वे मूलस्वभाव नहीं हैं। जैसे—पानी का मूल स्वभाव निर्मल है उसी प्रकार आत्मा का मूलस्वभाव पवित्र ज्ञान आनंद स्वरूप है। भूल और आकुलता आत्मा का स्वरूप नहीं है। ज्ञाता दृष्टा और स्वतन्त्रताका भाव क्या है यह बतलाने के लिए इस शास्त्रकी व्याख्या की गई है। पहले वन्दित्तु सव्वसिद्धे कहकर प्रारंभ किया है। जिसकी पूर्ण पवित्र स्वभावदशा प्रगट हो गई है उसे मुक्तदशा अर्थात् परमात्मभाव कहा जाता है। उसका अन्तरंग से आत्मा में आदर होना चाहिए। जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मेरा है। मैं उसका आदर करता हूँ। पुण्य-पाप आदि का आदर नहीं करता।

इस प्रकार अन्तरग से निर्णय होना ही प्रारंभिक धर्म है।

मैं बन्ध—विकार रहित हूँ। यह निश्चय करते ही मैं परमात्मा—सिद्ध समान हूँ, यह स्थापित किया अर्थात् सिद्धपरमात्मा को भाव से अपने आत्मा मे स्थापित किया, उसीका आदर करके 'मैं ही वैसा आत्मा हूँ' इस प्रकार का दृढ निश्चय करना सर्व प्रथम उपाय है, अथवा बधन से मुक्त होने का मार्ग है। सिद्धभगवान नीचे नही आते, किन्तु जिसके अत करण मे, ज्ञान में ऐसी दृढता हो गई कि मैं सिद्ध परमात्मा के समान हूँ, उसके विरुद्धभाव का नाश होकर ही रहता है।

श्रद्धा से मैं पूर्ण, परमात्मा, अशरीरी, अबन्ध हूँ, इस प्रकार मोक्ष स्वभाव का निर्णय करने के बाद अल्प राग—द्वेष और अस्थिरता रह सकती है। किन्तु वह उसे दूर करना चाहता है, इसलिए वह रहेगी नही, लेकिन दूर हो जायगी। उसके बाद मात्र पूर्ण आनंद रह जायगा। यह समझकर ध्रुव, अचल, अनुपम गति को अपने मे देखकर भाव में एकाग्ररूप वन्दना करता है। जिस मोक्ष गति को सिद्ध भगवान ने प्राप्त किया है वह अनुपम है, अर्थात् जगत् में जितने पदार्थ हैं, उसकी उपमा से रहित हैं। इसलिए जैसे उनमे कोई उपाधि अथवा कमी नही है वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार समझ कर परमात्मा की वन्दना करता है। इसलिए वह अपरमात्मत्व—विरोधभाव, राग, द्वेष और अज्ञानभाव को आदर नही देना चाहता। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के साथ मिलाने पर किंचित् उपमा मिल सकती है, किन्तु भगवान आत्मा को जगत् की किसी भी वस्तु की उपमा नही दी जा सकती। यह ऐसा परम अनुपम पद है।

अज्ञानी ने जड में आनन्द मान रखा है, किन्तु कही जड में से सुख नही आता। मात्र कल्पना से मान रखा है। उस कल्पना से भिन्न अपना शुद्ध चिदानन्दरूप ज्ञातृत्वभाव है। उसीका आदर करे और उस स्वरूप में स्थिरता करे तभी अनुपम मोक्षदशा प्रगट होती है। ससार के किसी पदार्थ की कोई उपमा उस दशा को नही दी जा सकती। जैसे—गायका ताजा घी कैसा है ? यह पूछने पर उस

घी को दूसरे पदार्थ की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसकी ताजगी और उसकी मिठास की उपमा के योग्य दूसरा पदार्थ नहीं मिलता। प्रायः सभी को घी प्रारम्भ से प्राप्त है। उसे कई बार चखा है तथापि उसका स्वाद वाणी में पूरा नहीं कहा जा सकता। तब फिर जो आत्मा परमानन्दस्वरूप अतीन्द्रिय है वह वाणी में कैसे आ सकता है?

आत्मा का स्वरूप अनुपम है इसलिए उसकी प्राप्ति और उसका उपाय बाह्य साधन से नहीं हो सकता। पुण्य की प्रवृत्ति अथवा मन वाणी और देह की प्रवृत्ति इत्यादि कोई मेरी वस्तु नहीं है इसलिये मेरे लिए सहायक नहीं है। हित–अहित का कारण मैं ही हूँ। इस प्रकार धर्मात्मा अपने शुद्धस्वरूप को पहिचानकर वन्दना करता है आदर करता है।

अज्ञानी जीव आमरस और पूरी तथा गुलाबजामुन इत्यादि खाता है तब खाते खाते चप–चप आवाज होती है उसमें वह लीन होकर स्वाद मानकर हर्षित होता है। किन्तु वह आमरस पूरी अथवा गुलाब जामुन मुँह में डालकर और चबाकर गले में उतारने से पूर्व दर्पण में देखे तो मालूम हो कि मैं क्या खा रहा हूँ? वह कुत्ते को कै (वमन) जैसा दृश्य मालूम होगा! किन्तु उसका लोलुपी स्वाद मानता है और यह नहीं देखता कि मैं गले में क्या उतार रहा हूँ। मिठास की उपमा देकर वह गद्‌गद् हो जाता है किन्तु वह नहीं सोचता कि पूरा जैसे पर माणुओं की अवस्था का यह रूपान्तर मात्र है। क्षणभर में मिठाई क्षणभर में जूठा और क्षणभर में विष्ठा हो जाती है। इसप्रकार परमाणु की त्रैकालिक वस्तुस्थिति को देखे तो उसको पर में सुख बुद्धि न हो। और फिर पर में सुख है ऐसी अपनी मानी हुई कल्पना किसी अन्य वस्तु में से नहीं आती किन्तु अपने शुभ गुण को विकृत करके स्वयं हर्ष-विषाद मानता है और अच्छे बुरे की कल्पना करता है। यदि उस विकार को दूर करदे तो पूर्ण आनन्दरूप मोक्षगति आत्मा में से ही प्रगट होती है। उसके लिए कोई उपमा नहीं मिलती। विकार अथवा उपाधिरूप में नहीं है इस प्रकार पहले श्रद्धा से विकार का त्याग करना चाहिए।

जैसे गुड और शक्कर दोनो की मिठास का अनुभव होता है और उन दोनो की मिठास का पृथक्-पृथक् अन्तर भी ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वाणी द्वारा उसका सन्तोषकारक वर्णन नही किया जा सकता। इसी प्रकार सिद्धपद ज्ञान में जाना जाता है, किन्तु वह कहा नही जा सकता। सबसे अनुपम, आत्मा का पवित्र स्वरूप वह अचिन्त्य पद सबसे विलक्षण है। इस विशेषण से यह बताया गया है कि चारो गतियो में जो परस्पर किसी प्रकार समानता दिखाई देती है, वैसा कोई प्रकार इस पचमगति में नही है।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी, ये चारो गतियाँ सदा विद्यमान हैं, कल्पित नही हैं। वे जीवोके परिणामका फल हैं। जिसने दूसरेको मार डालने के क्रूर भाव किये उसने अपनी अनुकूलता के साधन के लिए बीच मे विघ्न करनेवाले न जाने कितने जीव मार डाले, उनकी सख्याकी कोई सीमा नही है। तथा मैं कितने काल तक मारता रहूँगा, इसकी भी सीमा नही है। इसलिए उसका फल असीम—अनन्त दु ख भोगना ही है। और उसका स्थान है नरक। यह कही वृथालाप नही है। जो भी प्रतिकूलताको दूर करना चाहता है वह अपने तमाम बाधक-विरोधियोको मारना चाहता है। भले ही मरने वाले अथवा बाधा डालने वाले दो चार हो या बहुत हो, वह सबको नाश करने की भावना करता है। उसके फलस्वरूप नरक—गति प्राप्त होती है। यह कोरी गप्प नही है। देह, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मेरे हैं, इस प्रकार जो मानता है, वह पर में ममत्ववान होता हुआ महा हिंसा के भाव को सेवन करता है। क्योकि उसके अभिप्राय में अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करनेके भाव विद्यमान हैं। उन भावो की अनन्त सख्या में अनत जीवो को मारने का उनके सहार करने का भाव है। इस प्रकार अनन्त काल तक अनन्त जीवो को मारनेके और उनके बीच बाधक होनेके भावोका सेवन किया है। जिसके फलस्वरूप तीव्र दु खके सयोग की प्राप्ति होती है और वह नरकगति है। लाखो हत्याये करने वाले को लाखो बार फांसी होना इस मनुष्यलोक में सभव नही है। यहाँ उसे अपने क्रूर भावोके अनुसार

पूरा फल नहीं मिलता, इसलिये बहुत काल तक अनंत दुःख भोगने का क्षेत्र नरक स्थान शाश्वत् विद्यमान है। युक्ति पूर्वक उसे सिद्ध किया जा सकता है। तिर्यंचों के वक्र शरीर होते हैं। उन्होंने पहले कपट या वक्रता बहुत की थी वे मध्यम पाप करके पशु हुए हैं। मनुष्यों के भी मध्यम पुण्य है। देवों को बहुत से पुण्यका फल प्राप्त है इसलिए मनुष्यों के साथ पाक्षिक पुण्य की उपमा मिलती है। किंतु पुण्य पाप और विकार भाव से रहित मोक्षगति अनुपम है। इसलिए उस पंचमगतिसे विरोधी भाव—पुण्य पाप देहादि की जो क्रिया है उससे मुक्ति नहीं मिलती। क्योंकि जिस भाव से बंधन मिलता है उसी भाव से मुक्ति नहीं मिल सकती। और उससे प्रारंभ भी नहीं हो सकता। जिस भाव से मुक्ति होती है धर्मका प्रारम्भ होता है उससे किंचित् भाव बन्धन नहीं होता। इसलिए मोक्ष के मार्ग को भी किसी पुण्यादिक की उपमा नहीं मिलती क्योंकि पुण्य—पाप की सहायता के बिना यह आंतरिक मार्ग है। यह बाह्य क्रियाकाण्ड का मार्ग नहीं है। अत आत्मस्वभाव *में धर्म-साधन के लिए प्रारंभ में ही पुण्य—पाप की उपाधि से रहित* पराश्रय-हीन स्वतन्त्र सिद्ध परमात्मा का स्वभाव ही एक उपादेय है, ऐसा मानना होगा। उसकी श्रद्धा उसका ज्ञान और उसके स्वरूपमें स्थिरता करनेरूप अन्तरंग क्रिया ही स्वतंत्र उपाय है। यह समझकर अंतरंग में स्थिर हो जाना चाहिए। यह अन्तरंग स्वाभाविक क्रिया है। निर्णय में पूर्ण स्थिरता उपादेय है किन्तु साधक एक साथ सारी स्थिरता नहीं कर सकता इसलिए क्रम होता है। मोक्षमार्ग की भी बाह्य शुभप्रवृत्ति के साथ कोई समानता नहीं है। इसलिए मोक्ष और मोक्षमार्ग को कोई उपमा नहीं दी जा सकती क्योंकि दोनों स्वरूप और आत्मा के परिणाम आत्मा में ही हैं। मोक्ष और मोक्षका उपाय दोनों पराश्रयरहित स्वतन्त्र हैं। पर से भिन्न जो मुक्तिस्वरूप अपने में निश्चय क्रिया उसमें मन, इन्द्रिय इत्यादि कोई बाह्य वस्तु साधन नहीं है। इसी प्रकार उसके चारित्र में भी समझना चाहिए। इसलिए मोक्ष के साधनरूप में अंतरंग में तू है और साध्य-पूर्ण पद में भी तू है। उसकी श्रद्धा उसका प्रत्य

ज्ञान और उसरूप स्थिरता का चारित्र एव उसकी एकता और उसके फल इत्यादि के लिए कोई उपमा लागू नहीं होती।

मोक्षगति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम वर्ग हैं। उससे रहित अपवर्ग कहलाता है।

यहाँ पर धर्म, आत्मा के स्वभाव के अर्थ में नही किन्तु पुण्य के अर्थ में है। दया, दान, व्रत इत्यादि पुण्यभाव है। मोक्षगति और उसके प्रारम्भ का मार्ग पुण्यादि शुभ से परे है। हिंसादि पापो को छोडने के लिये शुभभाव के द्वारा पुण्य होता है। वह भी आतरिक धर्म मे सहायक नही है। अर्थात् रुपया पैसा भी ममता का वर्ग है।

काम अर्थात् पुण्यादि की इच्छा भी एक वर्ग है। यह सभी वर्ग ससार सबन्धी हैं। काम भोग की वासना से मोक्षगति भिन्न है। ऐसे वर्ग से भिन्न मोक्षरूप शुद्ध, सिद्ध कृतकृत्य पचमगति है। इस प्रकार अन्तरग में निश्चय करके स्थिर होनेवाले अनन्त आत्मा उस गति को प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी अन्तःकरण में अर्थात् ज्ञानस्वरूप में सिद्ध परमात्मदशा को पहिचान कर उसका आदर करो, तो उसमे स्थिरताके द्वारा मोक्षदशा प्रगट होगी। रुपये–पैसे से, पुण्य से, अथवा पर के आश्रय से अविकारी आत्मा का स्वभाव नही मिलता। किन्तु यदि कोई आत्मा को समझे तो उससे मिलता है। सम्पूर्ण स्वतत्रता की यह कैसी सुन्दर बात कही है।

ऐसे सिद्ध परमात्माकी पहिचान कराके, स्व-परके आत्मा में सिद्धत्व को स्थापित करके, पुण्य-पाप्य से रहित-पराश्रय रहित, शुद्ध आत्माका ही आदर करने को कहा है। यहाँ पर प्रथम निर्णय या श्रद्धा करने की बात है। पश्चात् राग-द्वेष घटाने का कार्य और अतरग स्थिरता अर्थात् चारित्र क्या है यह स्वयमेव समझ में आजायगा, और उससे राग को दूर करने वाले ज्ञान की क्रिया अवश्य होगी। किंतु आत्मा की सत्ता कैसी होती है यह ज्ञात न हो तो उपयोग अन्यत्र चक्कर लगाता रहता है। और मानता है कि मैंने इतनी क्रिया की है इसलिए मुझे धर्मलाभ

होता है। किन्तु ज्ञानी इसे नहीं मानता और कहता है कि हे भाई! पहले तू अपने को समझ। आचार्यदेव ने ग्रंथ का बहुत ही अद्भुत प्रारंभ किया है। और कहा है कि पहले सच्ची समझ को पाकर अपनी स्वतंत्रता का निर्णय कर। इससे तुझमें पूर्णता का स्थापन किया है।

कोई कहता है कि यह तो छोटे मुँह बड़ी बात हुई। अभी मुझमें कोई पात्रता नहीं है और मुझे भगवान बना देना चाहते हैं? किन्तु अभी 'हाँ' कह कर उसका आदर तो कर। तू परम शुद्धस्वरूप है। थोड़ी सी बात में (अच्छे-बुरे में) अटक जाने से तुझे शुद्ध आत्मा का प्रेम कहाँ से हो सकता है? जिसे देहादि में अत्यधिक आसक्ति है उसे ऐसा पवित्र ज्ञाताद्रष्टा पूर्ण आनन्दस्वरूप कैसे जमेगा? किन्तु एकबार तो इस ओर कुलाँट लगा! यदि सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये सत्य को सुनना चाहता है तो वह स्वीकार कर कि जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र हैं वैसा ही तू भी है। इसे स्वीकार कर इन्कार मत कर! पूर्णका आदर करने वाला पूर्ण हो जायगा। मैं विकार रहित हूँ और तू भी विकार या उपाधि रहित ज्ञानानन्द भगवान है। इस प्रकार अपने आत्मा में भगवत्ता स्थापित करके–निर्णय करके मोक्षगति कैसी है, यह सुनाते हुए आचार्य देव मोक्ष–मंडली का प्रारम्भ करते हैं। और कहते हैं कि अब परमपूज्य सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्व को कहता हूँ सो सुनो।

समयका प्रकाश अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का कथन करने वाला जो प्राभृत यानी अर्हंत् प्रवचन का अवयव (सर्वज्ञ भगवान के प्रवचन का अंश) है उसका मैं अपने और तुम्हारे मोह तथा कालुष्य का नाश करने के लिये विवेचन करता हूँ।

जिसमें रागद्वेष अज्ञान नहीं है वे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा हैं। उनके मुखकमल से (वाणी से) साक्षात् या परम्परा से जो प्रमाणरूप मिला है उसे ही मैं कहूँगा कुछ अपने घरका–मनमाना नहीं कहूँगा। जैसे कोई मकान खरीद कर दस्तावेज लिखवाता है तो उसमें पूर्व पश्चिम आदि की निशानी लिखवाता है और इसप्रकार तमाम प्रमाणको निश्चित

कर लेता है। उसमे चाहे जिस आदमी के दस्तखत नही चल सकते। इसी प्रकार आचार्यदेव यहाँ कहते है कि मै सर्वज्ञ के आगम-प्रमाण से यह 'समयप्राभृत' शास्त्र कहूँगा। मुझे कुछ मनमानी, ऊपरी या व्यर्थ की बातें नही कहना है, किंतु जो कहूँगा वह साक्षात् और परम्परा से आगत परमागमसे ही कहूँगा। उसमे सम्पूर्ण प्रमाणपूर्वक सम्पूर्ण सत्य बताऊँगा। जैसे दोज का चन्द्रमा तीन प्रकारो को बताता है—दोज की आकृति, सम्पूर्ण चन्द्रमा की आकृति और कितना विकास शेप है, इसी प्रकार यह परमागम आत्मा की पूर्णता, प्रारभिक अश और आवरण को बतलाता है। अनादि, अनन्त, शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों को साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञ के द्वारा प्रमाणित होने से, अर्हन्त भगवान के मुख से निकले हुये पूर्ण द्वादशाग भाग को प्रमाण करके अनुभव प्रमाण सहित कहते हैं, इसलिये वह परमागम सफल है। उसमें जगत् के सर्व पदार्थोंका विशाल वर्णन है। ऐसी वाणी साधारण, अल्पज्ञ प्राणी के मुख से नही निकल सकती।

जहाँ दो चार गाडी ही अनाज उत्पन्न होता है उसके रखवाले को अधिक अनाज नही मिलता, किन्तु जहाँ लाखो मन अनाज पैदा होता है उसके सेवक को बहुत सा अनाज मिल जाता है, इसी प्रकार जिसके पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट नही हुई है ऐसा अल्पज्ञ ज्ञानी थोडा ही कह सकता है, और उसके सेवक (श्रोता) को थोडा ही प्राप्त होता है, तथा दोनो को एक सा ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के केवलज्ञान की खेती हुई है, इसलिये वहाँ अनन्त भाव और महिमा को लेकर वाणी का बोध खिरता है। उसके सुनने वाले—सेवक गणधरदेव हैं। वे बहुत कुछ ग्रहण करके ले जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान, तीर्थंकर, देवाधिदेव का प्रवचन निर्दोष है। उनकी सहज वाणी खिरती है। मैं उपदेश दूँ, इस प्रकार की इच्छा उनके नही होती। जैसे मेघकी गर्जना सहज ही होती है उसीप्रकार 'ॐ'कार की भी सहज ध्वनि उद्भूत होती है, वह द्वादशाग सूत्ररूप में रची

जाती है। ऐसे जिनागम या जिनप्रवचन कहा जाता है। उस शास्त्र के फलस्वरूप हम अनादिकाल से उत्पन्न मोह राग द्वेष आदि का नाश होना कहेंगे। संसार में पुण्य देह इन्द्रिय आदि मेरे हैं यह अनादि कालीन अज्ञानभाव है। यह बात नहीं है कि जीव पहले शुद्ध आत्मस्वरूप था और बाद में अशुद्धदशा वाला हो गया है। किन्तु मेरी वर्तमान प्रगट अवस्था में अशुद्धता भी है और त्रिकाल ध्रुवस्वभाव में पूर्ण शुद्धत्व भी है। इसका वर्णन आगे अनेक प्रकार से आयगा। यह वर्णन स्व-पर के मोह का नाश करने के लिये है। इस शास्त्ररचना में पुजवाने मान-बड़ाई तथा मतमतांतर की बाड़ बांधने का अभिप्राय नहीं है।

परिमाणका अर्थ है—यथास्थान अर्थ के द्वारा वस्तुस्वरूपको सूचित करनेवाली शास्त्र रचना। पुरुष की प्रामाणिकता पर वचन की प्रामाणिकता निभर है। केवलज्ञानी निर्दोषस्वरूप निश्चित होने पर उनके वचन से परमार्थ-सत्यस्वरूप जाना जा सकता है। शब्द से अर्थ ज्ञात होता है। जैसे 'मिश्री' शब्द से मिश्री नामक पदार्थ का ज्ञान होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की वाणी से वाच्य पदार्थ का स्वरूप ज्ञात होता है। आगम का अर्थ है शास्त्र ज्ञान की मर्यादा है पूर्णस्वभाव सहित जानना। यह समयसार शास्त्र अनेक प्रकार से सर्वोत्तम प्रमाणता को प्राप्त है।

किन्तु जिसको बुद्धि में दोष है उसे शास्त्र की बात नहीं जमती वह निषेध करता है। वादविवाद या तर्क से वस्तु का पार नहीं आ सकता। पत्थर की कसौटी हो तो सोने की कीमत हो किन्तु कोयले पर सोने की परीक्षा नहीं हो सकती। इसी प्रकार सर्वज्ञ के अपूर्व न्याय (वचन) पात्र जीवों को हृदय की परीक्षा के द्वारा निश्चय होते हैं। कदाग्रही अपाय से निश्चय नहीं हो सकता। आचार्यदेव इस शास्त्र की महत्ता-प्रतिष्ठा करते हुये कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है और वह अनादि-अनन्त परमागम शास्त्र चला आ रहा है उसी का यह नाम है। मनुष्य की समझ में नहीं आता तब वह कहता है कि—यह

नया है, यह मिथ्या है, इत्यादि। किन्तु किसी के कहने से कुछ मिथ्या नही हो जाता।

पहले अनन्त भव धारण किये हैं, उनमे यह बात अनन्त काल मे भी कभी सुनने को नही मिली कि आत्मा पर से निराला है। यदि कभी अच्छा समागम मिलता है, सत्य सुनने को मिलता है तो सबसे पहले इन्कार कर देता है। जैसे लक्ष्मी टीका करने आती है तो अभागा मुँह धोने चला जाता है, इसी प्रकार वह ऊँची बात सुनकर मोक्ष की बात सुनकर पहले ही इन्कार करता है कि हम तो पात्र नही हैं, किन्तु आचार्यदेव सबकी पात्रता बताते हुये कहते हैं कि तुम अनन्तज्ञानस्वरूप भगवान हो, स्वतत्र हो।

जैसे बहुत समय से पानी गरम किया हुआ रखा हो तथापि वह सारा का सारा सत्व उष्णरूप नही हो गया है; अनित्य उष्ण अवस्था होने पर भी उसका शीतल स्वभाव विद्यमान है। यदि वह चाहे तो जिसमे गरम हुआ है उसी को मिटा सकता है। अग्निको बुझाने की शक्ति पानी मे कब नही थी ? वह तो उष्ण होकर भी अग्नि को बुझा सकता है, अपने स्वभाव को व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा त्रैकाल पूर्णज्ञान–आनन्द स्वरूप है। देह, इन्द्रियं, राग-द्वेष और पुण्य–पाप की अनित्य उपाधिरूप नही है। जडकर्म के निमित्ताधीन वर्तमान क्षणिक अवस्था में राग की तीव्रता-मदता मालूम होती है, उसे नष्ट करने की शक्ति आत्मा में प्रतिक्षण स्वाधीनतया विद्यमान है। इसलिये यह बात स्पष्ट समझ में आ जायगी कि जैसे गर्म पानी का घड़ा यदि टेढा होकर अग्निपर कुछ गर्म पानी गिर जाय तो अग्नि बुझ जाती है, और फिर शेष पानी ठण्डा हो जाता है, और तब पानी के स्वभाव पर विश्वास जम जाता है। कोई कहता है कि हम तो कर्म के सयोग के वश मे पडे हुये हैं, क्या करें, कर्मों का जोर बहुत है, कर्म हैरान करते हैं, किसे खबर है कि कल कर्म का कैसा उदय आयगा ! इसलिये हमे तो रुपयो–पैसो की सम्हाल करनी चाहिये, इत्यादि।

इस प्रकार जो कम दिखाई नहीं देते उनका तो विश्वास है और सदा स्वयं सबको जानने वाला होने पर भी अपना विश्वास नहीं करता ! भविष्य के फल की कारणरूप अप्रगट शक्ति का विश्वास करता है पर का विश्वास करता है और इधर प्रगट अपनी सुध नहीं है ! इसलिये सत् की बात सुनते ही कह उठता है कि हम अभी पात्र नहीं हैं । अत आचार्यदेव उन्हीं को उपदेश देते हैं जो यह स्वीकार करें कि आत्मा त्रिकाल ज्ञायक है पर से भिन्न और स्वरूप से पूर्ण है शक्ति में सिद्ध भगवान के समान है । पहले श्रद्धा में पूर्ण का आदर करने की बात है । अनन्त जीव इसे स्वीकार करके मोक्ष गए हैं । शास्त्र में कथा है कि काल का कठियारा अपूर्व प्रतीति करके ४८ मिनिट में मोक्ष गया इसी प्रकार और भी अनन्त जीव मोक्ष गए हैं उन्हें तो याद नहीं करता और कर्म को यह कह कर याद किया करता है कि हके–मुँदे कर्मों की किसे खबर है ? ऐसे अपात्र जीवों का यहाँ नहीं लिया है । जिन्होंने ज्ञानी से सुनकर आत्म प्रतीति की है कि अहो ! मैं ऐसा शुद्ध पूर्ण आत्मा हूँ मेरी भूल से अनन्त शक्ति रुकी हुई थी ऐसी श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता के द्वारा ४८ मिनिट में ही अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुये हैं । उनके हजारों दृष्टांत शास्त्रों में विद्यमान हैं । उनका स्मरण करके मैं भी वैसा हो जाऊँ इस प्रकार विश्वास लाना चाहिये । किन्तु अज्ञानी जीव उसका निर्णय नहीं करता और पर का निर्णय करता है । जो बात जम गई है उसी के विश्वास के बलपर उसमें संभावित विघ्नको वह याद नहीं करता । परवस्तु का तो विश्वास है किन्तु तू उससे भिन्न अखण्ड ज्ञायक तत्त्व है यह सुनाने पर भी उसका विश्वास अथवा रुचि नहीं करता और कहता है कि हम पात्र नहीं हैं ! छूटने की बात सुनकर हर्ष क्यों नहीं होता ? योग्य जीव तो तत्त्व की बात सुन कर उसका बहुमान करता है कि जितनी प्रशंसा के गीत शास्त्र में गाये जाते हैं वह मेरे ही गीत गाये जाते हैं ।

सूक्ष्मबुद्धि के बिना सर्वज्ञ का कथन नहीं पकड़ा जाता जैसे मोटी सुंसी से मोती नहीं पकड़ा जाता । इसी प्रकार स्वयं जैसा है वैसा सम

झने की रीति भी सूक्ष्म है। वह भूलकर दूसरा सब कुछ करे, किन्तु उसका फल ससार ही है। इस अवतार को रोकने के लिये अनन्त-तीर्थंकरो ने पुण्य-पाप रहित की श्रद्धा, उसकी समझ तथा स्थिरता का उपाय कहा है। उसे तो नही समझता है और कहता है कि 'हमे यह कथन बारीक मालूम होता है, यह नही समझा जाता।' यह बात सज्जन के मुख से शोभा नही देती, इसलिये मुक्तस्वभाव का ही आदर कर। मुक्तस्वभाव का आदर करने वाला कर्म अथवा काल का विघ्न नही गिनता। यह सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र है अर्थात् केवली भगवानके द्वारा यह शास्त्र कहा गया है और उनके पास रहने वाले साक्षात् श्रवण करने वाले सत-मुनियो की परम्परा से समागत है। तथा केवली के पास रहते हुये साक्षात् श्रवण करने वाले अथवा स्वय ही अनुभव करने वाले श्रुतकेवली गणधरदेवो से कहा हुआ होने से (जैसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा वैसा ही सुना और उनसे आया हुआ परमागम शास्त्र होने से) यह आगम प्रमाणभूत है। इसलिये कई लोग जैसे निराधार पौराणिक बातें करते हैं, वैसी कल्पना वाला यह शास्त्र नही है।

इसप्रकार पहली गाथा में आत्मस्वभावका जो वर्णन किया है, उसकी प्रमाणता बताई है। उसमें साध्य-साधकभाव तथा अनन्त आत्माओ मे से प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है, स्वतन्त्र है, यह स्थापित किया है। यदि कोई कहे कि आत्मा मोक्ष जाकर वापिस आजाये तो क्या हो ? उसकी यह शका वृथा है। क्योकि यहाँ पर भी अल्प-पुरुषार्थ से जितना राग छेदता है उसे फिर नही होने देता, तो फिर जिसने पूर्ण रागद्वेष का नाश करके अनन्त-शक्ति प्रगट की है वह फिर से राग क्यो उत्पन्न होने देगा ? और जब राग नही होता तो फिर वापिस कैसे आयेगा ? मोक्ष जाकर कोई वापिस नही आता। एकबार यथार्थ पुरुषार्थ किया कि फिर पुरुषार्थ नही करना होता। मक्खन का घी बन जाने पर फिर उसका मक्खन नही बन सकता। इसीप्रकार एकबार सर्व-उपाधि और आवरण का विनाश किया कि फिर ससार में आना नही होता। इसलिये जिनने

ध्रुवगति प्राप्त की है उसमें चार गतियों से विलक्षणता कही गई है और उसकी अचलता कहकर संसारपरिभ्रमणका अभाव बताया गया है, तथा अनुपम कहकर उन्हें संसार की उपमा से रहित बताया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी कल्पना से कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु जो सर्वज्ञ वीतराग से आया हुआ है उस मूलशास्त्र का रहस्य आचार्य परम्परा से चला आरहा है और जो सर्वज्ञ कथित है तथा जो अर्थ को यथास्थान बताने वाला है ऐसा परिभाषण-सूत्र कहूँगा।

आचार्यदेव ने मंगल के लिये सिद्धों को नमस्कार किया है।

मंगल (मंग+ल) मंग=पवित्रता ल=लाये। अर्थात् जो पवित्रता को लाता है सो मंगल है। आत्मा की पूर्ण पवित्रता आत्मभाव से प्राप्त होती है वह भाव मांगलिक है। आत्मा ज्ञानानन्द, अविकारी है उसे भूलकर रागादि में अहंभाव या ममकार करता है उस ममतारूपी पाप को आत्मस्वभाव की प्रतीति से टालकर जो पवित्रता लाता है सो मंगल है। सर्व उपाधियों से रहित पूर्ण शुद्ध सिद्धको ही [पूर्ण साध्य को ही] नमस्कार करता हूँ। अर्थात् उस वास्तविक स्वभाव का ही आदर करता हूँ और उससे विरुद्ध भाव का (पुण्य पाप इत्यादि का) आदर नहीं करता।

इन्द्रोंके पास बहुत वैभव है तथापि वे वीतरागी और त्यागी-मुनियों का आदर करते हैं। इसके अर्थ में 'हमें जो संयोगी वस्तु मिली है उसका हमारे मन में आदर नहीं है यह समझकर शुद्धात्मा का आदर करता है वही यथार्थ वंदना है शेष सब रूढ़िगत वंदना है। पर के संबंध से रहित अखंड ज्ञानानंद पवित्र जो परमानंद वीतरागपना है सो सत्य है ऐसा निश्चय करके जो उसका आदर करता है तभी वह वंदना करने वाला उस भाव में सच्ची वंदना करता है और शुभ-अशुभ विकार विरोध भाव का आदर नहीं करता। इसप्रकार अविरोध की अस्ति में विरोधभाव की नास्ति आगई।

समार मे—चौरासी मे परिभ्रमण करते हुये आत्मा को शुद्ध—आत्मा ही साध्य है। स्त्री पुत्रादि मे ससार नही है, किन्तु आत्मा की अज्ञान, रागद्वेषरूप वर्तमान एक अवस्था में ससार है। वह विपरीत अवस्था जीव मे होती है, वह विकारी अवस्था है। आत्मा मे ससारदशा और सिद्ध—निर्मलदशा दोनो होती हैं।

जड के ससार नही होता, क्योकि उसे सुख—दु ख का सवेदन नही होता और उसमे ज्ञातृत्व भी नही है, इसलिये मै देहादि, रागादि से भिन्न हूँ, इसप्रकार स्वरूपको समझे विना देह, इन्द्रिय, पुण्य-पाप इत्यादि मे जो अपनेपन की दृष्टि होती है वही अज्ञानभाव है; और उसी को परमार्थ से ससार कहा है। ससारभाव कहाँ है यह निश्चय करो! जैसे मिश्री शब्द के द्वारा मिश्री पदार्थ का ज्ञान होता है इसी प्रकार ससार शब्द भी वाचक है। उसका वाच्यभाव यह है कि परवस्तु मेरी है, पुण्य पाप और देहादि की क्रिया मेरी है और इस प्रकार अपनेपन की मान्यता ही ससार है।

इस विकार अवस्थामे शुद्ध आत्मा साध्य है। पानी अग्निके निमित्त से उष्ण अवस्थारूप हुआ है। उस उष्ण अवस्था के समय भी पानी की शीतलता पानी मे रहती है। ससारी जीव को अज्ञान—आकुलता से रहित निराकुल, शान्तस्वभाव साध्य है। जैसे तृपातुर को उष्ण जल में से शीतल स्वभाव प्रगट करना साध्य है। इसीप्रकार यदि गरम पानी में शीतलता के गुण को मानें तो फिर पानी को ठण्डा करने का उपाय करके प्यास भी बुझा सकता है। इसीप्रकार वर्तमान पर्याय में अशुद्धतारूप उष्णताके होने पर भी चैतन्य द्रव्य स्वभाव से शुद्ध—शीतल है, यह माने तो उष्णता को दूर करके शीतलता को भी प्रगट करनेका उपाय कर सकता है।

निमित्त पर दृष्टि न दे तो अशरीरी, अविकारी, अनादि-अनन्त, पूर्णज्ञानानन्दघन है। उस शुद्धताका अपार सामर्थ्यरूप आत्मतत्व भरा हुआ है, वह शुद्ध आत्मा साध्य है। आत्मा में त्रिकाल शक्ति से शुद्धता है।

और वर्तमान में रहने वाली प्रत्येक अवस्था में निमित्त के अनुसरण से विकार भी है। विकार के कहते ही अविकारी का ज्ञान हो जाता है अन्दर की ध्रुव शक्ति को देखना चाहिये। जैसे भैंस खूंटे के बल पर घूमती है लोग उसे न देखकर भैंस की क्रिया का बल देखते हैं किन्तु अक्रिय खूंटा जो वहां विद्यमान है उसके बल को नहीं देखते। इसी प्रकार लोग बाहर से बाह्य क्रिया को ही देखते हैं अथवा पुण्य-पाप की वृत्तिरूप विकार को ही देखते हैं किन्तु अक्रिय शुद्ध त्रिकाल ज्ञानमय आत्मा को नहीं देखते। आत्मा त्रिकाल विकाररहित अक्रिय खूंटे की तरह ज्ञाता स्वभावरूप से विद्यमान है उसे न देखकर क्षणिक पराश्रित वृत्ति की क्रिया को देखते हैं और जो त्रिकाली एकरूप आत्मा स्वयं है शुद्धशक्तिरूप विद्यमान है उसे नहीं देखते। राग-द्वेष और मोह के पराधीन होने वाला क्षणिकविकार नाशवान है और सर्व उपाधिरहित अबाधित ज्ञायकतत्त्व अविनाशी है इसलिए वही आदरणीय है। जो उस साध्य करता है वह सिद्ध होता है और जो रागद्वेष की क्षणिक वृत्ति के बराबर आत्मा को मानता है वह वर्तमान सक्रियता पर अटक जाता है और संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये प्रथम ही शुद्धता की स्थापना करके उसी को साध्य बनाने का उपदेश है। यह बात अनन्त काल में जीवों ने नहीं सुनी वे बाह्यक्रिया या पुण्य की क्रिया में संतुष्ट हो रहे हैं। धर्म के नाम पर बाह्यक्रिया तो अनन्तबार की है और उससे शरीर को सुखाया है किन्तु शरीर के सूख जानेसे आत्मा को क्या लाभ है? पर के अवलम्बन से तो धर्म माना किन्तु यह नहीं माना कि मैं पर से भिन्न स्वतन्त्र हूँ। आत्मा सर्वयोगी तत्त्व है अनादि-अनन्त है। जो है उसका भविष्य में अन्त नहीं है। संसार की विकारी अवस्था क्षणिक है। वर्तमान एक समयमात्रकी अवस्थामें परनिमित्ता-धीन भाव से युक्त होता है वह क्षणिक अवस्था उत्पन्नध्वंसी है उसके लक्ष को छोड़कर त्रिकाल शुद्धस्वभावी परमात्मस्वरूप को साध्य बनाने की आवश्यकता है और वह सम्पूर्ण गुणस्वरूप होने से संसारी जीवों के लिए ध्येयरूप है।

जैसे पानी मे उष्ण होने की योग्यता के कारण अग्नि के निमित्त से वर्तमान उष्णता है, उसी प्रकार ससारी जीवो मे अपनी योग्यताके कारण क्षणिक अशुद्धता है, उसका अभाव करने वाला साध्यरूप जो शुद्धात्मा है वही ध्येय–करने योग्य है। और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा है, इसलिये उनको नमस्कार करना उचित है। आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा को जिनने प्राप्त किया है, उन्हे पहिचानकर उनको नमस्कार करना और उनका आदर करना उचित है। आत्मा अपने स्वरूपमें रहता है। यह कहना कि आकाश मे रहता है, केवल उपचार और कथनमात्र है। गुड मटके मे नही, किन्तु गुड, गुड में है, और मटका मटके में है, दोनो भिन्न भिन्न हैं। कोई वस्तु किसी परवस्तु के आधार से रहती है, यह कहना वैसा व्यवहार है जैसे पीतलके घडे को पानी का घड़ा कहना। उसी प्रकार भगवान आत्मा रागद्वेष और कर्मों के आवरण से रहित है, उसे देह वाला, रागी, द्वेपी कहना सो व्यवहार है।

प्रश्न:—यदि पतेली का आधार न हो तो घी कैसे रहेगा ?

उत्तर:—घी और पतेली भिन्न ही है। घी, घी के आधार से है, और पतेली, पतेली के आधार से है। घी के बिगड़ने पर पतेली नही बिगड जाती। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अपनेरूप में है, पररूप में नही है। इसलिये सिद्धभगवान देह के आधार के बिना अपने आत्मा के आधार से ही हैं। सिद्धों को 'सर्व' विशेषण दिया गया है, इसलिये सिद्ध अनत हैं यह अभिप्राय व्यक्त किया है। अत 'ज्योति में ज्योति मिल जाती है, सभी आत्मा एक हैं अथवा शुद्धात्मा एक ही है,' यह कहने वाले अन्य मतावलंबियो का निषेध हो गया। क्योंकि जो ससार में पराधीनतारूप सुख–दु ख को स्वतन्त्रतया प्रथक् रखकर सत्ता का अनुभव करता है वह किसीकी सत्तामें मिल नही जाता, वह उस विकार का नाश करके पूर्ण शुद्धोपयोगी होने के बाद परसत्तामें एकमेक होकर स्वाधीन सत्ताका नाश कैसे होने देगा ?

यहाँ भी प्रथक तत्त्व है। दुःख मोममें में तो प्रसंग रहे और अनन्तसुख, स्वाधीन, मार्तंडदशा प्रगट करके परसत्तामें मिलकर पराधीन हो जाय यह कैसे हो सकता है ? किसी को बिच्छू काटे तो उसकी वेदना को दूसरा आदमी नहीं भोग सकता इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा को दुःख का संवेदन देह की प्रीति के कारण स्वतन्त्रतया होता है परंतु उस रागद्वेष अज्ञानरूप संसारी-विकारी अवस्थाको आत्मप्रतीति और स्थिरता के द्वारा नाश करने पर अनन्तकाल तक अव्याबाध शाश्वत् सुख को भोगता रहता है। उसे सर्व सिद्ध स्वतन्त्रतया भोगते हैं। इसलिये सब एक ही शुद्धात्मा हैं। यह कहने वाले अन्य मतावलम्बियोंका व्यव च्छेद हो गया।

श्रुतकेवली शब्दके अर्थ में श्रुतका अर्थ अनादि अनंत प्रवाह रूप आगम' है। श्रुतकेवली अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी (समस्त द्वादशांग) को जानने वाले। गणधरदेव आदि जो श्रुतकेवली हैं उन से इस समयसार शास्त्र की उत्पत्ति हुई है। आचार्य कहते हैं कि मैंने यह कोई कल्पना नहीं की है, किन्तु अनादिसे शुद्ध आम्नायानुसार चला आया प्रवाहरूप आगम जैसा है उसी प्रकार कहा है। इस परमागम को समझने के लिये अन्तरंग का अनुभव चाहिए। वादविवाद से पार नहीं आ सकता। सूक्ष्मज्ञान का अभ्यास चाहिये बाहर से कहीं नहीं जाना जा सकता।

श्रुत का अर्थ है आगम शास्त्र अर्थात् सर्वज्ञ से आई हुई वाणी उस श्रुतसे गूंथे गये सूत्र। एक व्यक्ति के द्वारा निमित्तरूप से जो वाणी कही गई है उस अपेक्षा से वह आदि कहलाता है और एक व्यक्ति के द्वारा कहने से पहले भी आगमरूप शास्त्र की वाणी थी। इस अपेक्षा से अनादि के प्रवाहरूप आगम-वाणी हुई। केवली के उपदेश से विनिर्गत शास्त्र अर्थात् उस केवलज्ञानी के द्वारा कथित आगम अनादिकाल से है। सर्वज्ञ अर्थात् निरावरण ज्ञानी। जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें नहीं जानना हो ही नहीं सकता। जो ज्ञान

रण (उपाधि) रहित, निर्मल, अखण्ड ज्ञान प्रगट हुआ उसमे कुछ अज्ञात नही रहता। जिसका स्वभाव जानना है उसमे क्रम रहित, सीमातीत जानना होता है, इसलिये जिसके पूर्ण, निरावरण, ज्ञायक-स्वभाव प्रगट है वह सर्वज्ञ है। फिर श्रुतकेवली से जो सुना, आत्मासे अनुभव करके जाना, वह परम्परासे आचार्य द्वारा आया हुआ श्रुतज्ञान है, और जो उस सर्वश्रुतज्ञान मे पूर्ण है वह श्रुतकेवली है। सर्वज्ञ-वीतरागदशा प्रगट होनेके बाद जिसको वाणीका योग हो उसकी सर्व अर्थसहित वाणी होती है। उसको साक्षात् गणधरदेव द्वादशाग सूत्र में गूँथते हैं। उसमे भी अन्तरग मे भावज्ञान–भावशास्त्रज्ञानके तर्क की बहुलता से पूर्ण छद्मस्थ ज्ञानी–द्वादशाग के जानने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस प्रकार शास्त्र को प्रमाणता बताई है और अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध किया है। और अन्यमती अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप चाहे जिस प्रकार से कहता है, उसका असत्यार्थ-पना बताया है।

प्रारभ मे कहा गया है कि इस शास्त्र में 'अभिधेय' तथा 'सबन्ध' पूर्वक कहेगे। अभिधेय अर्थात् कहने योग्य वाच्यभाव। पवित्र, निर्मल, असयोगी, शुद्ध आत्मस्वभाव कहने योग्य है, वह वाच्य है और उसका बताने वाला शब्द वाचक है। जैसे 'मिश्री' शब्द वाचक है, और मिश्री पदार्थ वाच्य है। उस वाच्य–वाचक सम्बन्धसे आत्माका स्वरूप कहेगे। उसमे आत्मा कैसा है ? यह बताने के लिए शब्द निमित्त है, इसलिये वस्तु को सर्वथा अवाच्य न कहकर जैसा त्रैकालिक वस्तु का स्वभाव है उसे उसी क्रम से कहा जायगा ॥ १ ॥

पहली गाथा में समय का सार कहने की प्रतिज्ञा की है। वहाँ शिष्य को ऐसी जिज्ञासा होती है कि "समय क्या है ?" इसलिये अब पहले समय अर्थात् आत्मा को ही कहना चाहिये। जिसको रुचि (आदर) है उसी के लिये कहते हैं। यदि आकाक्षा बलात् कराई जाय तो प्रस्तुत जीव पराधीन हुआ कहलायगा। किन्तु ऐसा नियम नही है। जिसे

अन्तरंग से स्वरूप को समझने की चाह है वह पूछे और उसके लिये हम शुद्धात्मरूप समय को कहेंगे। इसलिये वह समय क्या है ? यह समझने की जिज्ञासा जिस शिष्य को हुई है वही समझाने के योग्य है। जिस स्वाभाविक आनन्द में परावलम्बन की आवश्यकता नहीं है और जो पूर्ण प्रभु स्वाधीनस्वरूप है वह कैसा होगा ? वैभव की और कमाई की बात सुनकर जैसे पुत्र पिता से पूछता है कि वह कैसे होगी ? उसी प्रकार शिष्य प्रथम तत्त्व की महिमा को सुनकर आदरपूर्वक पूछता है। जिसे सत्यकी चाह है उसे पराधीनताके दुःख की प्रतीति होनी चाहिये। दुःखरहित क्या है ? इसके विचार सहित जिसे पराधीनता का दुःख हुआ है कि अरे ! मैं कौन हूं मेरा क्या होगा ? कोई भी संयोगी वस्तु मेरी नहीं है इस प्रकार प्रतीति होनी चाहिये किन्तु यह कहाँ से सूझ सकता है ? बाह्य विषयों में सुख मान रखा है प्रतिष्ठा पैसा और हलुवा पूरी में सुख मान रखा है किन्तु उसमें सुख नहीं है। जितनी पराधीनता है वह सब दुःखरूप है। पराधीनता की व्याख्या यह है कि एक अंश भी राग की वृत्ति उत्पन्न हो पर का आश्रय लेना पड़े तो संपूर्ण स्वाधीनता नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी वर्तमान पर्याय की अशक्ति की अपेक्षा से अस्थिरता के कारण संपूर्ण स्वाधीन नहीं है। पर की जितनी आवश्यकता होती है उतना ही दुःख है। इसलिये परके अवलंबन में स्वाधीनता नहीं हो सकती। रात-दिन जीव पराधीनता भोगता भोगता है किन्तु उसपर ध्यान नहीं देता।

सिद्ध भगवान का पराश्रयरहित स्वाधीन सुख कैसा होता है इसे कभी नहीं जाना। यदि उसे एकबार रुचिपूर्वक सुनले तो संसार में सर्वत्र आकुलतामय भयंकर दुःख ही दुःख दिखाई देगा। इस प्रकार पराधीनता का दुःख देखकर पूछने वाले को ऐसी अपूर्व जिज्ञासा होगी कि हे प्रभु ! सर्वदुःखरहित स्वाधीन समयका स्वरूप कैसा होगा ? और वह इस समयसारशुद्धात्मा बराबर समझ लेगा। जिसे आकांक्षा नहीं है वह तो पहले से ही इन्कार करेगा कि जो यह शुद्ध देह-इंद्रिय रहित आत्मा कहते हो सो वह क्या है ? जहाँ ज्ञानी 'शुद्ध आत्मा नित्य

है' इसके अस्तित्व को स्थापित करना चाहता है, वहाँ वह पहले ही शका करके विरोधभाव को प्रगट करता है। किन्तु जो सुयोग्य जीव है वह आदर से बहुमानपूर्वक उछल उठता है कि अहो ! यह अपूर्व बात है, और इसप्रकार स्वीकार करके प्रश्न करता है, 'न्याय' से बात करता है। न्याय शब्द मे 'नी' धातु है, 'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वास्तविक स्वभाव है उस ओर ले जाना। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ ऐसी अपूर्वरुचि वाली आकाक्षा होती है। 'है' इसप्रकार आदरवाली जिज्ञासा से समझना चाहे तो वह सपूर्ण सत्य को समझ लेगा। किन्तु यदि पहले से ही इन्कार करे तो नास्ति मे से अस्ति कहाँ से आयगी ? अस्ति मे से ही अस्ति आती है।

कोई कहे कि ज्ञानियो ने आत्मा की बहुत महिमा गाई है, लाओ, मैं भी देखूं और आँखें बन्द करके, विचार करके देखने जायें तो मात्र अन्धकार या धुन्धला ही दिखाई देगा, और बाहर जड पदार्थका स्थूल-समूह दिखाई देगा। किन्तु उस अन्धेरे को, धुन्धले को, तथा देह, इन्द्रिय इत्यादि को जानने वाला, नित्यस्थिर रहने वाला कैसा है ? इसके विचार में आगे नही बढता, क्योकि अतीन्द्रिय आत्मा इस देह से भिन्न परमात्मा है, उसका विश्वास नही करता। परन्तु जिसने अतरग से आदर किया है उस श्रोता की पात्रता से यहाँ बात कही गई है। हाँ कहने के बाद यदि वास्तविक शका से पूछे तो बात दूसरी है। अन्तरग से आदरपूर्वक आकाक्षा से प्रश्न होने पर उत्तर प्राप्त होता है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥२॥

अर्थ—हे भव्य ! जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसे निश्चय से स्वसमय जान, और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशो में स्थित है उसे परसमय जान।

यहाँ यह नहीं कहा है कि अभी तू पात्र नहीं है कर्म बाधक है ' किन्तु पात्रता का स्वीकार करके समझाते हैं कि पुण्य-पापका भाव विकार है अपवित्र है और आत्मभाव पवित्र है इसलिये अपवित्र भाव के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। चारित्र का अर्थ है अन्तरंग स्वरूप में स्थिर होना गुण की एकाग्रता के स्वभाव में जम जाना। ऐसे शुद्धभाव को भगवान ने चारित्र कहा है। बाह्य में अर्थात् क्रियाकांड, पुण्य-पाप, वस्त्र अथवा किसी वेष इत्यादि में आत्मा का चारित्र नहीं होता बाह्यक्रिया में तप नहीं होता किन्तु इच्छारहित अतीन्द्रिय ज्ञान में लीन होने पर इच्छा के सहज निरोध होने को भगवान ने तप कहा है। ऐसी श्रद्धा होने के बाद जितनी लीनता करता है उतनी ही इच्छा रुकती है। क्रमशः सर्व इच्छा दूर होकर पूर्ण आनन्द प्रगट होता है।

पानी में वर्तमान अग्नि के सम्बन्ध से उष्णता होने पर भी उसमें प्रतिक्षण अग्नि को बुझाने की शक्ति रहती है इसीप्रकार आत्मा में प्रतिक्षण विकारका नाश करनेकी शक्ति विद्यमान है। जैसे अग्नि के संयोग की क्षणिक अवस्था के लक्ष्य को छोड़े तो पानी शीतल स्वभावी ही दिखाई देगा इसीप्रकार पुण्यपाप और पर के सम्बन्ध का लक्ष्य छोड़े तो आत्मा का शुद्धस्वभाव दिखाई देगा। चैतन्य-स्वभाव शुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्ररूप है। हे शिष्य ! तू उसे स्वसमयरूप जान। यही बात यहाँ कही गई है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें शक्ति है यह देखकर आत्मा ऐसा है यह समझ। इसीलिये कहा है कि जो नित्य शुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्ररूप है वह आत्मा है। जिसमें यह शक्ति देखते हैं उसी से ज्ञानी कहते हैं किसी पत्थर जड़ अथवा भैंसे से नहीं कहते कि तू इस बात को समझ। इसलिये यह कहकर इन्कार मत कर कि मैं समझता नहीं हूँ और इसप्रकार का बहाना भी मत बना कि मैं अभी तैयार नहीं हूँ या मेरे लिये अच्छा अवसर अथवा अच्छा संयोग नहीं है। भली भाँति न्याय युक्ति और प्रमाण से कहा जायगा सो उसे उमंगपूर्वक स्वीकार कर। जब रणभेरी बजकर शरीर के साढ़ेतीन करोड़ रोमों में

राजपूत का शौर्य उछलने लगता है। इसीप्रकार तत्त्व की महिमा को सुनते ही आत्मचैतन्य की शक्ति उछलने लगती है।

जो सिद्ध भगवान पूर्ण निर्मलदशा को प्राप्त हुये हैं उन्ही की जाति का उत्तराधिकारी मैं हूँ। मैने अपनी स्वतत्रता की रणभेरी सुनी है। इसप्रकार स्वतन्त्रता की बात सुनकर उसकी महिमा को समझ। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार की रणभेरी बजाकर गीत गाते हैं, उसे सुनकर तू न उछलने लगेगा, यह कैसे हो सकता है ?

जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर हुआ उसके स्वसमय जान, और जो पुद्‌गल कर्मप्रदेश मे स्थित हुआ उसके परसमय जान। जो जीव अपने गुण मे स्थिर न रहकर परद्रव्यके सयोगमे अर्थात् पुद्‌गलकर्म के प्रदेश में स्थित हो रहा है उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्नः—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्म के प्रदेशो को देखता है ?

उत्तरः—नहीं, नही देखता, किन्तु मोहकर्म की फलदायी शक्ति के उदय में युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपने मे युक्त होने से अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नही होता, विकार तो परनिमित्त जुडने से होता है। स्वय निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्था में विकारभाव दिखाई देता है। कर्म सयोगी–विकारी पुद्‌गल की अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है; वह पुद्‌गलकर्मप्रदेश में युक्त होने से उत्पन्न होता है। जडकर्म बलात् विकार नही करा सकते, किन्तु स्वय अपने को भूलकर पुद्‌गलप्रदेशो में स्थित हो रहा है। रागद्वारा स्वय परावलम्बीभाव करता है। कर्मों ने जीव को नही बिगाडा किन्तु जब जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है तब कर्मों की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। इसलिये बँधना या मुक्त होना अपने भावोके अधीन है, और यह अपनी शक्ति के बिना नही हो सकता। पुद्‌गल कर्मप्रदेश की ओर स्वय रुका, इसलिये उस विकार के द्वारा व्यवहार से परसमय में स्थित कहलाया। स्वभाव से अपने में ही स्थिर है, किन्तु यदि अवस्था में स्वरूपस्थित हो तो यह प्रश्न ही नही

हो सकता कि आत्मा क्या है। इसीलिये अवस्था में विकार हुआ है।

प्रश्न—जब कि कर्म दिखाई नहीं देते तो उन्हें कैसे माना जाय ? क्योंकि लोकव्यवहार में भी किसी का देखा हुआ या अपनी आँखों से देखा हुआ ही माना जाता है ?

उत्तर—अज्ञानी जीवों ने बाह्य विषयों में सुख है यह पर में अपनी दृष्टि से देखकर निश्चय नहीं किया है किन्तु अपनी कल्पना से मान रखा है। इसी प्रकार कर्म सूक्ष्म हैं इसलिये वे आँखों से भले दिखाई नहीं देते किन्तु उनका फल अनेकरूप से बाहर दिखाई देता है। उस कार्य का कारण पूर्वकर्म है। जैसे यदि सोना मात्र अपने आप ही अशुद्ध होता तो वह शुद्ध नहीं किया जा सकता। वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है किन्तु वर्तमान अशुद्धता में दूसरी वस्तु का संयोग है तथा आत्मा की वर्तमान अवस्था में निमित्त होने वाली दूसरी वस्तु विकार में विद्यमान है उसे शास्त्र में कर्म कहा है। दूसरी वस्तु है इसलिये दोनों वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान कर क्योंकि आत्मा की ज्ञान सामर्थ्य स्वपरप्रकाशक है। जिसने इसे समझने की शक्ति का विकास किया है और जो आदरपूर्वक सुनता है उसे सुनाते हैं। वह यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है किन्तु जिसकी पर के ऊपर दृष्टि है और जिसे मैं जुदा हूँ यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्म की उपस्थिति की जहाँ बात आई वहाँ निमित्त के पीछे ही पड़ता है और बाहर से सुन कर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रों में कर्म को निमित्त मात्र कहा है वह आत्मा से परवस्तु है। परवस्तु किसीका कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्र श्रवण करके खोटी कल्पना करते हैं कि कर्म मुझे क्षमादिकाम से बाधा पहुंचा रहे हैं राग-द्वेष कर्म कराते हैं तथा देह मन और वाणी की प्रवृत्ति मुझसे होती है इस प्रकार की विपरीत मान्यता से पर में उलझ गया सो परसमय है। और जो पराश्रय रहित पुण्यपाप रहित शुद्ध दर्शन ज्ञान और स्वरूपस्थिरता से आत्मा में स्थिर है वह स्वसमय है। अर्थात् वह स्व-सन्मुख है। पर की और

झुकाव होने से जिसने पर के साथ सम्बन्ध मान रखा है, और जो पर मे अटक रहा है, वह पर-सन्मुख अर्थात् परसमय है।

जिसे स्वत जिज्ञासा प्रगट हुई है वह विचार करता है कि यह क्या है ? अनादिकाल से स्वरूप का विस्मरण क्यो हो रहा है ? अनादिकाल से विकार और जड का ही स्मरण क्यो हो रहा है ? यदि वास्तविकतया अपना स्मरण हो तो परिभ्रमण न हो। जानने वाले को जाने विना जो जानने वाले मे ज्ञात होता है उसे जीव अपना स्वरूप मान लेता है, इसलिये यहाँ यह वताते हैं कि जानने वाला पर से भिन्न कैसा है, जिससे पराधीनता न रहे। जो 'है' उसे यदि पराश्रय की आवश्यकता हो तो वह जीवन सुखी कैसे कहला सकता है ? जहाँ राग का आश्रय लेना पडता है वह भी वास्तविक जीवन नही है। इसी प्रकार अन्तरग मे जिसे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है उसे गुरु मिले बिना नही रहते। जिसे अन्तरग से जिज्ञासा हो वह वरावर सुनता है। जिसके पात्रता होती है उसे गुरु ही मिलते हैं। जिसे ज्ञान में शुद्ध-मुक्तस्वभाव का आदर होता है उसे जिज्ञासा होती है, उसके व्यवहार में-श्रद्धा, ज्ञान और आचरण हो जाता है। पहले तो साधारणतया आर्य जीव के अनीति तथा क्रूरता का त्याग होता ही है, साधारण आर्यत्व, लौकिक सरलता, परस्त्री त्याग, अन्तरग में ब्रह्मचर्य का रंग, आजीविका के लिये छल-कपट तथा ठगाई का त्याग, नीति और सत्यवचन इत्यादि जीवन में बुने हुये या एकमेक होना ही चाहिये। देहादिक परविषयों मे तीव्र आसक्ति का त्याग इत्यादि तो साधारण नीति में होता ही है, उसके बाद लोकोत्तरधर्म मे प्रवेश हो सकता है।

दूसरी गाथा प्रारभ करते हुये कहा है कि जो पुण्य-पापरहित आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण में स्थिर हुआ वह स्वसमय है, और पर मेरे हैं, पुण्य-पाप आदि विकार मैं हूँ, इस प्रकार स्थिर होना सो परसमय है। इस प्रकार कहते हुये गुरुदेव ने जाना है कि जिज्ञासु जीव के बाह्य साधारण नीति का जीवन, मन के द्वारा बुना हुआ होना ही चाहिये। उसके सत्य को समझने की सच्ची आकाक्षा है, इसलिये

उसे सत्य ही समझ में आता है। जब कि क्रूरता प्रतीति असत्य आदि इष्ट नहीं है, तब जो सत्य है वही उसे इष्ट है। 'छोड़ना है' यह कहने से यह सिद्ध हुआ कि वह सयोग सम्बन्ध है और उससे अपना पृथकत्व भी है। एक वस्तु बंधन में हो तो वह दूसरी वस्तु के सम्बन्ध से है, इसलिये परवस्तु भी है यह सिद्ध हुआ। जिस प्रकार अपना पार मार्थिक स्वभाव है उसी प्रकार यदि अपने जानने में न आये तो स्वयं कहीं अपना अस्तित्व मानकर टिकेगा तो अवश्य। इस प्रकार मैं रागी द्वेषी आदि हूँ यह मानकर पर में अस्तित्व मानता हुआ जीव रुका हुआ है और इसीलिये अनेक गतियों में भव-भ्रमण हो रहा है। यह सब दु:ख ही है। समस्त प्रकार के दु:खों से मुझे छूटना है तो दु:खरहित क्या है? वही मुझे चाहिये है। ऐसा सामान्य भूमिका का ज्ञान प्राथमिक शिष्य को होना ही चाहिये। पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण के लिये पूछने पर कहा जाता है।

जिसे सत्य को समझने का मूल्य है उसे तत्त्व का माहात्म्य सुनाते हैं। जिसे कुछ कमाने की चाह है उसकी रुचि को देखकर यदि कोई कमाने की बात कहे तो उसे कमाने की या धनवान होने की बात सुनकर कितना आनंद होता है! जब उससे यह कहा जाय कि तुझे ५ हजार रुपया प्रतिमास मिलेंगे तो वह दोनों कान खोलकर आश्चर्य पूर्वक सुनता है क्योंकि उसके मन में वैभव की महिमा है और उसके प्रति प्रीति भरी हुई है। इसी प्रकार अनंत जन्म-मरण के अनंत दु:खों के नाश का उपाय शुद्धात्मा को पहिचानकर और उसमें स्थिर होने से होता है उससे अल्पकाल में अनंतसुख प्रगट होता है। इस प्रकार श्री गुरु सुनाते हैं और पात्र शिष्य बड़ी ही उमंग से सुनता है। स्वरूप से तू सिद्धभगवान के समान ही है अर्थात् आत्मा पर से निराला अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है पुण्य-पाप उपाधिरूप नहीं है। विपरीतदशा से कल्पना से पर में आनंद मानकर शुभाशुभ को आकुलतारूप किया था उससे मुक्त होकर अनंतसुखरूप दशा प्रगट करने के लिये श्री गुरु करुणा करके शुद्धात्मा की बात सुनाते हैं। सुनने वाले और सुनाने

वाले दोनो योग्य होना चाहिए।

अब 'समय' शब्द का अर्थ कहते है—'सम्' उपसर्ग है। समय=सम् + अय। सम्=एक साथ, एक काल मे 'अय गतौ' धातु है, उसका अर्थ गमन होता है, और ज्ञान भी होता है। गमन अर्थात् गमन करना या गमन होना। इसलिये सम् + अर्थ का अय यह हुआ कि एक साथ एकरूप रहकर जाने। एक अवस्था से एक समय मे दूसरी अवस्थारूप होना सो समय है। किसी आत्मा मे वर्तमान अवस्थारूप मे बदलने का स्वभाव न हो तो कोई विशेपता नही हो सकती। यह कहना वृथा सिद्ध होगा कि दोष को दूर करके गुण को प्रगट कर। तीव्रराग में से मदराग होता है तथा विकारीभाव का परिवर्तन अर्थात् बदलना होता है, उस विकार को निकाल दें तो ज्ञान-गुण इत्यादि का निर्मलतया बदलना होता है। दूसरे पदार्थों से आत्मा का लक्षण भिन्न है। इसलिये यह बताया है कि जो जीव के स्वरूप को एक समय में जाने और परिणमे वह जीव चेतनास्वरूप है।

जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल; यह पाचो पदार्थ अजीव–अचेतन पदार्थ हैं। उनकी भी अपने अपने कारण से समय समय पर अवस्था बदलती रहती है, किन्तु उनमे ज्ञातृत्व नही है और जीवमे ज्ञातृत्व है, इसलिये यह जीव नामका पदार्थ एक ही समय जानता है और प्रतिक्षण नई नई अवस्था के रूप में अपनेपन से बदलता है, इसलिये वह समय है।

अब वह आत्मा कैसा है सो बताते हैं। उसकी दो दिशायें बतानी हैं। वह जिसे हितरूप और आदरणीय मानता है उसी ओर तो वह झुकेगा ? जीव मे दो प्रकार की अवस्थायें होती हैं–(१) अनादि-कालीन अशुद्ध अवस्था, जो पर की ओर झुकी होती है, (२) राग-द्वेप–अज्ञान–रहित स्वाभाविक शुद्ध अवस्था, जो स्व–स्वभावरूप है। ऐसी दो अवस्थायें बताई हैं, क्योकि आत्मा त्रिकाल है, उसकी ससार और मोक्ष यह दो दशायें हैं। ससाररूप भी सारा आत्मा नही है और मोक्षरूप भी सारा आत्मा नहीं है, दोनो अवस्थायें मिलकर त्रैकालिक

आत्मा है। जो आत्मा वर्तमान में है वह त्रिकाल है। उसकी दो अवस्थायें हैं। उनमें से अनादिकालीन अपनी कल्पनारूप, रागद्वेषरूप जो अशुद्ध दशा है वह संसारदशा है। पर से भिन्न अपना शुद्धस्वरूप है उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिरता के द्वारा एकाग्र होकर शुद्धता प्रगट करना सो शुद्धतारूप मोक्षअवस्था है। दोनों आत्मा की अवस्थायें हैं। यदि यह बात बहुत सूक्ष्म मालूम हो तो परिश्रम करना चाहिये किन्तु पहले यह कहकर रुक नहीं जाना चाहिये कि मेरी समझ में ही नहीं आता। जिज्ञासु जीव को आत्मा समझ में न आवे यह नहीं हो सकता। जो काम अनंत आत्माओं ने किया है वही यहां कहा जा रहा है। जो नहीं किया जा सकता वह नहीं कहा जा रहा है। कम कर सकता है और कम जानता है इसका कारण अपनी वर्तमान अशक्ति है किन्तु यदि वह पराश्रित रहने वाली क्षणिक अवस्था स्वभाव की प्रतीति से दूर कर दी जाय तो जो परमानंद शुद्धस्वभाव है वह पूर्ण निर्मलता से प्रगट हो जाता है। अर्थात् आत्मा जैसा स्वभाव से स्वतन्त्र है उसकी समझ और शुद्धदशा प्रगट करने के लिये ही कहा जाता है।

पहले तो यह निश्चय होना चाहिये कि आत्मा है वह अनादिअनन्त वस्तु है। जो है सो सत् है। जो है वह जा नहीं सकता और जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् वस्तु नित्य है उसकी अवस्था क्षण-क्षण में बदलती है किन्तु वस्तु का मूल वस्तुत्व नहीं बदलता वह पराश्रित नहीं है किन्तु अनादिकाल से पर की ओर रुचि और पर की ओर झुकाव होने से अज्ञान के कारण आत्मा में रागद्वेषरूप मलिनभाव भासता है। संसार आत्मा की विकारी अवस्था है। जो जड़–देहादि का संयोग है उसमें संसार नहीं है। जैसे पानी में तरंगें होती हैं उनमें से कुछ तरंगें मैली सी होती हैं और कुछ तरंगें निर्मल होती हैं किन्तु वे सब तरंगें मिलकर पानी हैं। इसी प्रकार जबतक आत्मा अज्ञानपूर्वक अवतमान अवस्था द्वारा कर्मों के आधीन होते हैं तबतक वह मैली है और रागद्वेष विकारी अवस्था का भाव

करने से सादिअनत, प्रगट, निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट होती है, इन सभी अवस्थाओ के रूप मे आत्मा है, किन्तु यदि नित्य स्वभाव को देखा जाय तो वह सभी अवस्थाओ के समय शुद्ध ही है। इसलिये यह नही मानना चाहिये कि आत्मा समझ मे नही आ सकता। इस बात को समझने की योग्यता सभी जीवो मे है, सभी केवलज्ञान के पात्र हैं।

अब यह जीव पदार्थ कैसा है, यह सात प्रकार से कहेगे। वस्तु का अस्तित्व सिद्ध हुये बिना उसमे बध दशा और मोक्ष दशा कैसे बताई जा सकती है? इसलिये आत्मा का स्वतत्र वास्तविक स्वरूप कैसा है, यह पहले निश्चय कराते हैं।

जीव को पदार्थ कहा है, क्योकि 'जीव' पद से अर्थ को जाना जा सकता है ('पद' के साथ पदार्थ का व्यवहार से वाच्य-वाचक सम्बन्ध है) जीवपदार्थ सदा परिणमनस्वभावयुक्त है। विकार का नाश करके पूर्ण, अनत, अक्षय, आनदस्वरूप को प्रगट करने से त्रिकाल के सुख का अनुभव एक ही समय में नही हो जाता। यदि एक समय में सारा आनद भोग लिया जाय तो दूसरे समय में भोगने को शेष क्या रहेगा? किन्तु यह बात नही है। प्रत्येक समय परिणमन होता है, इसलिये अनतकाल तक अनतसुख का अनुभव होता है। आत्मा स्वय अनुभवस्वरूप है।

प्रत्येक बात समझने योग्य है, अतरग मे खूब घोलने योग्य है। यदि अतरग के तत्त्व को सभी पहलुओ से यथार्थरूप मे समझकर उसमें स्थिर हो तो स्वाधीन शुद्ध दशा प्रगट हो जाय। जिसे जिस विषय सबधी (जिस साध्य में) रुचि है, उस ओर राग के द्वारा माना गया प्रयोजन सिद्ध करने का प्रयत्न किया करता है। इसीप्रकार लोग धर्म के नाम पर माने हुये प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये बहुत कुछ करते हैं, किन्तु वास्तविक पहचान के बिना सच्चा उपाय हाथ नहीं आता। जैसे यदि राजा को उसकी समृद्धि और बड़प्पन के अनुसार मानपूर्वक बुलाये तभी वह उत्तर देता है, इसी प्रकार भगवान

आत्मा को जिस प्रकार जानना चाहिये उसीप्रकार मेल करके एकाग्रता का सम्बन्ध करे तो उत्तर मिले अर्थात् वह जाना जाय। आत्मा सदा परिणमनस्वभावी है इसलिये जो आत्मा को अवस्था के द्वारा परिणमन वाला नहीं मानते उनका निषेध हो गया। परिणमनस्वभावी है यह कहने पर'तु जिस भाव में उपस्थित है उस भाव को बदल सकता है। जो पहले कभी नहीं जाना था, उसे जान लिया और जाननेवाला नित्य रहा। इससे सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अनुभूति जिसका लक्षण है वह सत्ता है। सत्ता लक्ष्य (जानने योग्य) है और सत्ता का लक्षण उत्पाद-व्यय ध्रौव्य है। क्षण के असंख्यातवें भाग में प्रतिसमय अवस्था बदलती है। जैसे लोहे को घिसने पर उसकी जंग का व्यय हो जाता है उज्ज्वलता अथवा प्रकाश का उत्पाद हो जाता है और लोहा बराबर ध्रुव बना रहता है। इसीप्रकार प्रत्येक समय में अपनी पूर्वदशा का व्यय होता है नई अवस्था उत्पन्न होती है और वस्तु वस्तुरूप में स्थिर बनी रहती है। यह तीनों अवस्थाऐं एक ही समय में होती हैं। उत्पन्न होना व्यय होना तथा स्थिर रहना इनमें कालभेद नहीं है। तेरा नित्यस्वभाव प्रतिक्षण अवस्थारूप में स्थिर रहकर बदलता रहता है इस प्रकार पद से सर्वथा भिन्नत्व को जो न समझे और विरोध करे तो वह किसका विरोध करता है यह जाने बिना ही विरोध करता है। जैसे बालक ने किसी कारण से रोना प्रारम्भ किया फिर उसे चाहे जो वस्तु दो तो भी वह रोता ही रहता है। यहाँ तक कि जिस वस्तु के लिये वह रो रहा था उस वस्तु के देने पर भी वह रोता ही रहता है क्योंकि वह उस कारण को ही भूल जाता है जिस कारण से उसने रोना प्रारंभ किया था। इसलिये उसका समाधान कैसे हो सकता है? पहले उसकी इच्छा चूसनी की थी जिसे वह चूस रहा था वह कोई ले गया है—यह बात उसके ध्यान नहीं पाई, बस वहीं से रोना शुरू हो गया। उसके बाद वह उस बात को भूल गया और रोना बराबर चालू रहा। इसी प्रकार ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तूने अनादिकाल

से अज्ञानभाव से (वालभाव से) रोना शुरू किया है, इसलिये तुझे कही भी शांति नही मिलती। ज्ञानी यदि सच्ची वस्तु को वताते हैं तो उसे भी तू ग्रहण नही करता और अपने अज्ञान के कारण रोता रहता है ? जवतक सच्ची जिज्ञासा से समझने योग्य धीरज और मध्यस्थता नही लायगा, तवतक कोई उपाय नही है। तेरी रुचि होगी तो उस ओर तेरी भावना की उत्पत्ति होगी।

पहले स्वाधीन, निर्दोष सत् की रुचि कर तो अनादिकालीन पर की ओर झुकी हुई पुरानी अवस्था का व्यय और स्वोन्मुखरूप नई अवस्था की उत्पत्ति तथा स्वभावरूप में स्थिर रहने वाला ध्रौव्य तू ही है, यह समझ में आ जायगा। तेरी अवस्था का वदलना और उत्पन्न होना तेरे ही कारण से है। पराश्रय के विना स्थिर रहनेवाला भी तू है; इसलिये मेरे ही कारण से मेरी भूल थी उसे ज्ञानस्वभाव के द्वारा दूर करनेवाला मैं ही हूँ, यह जानकर खोटी मान्यतारूप असत्य का त्याग, सच्ची समझ का सद्भाव और मैं नित्य ज्ञानस्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ, इस प्रकार का निश्चय कर। जैसे स्वर्ण सदा स्थिर रहता है, उसकी पूर्व अवस्था का नाश होकर नई अवस्था (अगूठी आदि) वनती है, उसमे सोना प्रत्येक दशा मे ध्रुव रहता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि–अनत, स्वतत्र है, उसमें तीनो प्रकार (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) एक ही समय मे विद्यमान हैं। यह वात पहले कभी नहीं सुनी थी, किन्तु यह ज्ञातव्य है। 'हैं' यह सुनकर उसमें कुछ अच्छी दृष्टि करके उस ओर झुके कि उसमे यह तीनो प्रकार आ जाते हैं। प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य–स्वरूप में नित्य है। जीव जैसा है वैसा अपना स्वरूप अनादिकाल से नही जाना। जैसे कडुवे स्वाद से मीठे स्वाद की ओर लक्ष जाने पर कडुवे स्वाद के लक्ष का व्यय, और मिठास के लक्ष की उत्पत्ति होती है। किन्तु स्वय ज्ञान में स्वाद और रस को जाननेवाला अपने ध्रुवरूप में स्थिर रहता है, इसी प्रकार प्रतिसमय निज ज्ञान की अर्थक्रिया करने का स्वाधीन लक्षण आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा स्वयं उत्पन्न नहीं होता और स्वयं सारा का सारा नहीं बदलता किन्तु आत्मा में प्रत्येक क्षण की अवस्था बदलती है और नई उत्पन्न होती है। अपनी और पर की होनेवाली प्रत्येक अवस्था बदलती है, किन्तु उस सबको जाननेवाला स्वयं एकरूप स्थिर रहता है। इसप्रकार अपने नित्य ज्ञानस्वरूप को जानने पर पर से भिन्नत्व का निर्णय किया। उसमें सम्यग्दर्शनज्ञान का उत्पाद पूर्व की अज्ञान अवस्था का व्यय और स्थिर रहने वाला जीव ध्रुव है। इसप्रकार आत्मा उत्पाद व्यय ध्रौव्य की सत्ता से युक्त है। इस विशेषण से जीव की सत्ता को नहीं माननेवाले नास्तिकवाद का खंडन हो गया। और परिणमनस्वभाव कहने से आत्मा को अपरिणामी माननेवाले सांख्यवादी के मत का निषेध हो गया। सत्ता एकांत नित्य ही है अथवा एकांत वस्तुमात्र अनित्य ही है इसप्रकार माननेवाले एकांत वादियों का भी निषेध हो गया। आत्मा है यह कहने से उससे विरुद्ध आत्मा नहीं है अथवा स्वतंत्र नहीं है ऐसा कहने वाले परमत (अज्ञान) का खंडन हो गया।

कोई कहता है कि आत्मा है ही नहीं किन्तु वह यह तो बताये कि आत्मा नहीं है यह किसने निश्चय किया है? पहले जिसने यही निश्चय नहीं किया कि आत्मा है वह यह विचार ही कैसे कर सकता है कि आत्मा कैसा है? जो यह मानते हैं कि जो वर्तमान में दृष्टिगोचर है उतना ही है वे दृश्य को अदृश्य और अतीन्द्रिय आत्माको अदृश्य कैसे कह सकते हैं। सबको देखनेवाला स्वयं है जानने–देखने का कार्य स्व–पर का निर्णय देखने वाले तत्त्व अपनी सत्ता में होता है। देह और इन्द्रिय पर को तथा अपने को नहीं जानते किन्तु जाननेवाला जानता ही रहता है।

पुद्गल नामक वस्तु नित्य है उसमें स्पर्श रस गंध वर्ण इत्यादि स्वलक्षण गुण हैं। वह वस्तु की शक्ति है। इसी प्रकार आत्मा सर्व परवस्तु से भिन्न है उसमें ज्ञानादि शक्तिरूप अनन्त गुण हैं इस लिये आत्मा और सदृश चैतन्य अर्थात् ज्ञातृत्वस्वभाव है।

हे प्रभु ! तू चैतन्य जागृतिस्वरूप है। तेरे गुण की उत्पत्ति मन, वाणी, देहादि से नही है, उसमें अन्धेरा नही है, अजागृति और अजानपन नही है। अन्धेरा है, यह किसने निश्चय किया ? आषाढी अमावस्या की मेघगर्जित घोर अन्धकारमय रात्रि हो, और रजाई से सारा शरीर ढक रखा हो तथा आँखें बिल्कुल बद हो तथापि अन्धकार का कौन निश्चय करता है ? अन्धेरे का जाननेवाला तद्‌रूप नही हो जाता, किन्तु उस अन्धकार को जाननेवाला आत्मा उस अन्धकार से भिन्न है।

आत्मा निर्मल, स्पष्ट, दर्शन, ज्ञानज्योति–स्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाशस्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने से जानता है कि मैं ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, मैं ही जानने–देखने वाला हूँ। मेरी सत्ता (भूमिका) में ही जानने–देखने के भाव हुआ करते हैं, पर मे घुसकर नही जानता, किन्तु अपनी सत्ता मे रहकर स्व–पर को जानता हूँ।

दर्शन=किसी भी पदार्थ को जानने से पूर्व सामान्य झुकता हुआ जो निर्विकल्प अन्तर व्यापार है सो दर्शन है, और उसके बाद विशेष जानने का जो कार्य है सो ज्ञान व्यापार है। जैसे संसार की बातें सरल हो गई हैं वैसे ही जीव इसका परिचय करे तो यह भी सरल हो जाय। जड़, देह, इन्द्रियो के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जडस्वभाव हैं। वे कही आत्मा में घुस नही गये हैं।

ज्ञान का स्वभाव जानना है, इसलिये स्व–पर को जानता ही रहता है। कोई कहता है कि मोक्ष हो जाने पर स्व–पर का जानना मिट जाता है। जैसे दीपक के बुझने पर प्रकाशक्रिया बद हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण होने पर जानने की क्रिया बन्द हो जाती है। किन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है। क्योकि जानना तो गुण है और गुण का कभी नाश नही हो सकता। जानना दुःखदायी नही है, किन्तु जानने में भूलना, झूठी कल्पना करना दुःख है। कोई कहता है कि अधिक जानना दुःख है, किन्तु क्या गुण कभी दोष अर्थात् दुःख का

कारण हो सकते हैं ? कदापि नहीं । किसी बालक ने माठी मारदी किन्तु बालक का स्वभाव जानने पर कि उसका भाव मात्र खेल कूद ही का था उस ओर ध्यान ही नहीं जाता । यथार्थ ज्ञान का कार्य समा धान है। आत्मा का स्वभाव जानना है उसे रोका नहीं जा सकता । ज्ञानगुण का कार्य जानना अथवा ज्ञान करना है। राग-द्वेष करने का कार्य तो विपरीत पुरुषार्थरूप विपरीतता का है, इसलिये पुण्य-पाप के भेद से रहित स्व-पर का ज्ञाता अपने स्वभावरूप धर्म है और उसमें स्थिर होना स्वसमय है ।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ' इस पद में प्रथम शब्द 'जीवो' है। जिसने यह जान लिया हो कि आत्मा कैसा है उसे संसारी अशुद्ध अवस्था और मोक्ष की निर्मल अवस्था-इन दोनों को एकत्रित करके एक अखंड पूर्णरूप आत्मा का निर्णय करना होगा । आत्मा मन-वाणी और देह से भिन्न अन्य जीव-अजीव आदि वस्तुओं से त्रिकाल भिन्न अनादि-अनंत पदार्थ है । अपनी विपरीत मान्यता से रागद्व पुण्य पाप देह इंद्रिय इत्यादि परवस्तु को जीव ने अपना मान रखा है और यही संसार है। परवस्तु में संसार नहीं है संसार तो जीव का भाव गुण है। उसे जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि भव तथा रागद्वेष रहित स्वतंत्र तत्त्व क्या है ? जैसे मनुष्य की बाल युवा और वृद्ध यह तीन अवस्थायें होती हैं उसी प्रकार आत्मा की भी तीन अवस्थायें होती हैं । अज्ञान अवस्था बाल्यावस्था है साधकभावरूप निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्र अवस्था धर्म अवस्था अर्थात् युवा वस्था है और अनुकूलता में राग तथा प्रतिकूलता में द्वेष होता है उसका नाश करने के लिये मैं शुद्ध हूँ पर से मुझे लाभ हानि नहीं है मैं पुण्य-पाप रहित अखण्ड ज्ञायक अरूप ही हूँ इस प्रकार की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से राग-द्वेष का नाश होकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा अनन्त आनन्द अवस्था प्रगट होती है यह वृद्धावस्था है। आत्मा सदा अरूपी ज्ञानानंदघन है । उसमें प्रतिसमय पूर्व पर्याय को बदलकर नई अवस्था को उत्पन्न करके ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओं को लेकर सत्ता होती है। अस्तिरूप में जो वस्तु है उसमें ज्ञाता दृष्टापन है। पर

को जानना उपाधि नही है, किन्तु जानना–देखना आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। स्व-पर को जानना ज्ञानगुण का कार्य है, और राग-द्वेष करना दोष का कार्य है।

अनत धर्मों मे रहने वाला जो एक धर्मीपन है, उससे उसके द्रव्यत्व है और नित्यवस्तुत्व है। आत्मा का स्वतत्र स्वरूप पर के आधार से रहित और पुण्य–पापरहित है, इसलिये उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण भी पुण्य–पापरहित है। ऐसी बात को जीव ने न तो कभी सुना है और न माना है। यदि एक क्षणमात्र को भी ऐसे आत्मधर्म का आदर किया होता तो फिर दूसरा भव नही होता। जिसे सत् को सुनते हुये अपूर्व आत्ममाहात्म्य ज्ञात होता है उसके उस ओर अपने वीर्य का रुख बदले बिना नही रहता, क्योंकि जिसकी रुचि जिधर होती है उसी ओर उसका रुख हुये बिना नही रहता, ऐसा नियम है। जहाँ आवश्यकता मालूम होती है वहाँ जीव अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को प्रस्फुटित किये बिना नही रहता। जिसका मूल्य आंका गया या जिसकी आवश्यकता प्रतीत हुई उनका ज्ञान में विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नही रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नही हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना, उसमे उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका ज्ञान मे विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नही रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधी का आदर नही हो सकता। इसलिये जिसमे जिसने माना उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत होने पर उस ओर उसके वीर्य की गति हुये बिना नही रहती।

'जीव पदार्थ है' यह कहने के बाद अब यह बतलाते हैं कि उसकी दो प्रकार की अवस्थाऐं कैसी हैं? क्योंकि प्रथम 'अस्ति' अर्थात् 'है' इस प्रकार वस्तुत्व का निश्चय करने के बाद वह वर्तमान में किस अवस्था में है यह बताया जा सकता है। 'वस्तु है' वह अनादि–अनन्त

है पर से भिन्न है इसलिये किसी के आधार से किसी का बदलना नहीं होता यह कहा गया है। और फिर वस्तु में अनन्त धर्म भी हैं। उनमें द्रव्यत्व प्रभुत्व प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व वस्तुत्व, अस्तित्व एकत्व, अनेकत्व नित्यत्व आदि वस्तु के गुण उस वस्तु के आश्रित हैं, परवस्तु के आश्रित नहीं हैं। जैसे स्वर्ण एक वस्तु है वह अपने अनन्त गुणों को धारण करता है। उसमें पीलापन चिकनापन और भारीपन इत्यादि शक्ति है जिसे गुण कहा जाता है। इसीप्रकार आत्मा में ज्ञान दर्शन, सुख वीर्य अस्तित्व द्रव्यत्व इत्यादि अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्त वस्तुओं के साथ रहने पर भी अनंत वस्तुओं से भिन्न है। अनंत परपदार्थ होने से अनन्त अभोक्तापन नामक अनन्तगुण आत्मा में है।

आत्मा क्या है? यह जाने बिना आत्मा का धर्म कहाँ से हो सकता है? जो सत्ता क्षेत्र में अवगुण कहलाती है वहीं वह गुण भी है। गुड़ की मिठास गुड़ में होती है या उसके बर्तन में? इसी प्रकार देहरूपी बर्तन में देहरहित–अरूपी ज्ञानघन आत्मा विद्यमान है तब फिर उसमें उसके गुण होंगे कि देहादि परसंयोग में? परसंयोगी वस्तु का वियोग होने पर आत्मा मन वाणी, देह इन्द्रिय इत्यादि में दिखाई नहीं देता। इसलिये आत्मा पर से भिन्न ही है। आत्मा एक है वह अनादिकाल से शरीर तथा परवस्तु से भिन्न है। आत्मा ऐसे अनन्त शरीर के रजकणों से तथा परवस्तु से भिन्न रहता है। इसलिये अनंत पररूप से नहीं होता उसमें अनन्त नास्तित्व तथा अनंत अन्यत्व नामक अनंत गुण हैं। आत्मा अनंतकाल से अनंत पुद्गलों अनंत शरीरोंके साथ एकत्रित रहा फिर भी वह उनके किसी भी गुण–पर्याय के रूप में परिणत नहीं हुआ। किसी के साथ मिला–जुला नहीं है। इसप्रकार अनन्त के साथ एक नहीं हुआ इसलिये अनन्त पर से भिन्न रहा। रजकण में वर्ण गंध रस स्पर्श की अवस्था बदलती है किन्तु रजकण बदलकर आत्मा नहीं हो जाते और आत्मा बदलकर जड़ नहीं हो जाता।

अनन्त धर्मों में रहने वाला जो एक धर्मीपन है उसके कारण

जीव के द्रव्यत्व प्रगट है। अनन्त गुणो का एकत्व अनादिकाल से एकत्रित रहना सो द्रव्यत्व है। इस विशेषण से वस्तु को धर्म से रहित माननेवाले अभिप्राय का निषेध हुआ। जो यह नही मानते कि गुण आत्मा से प्रगट होते है उनका भी निषेध हुआ। वास्तव मे बाहर से गुण नही आते। जो भीतर हैं वे ही प्रगट होते हैं, क्योकि यदि अनन्त-गुण नही थे तो वे सिद्धो मे कहाँ से आ गये ? जो नही होता वह कही से आ नही सकता, इसलिये प्रत्येक आत्मा मे स्वतन्त्रतया अनतगुण स्वभावरूप मे विद्यमान है। आत्मा धर्म के नाम पर अनन्तवार दूसरा बहुत कुछ कर चुका है, किन्तु उसने आत्मा को अनन्त धर्मस्वरूप स्वतन्त्र यथार्थरूप मे जैसा है वैसा कभी नही जाना। यह भी है कि—'जवतक आत्मतत्व को नही पहचाना तबतक सारी साधना वृथा है'। एक 'स्व' को नही जाना इसलिये अपने को भूलकर जगत् को देखता है। एक 'स्व' को जहाँ तक नही जाना है वहाँ तक कुछ नही जाना। एक के जानने से सब जाना जाता है।

जब लग एक न जानियो, सब जाने क्या होय।
इक जाने सब होत है, सबसे एक न होय॥

सभी को जानने वाला स्वय ही है। इसप्रकार जाने बिना किसको पहचानकर—मानकर उसमे स्थिर हो ? इसलिये पहले आत्मा को यथार्थ स्वरूप में निश्चय करना चाहिये। वस्तु का विचार किये बिना किसमे अस्तित्व मानकर टिकेगा ? जैसा देहानुसार देह से भिन्न असयोगी आत्मा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है मैं वैसा ही पूर्ण हूँ, यह स्वीकार करने पर सभी समाधान हो जाते हैं।

क्रमरूप—अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव है इसलिये जिसने गुण—पर्यायो को धारण किया है, ऐसा क्रमरूप आत्मा प्रतिक्षण अवस्था को बदलता है। जैसे पानी में एक के बाद दूसरी लहर उठती है, उसीप्रकार जीव में प्रतिक्षण नई अवस्थायें क्रमश होती हैं। उसमें जब राग होता है तब गुण की निर्मलदशा नहीं होती, और जहाँ वीतरागता होती है वहाँ राग दशा नही होती। राग—विकार

मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार जहाँ सरागी तत्त्व का सत्य किया वहाँ राग मंद हुआ अर्थात् तीव्रराग की अवस्था बदली। इसप्रकार क्रमक्रम से अवस्था बदलती है। जैसे सोने में रहने वाले गुण एक ही साथ होते हैं इसलिये वे अक्रमरूप कहलाते हैं इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान दर्शन सुख वीर्य, आनन्द इत्यादि गुण एक साथ होते हैं इसलिये उन्हें अक्रम अथवा सहभावी गुण कहा जाता है। सभी गुण त्रिकाल एकरूप आत्मा में साथ रहते हैं इसलिये वे सहभावी हैं। अवस्था एक के बाद एक बदलती है इसलिये वह क्रमभावी है। जबतक विकार में युक्त होता है तबतक वह माने रहता है कि 'मैं विकारी हूँ' जब अविकारी ज्ञानस्वभाव के बल से मैं विकारी नहीं हूँ यह मानता है तब मैं अविकारी हूँ जैसा परमात्मा का स्वभाव पूर्ण है वैसा ही मैं हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से अभ्यास बढ़ने पर अवस्था क्रमशः निर्मल होती जाती है। पहले अपने को रागी-द्वेषी मानता था पीछे यह माना कि मैं राग आदि रूप नहीं हूँ। यहाँ पर प्रथम श्रद्धागुण की अवस्था बदलती है।

यह सूक्ष्म कथन है मेरी समझ में नहीं आता इस प्रकार कहकर इन्कार मत कर। ज्ञानस्वरूप आत्मा कौन है इसका ज्ञान तो करना नहीं है और धर्म करना है भला यह कैसे हो सकता है?

अनादिकाल से बाह्यदृष्टि रखकर बाहर से दूसरा माना सो यह सब अज्ञान है असत्य है। जीव अनादि-अनन्त वस्तु है। है इसलिये आत्मा में अवस्था बदलती है। जैसे मनुष्य के शरीर में अवस्था बदलती है उसी प्रकार रागदशा बदलकर निर्मल वीतरागदशा होती है और गुण सदा आत्मा के साथ टिके रहते हैं। जैसे सुवर्ण और उसके गुण सदा बने रहते हैं और अवस्था बदलती रहती है इसी प्रकार आत्मरूपी सुवर्ण में ज्ञान दर्शन सुख इत्यादि गुण बने रहते हैं उसमें अपनापन भूलकर पर में अपनापन मानकर जो विपरीत रुचि की सो गुण की विपरीत अवस्था है। यह बदलकर सीधी दशा हो सकती है और गुण तो सदा साथ में ही स्थिर रहते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थायें एक साथ नहीं होतीं। जब रागद्वेष अज्ञानदशा होती है तब

शुद्धदशा नही होती, और जब शुद्ध वीतरागदशा होती है तब अशुद्ध दशा नही होती। यहाँ पर यह बात बहुत ही सरल ढग से और सादी भाषा मे कही जा रही है, फिर भी उसे समझना तो स्वय ही होगा। वस्तु की महिमा होनी चाहिये। ससार की रुचि के लिये चार आने की दर से ५ लाख रुपये का चक्रवृद्धि ब्याज लगाना हो तो बराबर ध्यान रखकर प्रतिदिन का ब्याज बढाते हुए नया लगाता जाता है, जो कि ससार मे परिभ्रमण करने की प्रीति की विपरीत बात है। यदि आठ आने की भूल हो गई तो चार आने का तेल जलाकर भी उसकी पूरी जाँच करता है, किन्तु यहाँ पर धर्म की कोई चिंता या कीमत नही है। लोग यह चाहते हैं कि मुफ्त में ही धर्म मिलता हो तो लेलिया जाये, किन्तु यह कैसे हो सकता है? विशेष निवृत्ति पूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

आत्मा एक नित्य वस्तु है, पर से भिन्न और अनन्त गुणो से अभिन्न है। उसमे से जिसमे सभी गुण एक साथ रहते है वह अक्रम कहलाता है, और जहाँ गुण की अवस्था क्रम क्रम से बदला करती है उसे क्रमवर्ती कहते हैं। इस विशेषण से आत्मा को निर्गुण मानने वाले साख्यमत का निषेध हो गया। निर्गुण किस प्रकार कहलाया? सो कहते है कि—रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण प्रकृति के हैं, वे आत्मा मे नही हैं। जो विकार है सो रागभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नही है, उसका अभाव हो सकता है। किन्तु अपने में ज्ञान, दर्शन, सुख, शाति, वीर्य इत्यादि स्वाभाविक गुण हैं, उनका अभाव नही होता। आत्मा वस्तु है, इसलिये उसमें अनन्त शक्तिरूप ज्ञान—आनन्द इत्यादि अनन्तगुण हैं। उन्हें पहचानकर उनमें एकाग्र होने पर वे प्रगट होते हैं। आम पडा पडा खट्टे से मीठा हो जाता है वहाँ आम में रसगुण ज्यो का त्यो है, मात्र उसकी अवस्था बदल जाती है। आम खट्टे से मीठा हो जाता है, उसमें उसे ज्ञान की आवश्यक्ता नही होती अथवा उसे किसी की सहायता की आवश्यक्ता नही होती। इसप्रकार आत्मा अपने ही कारण से पर में ममता करता है। और ममतारहित होता

है इसमें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। विपरीत रुचि को मिथ्या-रुचि कहते हैं और सच्चा पुरुषार्थ करके जो प्रतीति होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शनगुण आत्मा के साथ स्थिर रहता है और अवस्था बदलती रहती है। यहाँ सब सरल रीति से कहा जा रहा है लेकिन लोगों ने उसे बहुत कठिन मान रखा है। 'मेरी समझ में नहीं आता मैं नहीं समझ सकता' इत्यादि कहना मानों अपने को गाली देना है। आत्मा को अपात्र कहना उसे कलंकित करना है। जो अनंत सिद्ध परमात्मा कर चुके हैं वही कहा जा रहा है और अधिक कुछ नहीं।

प्रत्येक आत्मा निजमें अनन्त कार्य कर सकता है पर में कुछ भी नहीं कर सकता। हाँ यह मानता अवश्य है कि मैं पर में भी कुछ कर सकता हूँ। स्वतन्त्रता जैसी है वैसी ही बताई जा रही है तू इन्कार मत कर तेरी प्रभुता के गीत गाये जा रहे हैं। जैसे बालक को सुलाने के लिये माता लोरी गाती है और बालक अपनी बड़ाई सुनकर सो जाता है उसी प्रकार आत्मा को जागृत करने के लिये यह कहा जाता है कि तू परमात्मा के समान है तथा चैतन्यज्योति है। बालक को सुलाने के लिये पालने में लिटाया जाता है और बालक लोरी गीत सुन कर सो जाता है इसी प्रकार ज्ञानी संबोधित करते हैं कि—चौरासी के झूले को अपना मानकर अज्ञानरूप में सो रहा है तुझे जागृत करने के लिये गीत गाये जा रहे हैं तुझे जागना होगा। माता के गीत तो सुलाने के लिये होते हैं किन्तु ये गीत तुझे जगाने के लिये हैं। संसार और मोक्ष की रीति में इतना ही उल्टा सीधा अन्तर है। बालक की प्रशंसा करने पर वह सो जाता है क्योंकि उसकी गहराई में बड़प्पन की मिठास भरी हुई है वह उसमें से बड़प्पन का आदर पाकर संतुष्ट हो जाता है इसी प्रकार यह जीव मिथ्याबुद्धि के झूले में अनादिकाल से सो रहा है। अब तुझे तेरी प्रभुता की महिमा गाकर जागृत किया जा रहा है यदि तू इन्कार करे तो यह नहीं चलेगा। त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवान ने जिस पद को पाया है उसी पद का अधिकारी तू भी है इस प्रकार तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते हैं। जाग रे

जाग ! यह महामूल्य क्षण वृथा चले जा रहे है। तू अपने को न पहचाने, यह कैसे हो सकता है ?

जो स्वाधीन ज्ञानानन्दस्वरूप को अपना मानकर—जानकर उसमे स्थिर होता है वह स्वसमय आत्मा है, और पर को जो अपना मानता है जानता है और रागद्वेष मे परवस्तु की ओरके झुकाव के बल से स्थिर होता है वह परसमयरूप होता हुआ अज्ञानी आत्मा है। एक की अवस्था का झुकाव स्व की ओर है और दूसरे का पर की ओर। अवस्था मे उल्टा फिरने से ससार मार्ग और सीधा फिरने से मोक्षमार्ग होता है।

अपने और परद्रव्यो के आकारो को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से, जिसने एक साथ विश्व के समस्त रूप का ज्ञान प्रगट किया है। ऐसा भगवान आत्मा है। सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप ज्ञात हो ऐसा गुणवाला होने से उसने लोकालोक को झलकाने वाला एकरूप ज्ञान प्राप्त किया है। दर्पण मे लाखो वस्तुयें प्रतिविम्बित होती हैं, किंतु इससे दर्पण उन लाख वस्तुओ के रूप मे नही हो जाता। दर्पण में कोई वस्तु प्रविष्ट नही है, किन्तु उसकी स्वच्छता से ही ऐसा दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञानगुण ऐसा स्वच्छ है कि उसमे जानने योग्य अनन्त परवस्तुयें ज्ञात होती है। जानने वाला अपनी शक्ति को जानता है और वह दूसरे को जानता हुआ पररूप नही हो जाता, किन्तु अज्ञानी को अपने स्वभावकी खबर नही है। कुछ लोगो का ऐसा अभिप्राय है कि केवलज्ञान होने के बाद आत्मा स्व को ही जानता है, पर को नही जानता। ऐसे एकाकार को मानने वालो का यहाँ निषेध किया गया है। तथा कोई कहे कि ज्ञान निज को नही जानता, पर को ही जानता है, तो इस प्रकार अनेक आकार मानने वालो का भी निषेध किया गया है। जीव का स्वरूप जैसा है वैसा विरोधरहित न जाने तो जीव जागृत नही होगा।

और फिर आत्मा कैसा है, सो बताते हैं। अन्य द्रव्यो के जो

मुख्य गुण है उससे विलक्षण असाधारण गुणवाला चैतन्यस्वरूप है। आत्मा के अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनके विशेष गुण कहे जाते हैं। जैसे एक आकाश नामक पदार्थ है उसका विशेष गुण अवगाहना है इसीप्रकार गतिसहायक स्थितिसहायक और वर्तनासहायक इत्यादि लक्षणों को धारण करने वाले धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य हैं। यह पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है परापेक्षा से त्रिकाल नहीं है। छहों द्रव्य जगत में विद्यमान हैं उन्हें युक्ति आगम और अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है। रूपित्व पुद्गल परमाणु का गुण है। पाँचों पदार्थों के गुणों का आत्मा में अभाव है किसी के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु विपरीत मान्यता ने पर धना रखा है। एकबार पात्र होकर अपने अनन्त केवलज्ञान स्वरूप को सुने और जाने उसकी महिमा आये बिना न रहे। अब यहाँ अस्ति—नास्ति को बतलाते हैं कि परवस्तु के गुण तुझमें नहीं हैं और तेरे गुण पर में नहीं हैं। तू ज्ञायक है इसलिये तेरा मुख्य लक्षण जानना है। तुझसे ही तेरा धर्म प्रगट होता है पर से गुण प्रगट नहीं होता। आत्मा का कोई गुण यदि पर से आये तो आत्मा निर्माल्य सिद्ध होगा। किन्तु तू अनन्त गुण—स्वभाव से परिपूर्ण तत्त्व है। यदि उसे भूलकर पर का आश्रय ले तो क्या तू निर्माल्य वस्तु नहीं कहलायगा? आत्मा स्वयम् ही सम्पूर्ण सुख से परिपूर्ण है।

असाधारण चैतन्यरूपता चैतन्यस्वरूपत्व अरूपित्व तथा ज्ञानघनता इत्यादि स्वभाव का अस्तित्व होने से आत्मा अन्य द्रव्यों से भिन्न है। इन विशेषणों से एक ब्रह्मवस्तु को ही मानने वालों का निषेध हो गया। जगत् में अनन्त परवस्तुएँ हैं। जगत जगत में है आत्मा में नहीं। आत्मा पर से भिन्न है परवस्तु आत्मा से त्रिकाल भिन्न है। इसप्रकार जहाँतक निर्णयपूर्वक न जाने वहाँतक जीव पृथक्त्व का भेद ज्ञानज्योति का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा।

व्यवहार से आत्मा अन्य समस्त द्रव्यों के साथ एक क्षेत्रा

वगाह मे व्याप्त होकर विद्यमान है, निश्चय से प्रत्येक आत्मा परक्षेत्र से नास्तिरूप है। द्रव्य अर्थात् अनत गुण-पर्यायरूप वस्तु। क्षेत्र अर्थात् आत्मा की असंख्यप्रदेशरूप चौडाई। काल अर्थात् वर्तमान मे प्रवर्तमान अवस्था। भाव अर्थात् त्रिकालरूप मे द्रव्य की शक्ति अथवा गुण।

इसप्रकार आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप से-अपनेपन से है और परवस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से त्रिकाल मे भी नही है। जैसे पानी के साथ बहुत समय से ककड पत्थर भी एकत्रित चले आ रहे हैं तथापि पानी और ककड पत्थर भिन्न भिन्न हैं। इसीप्रकार एक स्थान मे प्रत्येक वस्तु के एकत्रित रहने पर भी कोई अपने स्वभाव से अलग नही होती। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा टकोत्कीर्ण चैतन्य एक स्वभावरूप है। इस विशेषण से वस्तु-स्वभाव का नियम बताया है। ऐसा जीव नाम का पदार्थ समय है। समय अर्थात् [सम्+अय] एक साथ जाने और बदलने की क्रिया करे सो समय—आत्मा अथवा जीव है।

अब मोक्षमार्ग बतलाते हैं,—जीव का झुकाव किघर है यह बताते हैं। जब जोव का सोधी ओर झुकाव हो तब भेदविज्ञानज्योति प्रगट होती है, तथा जब जीव स्वय पुरुषार्थ करता है तब वह प्रगट होती है। यहाँ साधक भाव का वर्णन किया है। जब इस आत्मा मे सर्वपदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने मे, जानने मे समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय होता है तब वह सर्व परभावो से अपने को भिन्न जानने लगता है। मै पर से निराला हूँ, शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पापरूप नही हूँ, चैतन्यज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ। अर्थात् पर मे भिन्न हूँ। इसप्रकार की भेदज्ञान-ज्योति के द्वारा पुण्य-पाप उपाधिरहित पूण ज्ञानघन स्वभाव के लक्ष्य मे, पर से भिन्न रागरहित होने की क्रिया साधक जीव करता है।

जैसे अग्निमे पाचक, प्रकाशक और दाहक गुण हैं। इसी प्रकार आत्मा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं। जैसे अग्नि पाचक

गुण के द्वारा प्रमाण पकाती है उसीप्रकार आत्मा अपने दर्शन गुण से अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभावको पका सकता है। जैसे अग्नि अपने प्रकाशक गुण के द्वारा स्व-पर को प्रकाशित करती है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञान गुण के द्वारा स्व-पर प्रकाशक है। जैसे अग्नि अपने दाहक-गुणकेद्वारा दाह्य को जलाती है उसीप्रकार आत्मा का चारित्र गुण विकारी भाव का सवथा जला देता है। अंधेरे में जाकर देखो तो सभी वस्तुऐं एकसी मालूम होंगी उनमें भेद मालूम नहीं हो सकता किन्तु दीपक के प्रकाश में देखने पर वे जैसी भिन्न भिन्न होती हैं वसी ही दिखाई देती हैं। इसीप्रकार आत्मा को पर से भिन्न जानने के लिये पहले सम्य ग्ज्ञानरूपी प्रकाश चाहिये। यह सबसे पहली आत्मधर्म की इकाई है। सम्यकदर्शन ज्ञान और अंत चारित्र की एकता से ही धर्म होता है और वही यहाँ कहा जा रहा है।

आत्मा का स्वभाव कैसा है ? शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर सात प्रकार से कहा गया है।

विपरीतदृष्टि से संसार और सीधी दृष्टि से मोक्ष होता है। यहाँ यह बताया जारहा है कि धर्म क्योंकर होता है इसलिये ध्यान रखकर सुनो ! यह अन्तरंग की अति सूक्ष्म बात है। भेदज्ञानज्योति को प्रगट करने से ही सर्व पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान का अर्थ है पूर्ण निर्मलज्ञानदशा। उसे प्रगट करने में जीव तब समर्थ होता है जब भेदज्ञानज्योतिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्ष का सर्वप्रथम उपाय आत्मा में भेदज्ञानज्योति को प्रगट करना है उसे सम्यग्ज्ञानज्योति कहते हैं। जैसे अंधकार के कारण सभी वस्तुऐं पृथक पृथक मालूम नहीं होती उसीप्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार में मन वाणी देह पुण्य पाप इत्यादि जो कि आत्मा से भिन्न हैं भिन्न नहीं मालूम होते। किन्तु जब भेदज्ञान से पृथक्त्व के बोध का उदय होता है तब जीव सब परद्रव्यों से छूटकर निरालम्बी होकर दर्शन ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्ति करता है। जब इसप्रकार की श्रद्धा होती है कि

मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप राग इत्यादि मै नही हूँ तब श्रद्धा मे पर से छूटना होता है। यहाँ तो अभी मोक्षदशा कैसे प्रगट हो उसकी श्रद्धा अर्थात् पहिचान करने की वात है, वह प्रगट तो बाद मे होती है। जैसे सूर्योदय से अन्धकार का नाश होने पर प्रत्येक पदार्थ अलग अलग मालूम होता है, उसीप्रकार अन्तरग ज्ञानस्वरूप की ज्ञानज्योति से पहचान होने पर प्रत्येक स्व-पर वस्तु प्रथक् प्रथक् मालूम होती है। जैसे अग्नि का प्रकाश होता है वैसे ही यहाँ ज्ञान का प्रकाश है। परमाणु, देहादि और राग का अश मेरा नही है। मन के सम्बन्ध से राग–द्वेष उत्पन्न होता है, उस सम्बन्ध से रहित अविकारी आत्मधर्म है। इसप्रकार की प्रतीति के अनुसार पुण्य–पापरहित और दर्शनज्ञानस्वरूप–स्थिरतारूप आत्मतत्त्व मे एकाग्र होकर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है और क्रमश वीतरागदशा प्रगट हो जाती है।

जिसे मुक्त होना है उसे उसकी परिभाषा जानना चाहिये। बन्धनभावरूप अशुद्धदशा से मुक्त होता है या स्वभाव से मुक्त होता है ? यह निश्चय करना होगा। अज्ञानी पर को मानता है इसलिये कभी वधनभाव से नही छूट सकता। कोई कहे कि अभी पुण्य-पाप, देहादि से प्रथक् आत्मा कैसे माना जा सकता है ? उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि–मैं परमार्थत मुक्त हूँ, पर से बद्ध नही हूँ, यह निर्णय तो पहले करना ही होगा। पहले श्रद्धा मे से सर्व परद्रव्यो का सम्बन्ध छोडने पर यह प्रतीत होता है कि परवस्तु के साथ तीनकाल और तीनलोक में भी आत्मा का कोई सबध नही है, इसलिये मेरा हित मुझमे मेरे ही द्वारा होता है। इसप्रकार अतरग में दृढता हो जाती है।

पहले पात्रतानुसार खूब श्रवण करना चाहिये और सुने हुये भाव का मनन करना चाहिये, क्योकि स्वय कौन है, इसका अनादिकाल से विस्मरण हो रहा है। और पर मेरे हैं, मैं पर काम कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकते हैं, इसप्रकार की विपरीतदृष्टि के कारण अनादिकाल से पर का स्मरण बना हुआ है। जगत मे ऐसी बातो

का परिचय भी बहुत है, इसलिये पहले सत्य को सुनकर सत्य-असत्यकी तुलना करना आना चाहिये तथा खूब श्रवण करके आदरपूर्वक अंतरंग से हाँ कहना सीखना चाहिये। सत्समागम से सुनकर 'मैं सिद्ध परमात्मा ही हूँ' यह समझकर हाँ कहते कहते उसका अभ्यास हो जायगा और उससे आत्मस्वभाव की स्थिति प्रगट हो जायगी।

आत्मस्वभाव पर से भिन्न है यह बात सुनते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है किन्तु पर से भिन्न आत्मा कैसा है और कैसा नहीं इसकी यथार्थ पहचान की बात होने पर जो जो न्यायपुरस्सर कहा जाता है उसे सुनकर मोक्षस्वभाव का प्रेम बढ़ना चाहिये। जिसे जिसका प्रेम है उसकी बात श्रवण करते हुये वह उकता नहीं सकता इसीप्रकार आत्मा की सत्य बात का प्रेम होने पर आत्मा पर का कर्ता नहीं है पर से निराला है ऐसी बात सुनते हुये उकताना नहीं चाहिये किन्तु उसे रुचिपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ द्वारा कथित यह सत्य है कि तेरा तत्त्व पर से निराला है तूने उसका यथार्थ स्वरूप पहले कभी नहीं सुना था इसलिये उसे सुनने के लिये प्रीतिपूर्वक ऐसा भाव होता है कि अरे! यह बात तो अनन्तकाल में कभी नहीं सुनी थी–ऐसी अपूर्व है। समझ पूर्वक उसके प्रति आदर होता है उससे विरुद्ध बात का आदर नहीं होता। अनन्तकाल में धर्म के नाम पर जो कुछ किया है वह कुछ अपूर्व नहीं किया है उसकी सत्य बात पहले ही अन्तरंग में रुचिगत होनी चाहिये।

असयोगी ज्ञानघन तत्त्व उस राग और परमाणु से भी भिन्न पराश्रय–रहित पूर्ण ज्ञानानन्दरूप है। आत्मा स्वाभाविकतया सदा जानने वाला है। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है जो क्षणिक मलिनता दिखाई देती है वह मेरास्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहले ज्ञान में स्वीकृति हो और राग को टालने के लिये स्थिरतारूप क्रिया मुझमें मेरे द्वारा हो सकती है ऐसी श्रद्धा होने के बाद सर्व परद्रव्यों से परावलम्बन से मुक्त होकर स्व में एकाग्र लीनतारूप चारित्र हो सकता है। किन्तु अभी स्थूल

मिथ्यात्वरूप मान्यता से, अनादिकाल से यह मानता चला आ रहा है कि मैं पर कि प्रवृत्ति कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकता है, पुण्य से भला होता है, उससे धीरे धीरे धर्म प्रगट होता है, और ऐसी कल्पना किया करता है कि शरीर मेरा है, पर वस्तु मेरी है। इसप्रकार मानने वाले के धर्म कहाँ से हो सकता है ? आत्मा बदलकर कभी जड नही होता, और जड पदार्थ आत्मा कि नही हो सकते। परद्रव्य को छोडने की बात व्यवहार से है। वास्तव मे तो आत्मा को किसी पर ने ग्रहण किया ही नही है। केवल मान्यता मे ही पर की पकड थी कि राग मेरा है, पुण्य मेरा है, जड पदार्थ मेरे हैं, और इसप्रकार जड की अवस्था का स्वभाव मेरा है। इस विपरीत मान्यता से छूटना समस्त परद्रव्यो से छूटना है। आत्मा के भीतर कोई घुस नही गया है। भ्रम से पर मे कर्तृत्व मान रखा है कि जड–देहादि की क्रिया मेरे द्वारा होती है और पर से मुझे हानि–लाभ होता है, इसप्रकार जो पर को और अपने को एक करके मान रहा था, उस विपरीत मान्यता का स्वभाव की प्रतीति से प्रथम त्याग करना चाहिये। उस के बाद ही वर्तमान में दूसरे की ओर झुकती हुई अस्थिर अवस्था को स्वरूप स्थिरता से छोडा जा सकता है।

मैं परमात्मा के समान अनन्त आनन्द और अपारज्ञान स्वभाव हूँ। जैसे भगवान हैं वैसे ही परमार्थत मैं हूँ, ऐसी दृढ प्रतीति होने से सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। त्रैकालिक अविकारी स्वभाव का लक्ष होने पर वर्तमान क्षणिक अवस्था मे जो अल्पराग का भाव रहता है उसे नही गिनता। ज्ञान की तीव्र एकाग्रतारूप ध्यानाग्निके द्वारा सर्व राग के नाश करने की श्रद्धा विद्यमान है, इसलिये उसके बल से राग हटता हुआ दिखाई देता है। जैसे अग्नि में पाचक, प्रकाशक और दाहक शक्तियाँ विद्यमान हैं उसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण विद्यमान हैं। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, उसको अनन्त चैतन्यशक्ति भी शुद्ध है।

वर्तमान अवस्था में कर्म का निमित्त है उसे लक्ष में न लेकर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप में देखा जाय तो वह शुद्ध ही है। आत्मा में जो अशुद्ध अवस्था होती है उसकी स्थिति एक समयमात्र की है। विकारी भाव दूसरे समयमें करता है तो वह भी मात्र उस समयके लिये ही करता है। उस क्षणिक अवस्थारूप मैं नहीं हूँ मैं तो नित्य हूँ। शुद्धता अथवा अशुद्धता वर्तमान पर्याय में होती है द्रव्यदृष्टि से देखने पर द्रव्य में वह भेद नहीं है। आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है उसकी एक समय की वर्तमान अवस्था प्रगट होती है और दूसरी त्रिकाली अवस्था अप्रगट होती है अर्थात् शक्तिरूप से होती है। संसारी आत्मा में भी अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट शक्तिरूप से हैं।

आत्मा में समय समय पर होने वाली विकारी अवस्था प्रवाह से अनादि की है वह अवस्था क्षणिक होने से दूर की जा सकती है। आत्मा का स्वभाव रागद्वेष का नाशक है किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्य का स्वभाव अवगुण को जानने वाला है अवगुणरूप होकर जानने वाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करने से मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि पर से भिन्न अकेला रहना निजका स्वभाव है। और मैं पर में एकत्व बुद्धि को दूर कर स्व में रहना चाहता हूँ। पूर्ण होने से पहले पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा करना चाहिये क्योंकि उसके बिना पूर्ण की ओर का पुरुषार्थ नहीं आ सकता।

मैं त्रिकाल अनन्त गुणों का पिंड हूँ। एक समयमात्र की स्थिति का जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है। दोष और दुःख का ज्ञाता दोष अथवा दुःखरूप नहीं है। यदि मैं अवगुणों को दूर करना चाहता हूँ तो वे दूर हो सकते हैं और मुझमें उन्हें दूर करने की शक्ति विद्यमान है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं होता उसके व्रत और चारित्र कहाँ से हो सकते हैं। सम्यग्दर्शन से पूर्व सच्चे व्रतादिक नहीं हो सकते और सम्यग्दर्शन के बिना भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। यदि कषाय की मंदता हो तो पापानुबंधी पुण्य का बंध होता है। स्वतंत्र निरा

वलबी तत्त्व को समझे बिना धर्म नही होता, ऐसा नियम है। सर्वज्ञ कथित इस त्रैकालिक नियम मे अपवाद नही हो सकता।

यथार्थ आत्मस्वरूप को समझे बिना देहादि की क्रिया की बातो मे और उसके झगडे मे जगत लगा रहता है। आत्ममार्ग तो अन्तरग अनुभव मे है। अनादि से विपरीतता के कारण जीव ने जो कुछ मान रखा है वह यथार्थ नही है।

सुख अथवा दुख जड मे नही है, किन्तु परवस्तु की ओर झुकने का जो भाव है वही दुखरूप है। तीव्रकषाय अधिक दुख है और मदकषाय थोडा दुख है। उसे लोग सुख मानते हैं, किन्तु वे दोनो आत्मगुणरोधक हैं। जैसे धुआँ अग्नि का स्वभाव नही है, किन्तु गीली लकडी के निमित्त से वर्तमान अवस्था मे जो धुआँ दिखाई देता है, वह अग्नि का स्वरूप नही है। क्योंकि अग्नि के प्रज्वलित होने पर जैसे धुआँ दूर हो जाता है, उसीप्रकार चैतन्य स्वभाव राग-द्वेष के धुए से रहित है। वर्तमान अवस्था मे पुरुषार्थ के दोष से शुभ या अशुभवृत्ति का मैल उठता है, किन्तु वह आत्मस्वरूप नही है। अल्प मैल का फल अल्प दुख है, जिसे पुण्य कहा जाता है और अधिक मैल का फल अधिक दुख है, जिसे पाप कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव मे जीव के एकाग्र होने पर और ध्यानरूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर वह मैल दूर हो जाता है। शुभ और अशुभ दोनो भाव विकार हैं, दोनो को कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ मैल जानकर जो उसे दूर करना चाहता है वह दूर करने वाला मैं निर्मल हूँ। जिसकी ऐसी दृष्टि होती है वह उसे दूर कर सकता है।

त्रिकाल पूर्ण, निर्मल, निराकुल स्वभाव के लक्ष से वर्तमान क्षणिक शुभाशुभ आकुलतारूप भाव दूर किया जा सकता है, इसलिये पहले ही पूर्णस्वभाव की प्रतीति करने का कथन किया है। सपूर्ण दशा प्रगट होने से पहले आत्मा अपारआनन्दरूप, निर्मल, पवित्र है, ऐसी जो सम्यक्प्रतीति करता है वह सपूर्ण दशा को प्राप्त करता ही है। यहाँ कोई कहता है कि प्रगट होने के बाद मानूँगा, उसके लिए कहते हैं कि

परमात्मदशा प्रगट होने के बाद मानने को क्या रहेगा ?

मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ पुण्य–पाप के बन्धवाला नहीं हूँ, ऐसी सम्यक्–श्रद्धा में पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करने की सामर्थ्य है और उसके बल से वह पूर्णता को प्रगट करता है इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय कोई बताये तो वह सत्य नहीं है।

जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह कैसी है, कैसे मिले और कहाँ से मिले ? इत्यादि बातों का जोड़ पहले से ही निश्चय करता है। जैसे किसी को हलुवा बनाना है वह उसके बनाने से पहले अमुक वस्तुओं से वह बनेगा ऐसी प्रतीति करता है और फिर आटा घी शक्कर लेकर बनाने का परिश्रम करता है उसीप्रकार आत्मा चिदानन्द भगवान निर्मल वीतराग है पर से त्रिकाल भिन्न है उसको यथार्थरूप से पहचानने का अभ्यास करे उसके लिए निवृत्ति लेकर सत् समागम, श्रवण–मनन करे तो अपूर्व सत्य समझ में आता ही है किन्तु जिसे इस बात की रुचि नहीं है वह इस बात के कान में पड़ते ही कहता है कि यह बात हम नहीं मान सकते क्योंकि जो देखने में नहीं आता वह कैसे माना जा सकता है ? किन्तु यदि स्वभाव का विश्वास करके देखे तो सभी समय पूर्ण परमात्मस्वभाव हैं। आत्मा मनुष्य भी नहीं है ऐसा जानकर और वर्तमान विकारी अवस्था का लक्ष्य छोड़कर अखंड ज्ञायकरूप को ही मानकर यदि उसमें स्थिर हो तो संयोग और विकार दूर हो जाता है।

मैं पूर्ण परमात्मा हूँ राग और पुद्गल–परमाणुमात्र मेरे नहीं हैं मुझे पर का आश्रय नहीं है ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा ऐसे दर्शन ज्ञान से जाने हुए स्वरूप में स्थिरतारूप क्रिया चारित्र है।

जैसे वकील अपने ही पक्ष का समर्थन करता है उसके विरोधी का चाहे जो हो उसे वह नहीं देखता इसीप्रकार सर्वज्ञभगवान का न्याय आत्मा के ही पक्ष में होता है। लौकिक न्याय (नियम) में तो

देश, काल के अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु आत्मधर्म मे वैसा नही होता। कहा है कि:—"एक होय त्रणकालमा परमारथनो पथ"

जब यह जीव भेदज्ञानज्योति प्रगट करके परभाव से छूटकर स्वरूप मे स्थिर होता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र मे अन्तरग से एकत्वरूप मे लीन होकर रमणता करता है, तब केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है।

प्रश्न—क्या वास्तव मे जड मन सहायक है ?

उत्तर—नही, क्योकि प्रत्येक द्रव्य स्व अपेक्षा से है, और पर अपेक्षा से नही है। आत्मा स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। आत्मा मे परवस्तु असत् है। जो उसमे नही है वह उसका क्या कर सकता है ? जो पृथक् वस्तु है, उसे परवस्तु तीनकाल और तीनलोक मे सहायक हो ही नही सकती, अर्थात् वह मन जो कि आत्मा से भिन्न है, आत्मा का सहायक हो ही नही सकता।

जीव नाम का पदार्थ 'समय' है। जब जीव समस्त पदार्थोंके स्वभाव को प्रकाशित करने मे समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, समस्त परद्रव्यो से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभावमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र मे स्थित होने से अपने स्वरूप को एकतारूप से एक ही समय जानता हुआ तथा परिणमन करता हुआ 'स्वसमय' है, ऐसी श्रद्धा का होना मोक्षमार्ग कहा है।

अब अनादि का बन्धमार्ग कैसा है सो कहते हैं—पहले अनुकूलता के गीत गाये, अब प्रतिकूलता की बात कही जाती है। अनादि अविद्यारूपी केलस्तभ की तरह पुष्ट हुआ मोह है, उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन-ज्ञानस्वभाव मे निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्व से छूटकर, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-रागद्वेषादि भावो में एकत्वरूप से लीन होकर जीव जब प्रवृत्ति करता है तब पुद्गलकर्म

के कार्मणस्कन्धरूप प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने (आत्मा के) साथ एकरूप से एक काल में जानता हुआ और रागादिरूप परिणमन करता हुआ 'परसमय' है। इसप्रकार प्रतीति की जाती है।

मोह के उदय में जुड़ने से परवस्तु को अपनी माननेरूप जो पराश्रित भाव होता है वह आत्मा में सदा नहीं रह सकता। अज्ञान भी नित्य नहीं रहता तथापि जीव में वह अनादि से है इसलिये यह निश्चय हुआ कि जीव पहले शुद्ध था और बाद में अशुद्ध हुआ हो ऐसी बात नहीं है।

प्रश्न'—जब कि अज्ञान अनादि से है तब उसका नाश कैसे होगा ?

उत्तर'—जैसे चने से पौधा होता है और पौधे से चने होते हैं किन्तु यदि चना भून लिया जाये तो वह फिर नहीं उगता इसीप्रकार रागद्वेष–अज्ञानरूप अवस्था है उसका एक बार नाश होने पर वह फिर उत्पन्न नहीं होती।

जिसकी देहादि के ऊपर दृष्टि है उससे कहते हैं कि वह तेरे नहीं हैं तू पुण्य–पाप–देहादि के संयोग से भिन्न है सो तो उसे जचता नहीं है तथापि ज्ञानी कहता है कि हम स्वयं अनुभव करने के बाद कह रहे हैं कि तू *अपार सामर्थ्यवान अनन्तगुणरूप है* उसकी ओर दृष्टि कर। परके आश्रय से होने वाला विकार क्षणिक है वह तेरा स्वरूप नहीं है तू तो मुक्त, सिद्ध के समान है।

ऐसी सच्ची बात कभी नहीं सुनी, इसलिए 'हाँ' कहने में कठिनाई मालूम होती है। यदि बाह्य की बात की जाय तो तत्काल ही हुंकार करता है।

यहाँ अनादि अविद्या (पर को अपना मानना और स्वधर्म को भूल जाना) को केल की उपमा क्यों दी गई है ? सो कहते हैं.—जैसे केल की गाँठ में से केल के अनेक पुर्त फूटते जाते हैं, उसीप्रकार अज्ञान–

रूपी केल मे से राग द्वेष-तृष्णारूपी अनेक प्रकार के पुर्त फटते रहते हैं, और उनका फल चौरासी लाख का अवतार ग्रहण होता है।

यदि अपनी मानी हुई कोई बात आती है तो तुरन्त ही 'हाँ' कहता है, और यदि अपनी मान्यता से भिन्न बात कही जाय तो डके की चोट नकार देता है।

मोह का अर्थ है स्वरूप की असावधानी। उसके द्वारा अनादि से परवस्तु मेरी है, पुण्य पाप मेरे हैं, इसप्रकार जीव मानता है। ऐसी पराधीनदृष्टि होने से उसको स्वतत्र होने की बात अच्छी नही लगती। तू प्रभु है, पूर्ण है, निर्विकारी है; उसकी श्रद्धा कर। स्वभाव की 'हाँ' भरने से अन्तरंग से अनन्त बल आयेगा।

शुभ भाव भी आत्मस्वभाव में सहायक नही है। ऐसी समझ के बिना मात्र पुण्य की क्रिया की, और इसीलिये जो यह जीव अनन्त-बार नवमें ग्रैवेयक तक गया उसकी श्रद्धा व्यवहार से तो बहुत स्पष्ट होती है, क्योकि सम्पूर्ण व्यवहार शुद्धि के बिना नवमें ग्रैवेयक तक जा नही सकता, किन्तु अन्तरग मे परमार्थ श्रद्धान नही हुआ, इसलिये इसका भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जैसे किसी ने पहला घडा उल्टा रक्खा हो तो उसके ऊपर रक्खे गये सभी घडे उल्टे ही रहते हैं, इसीप्रकार जिसकी श्रद्धा विपरीत है उसका ज्ञान–चारित्र भी विपरीत होता है। इसलिये पहले से ही सच्चा स्वरूप समझने की आवश्यकता है। सत्य के समझने में देर लगती है इसलिए कोई हानि नही है, किन्तु यदि जल्दी करके विपरीत मानले तो हानि अवश्य होगी।

बाह्य मान्यता ने घर कर लिया है, इसलिए जीव को लौकिक प्रवृत्ति में मिठास मालूम होती है और पुण्य–पाप रहित शुद्ध आत्मधर्म की मिठास मालूम नही होती, प्रत्युत वैसी बात सुनकर बाह्यदृष्टि वाले जीव निन्दा और द्वेष करते हैं।

यह जीव जितना समय पर के लिये लगाता है उतना समय यदि अपने लिये लगाए तो कल्याण हुए बिना न रहे। हे भाई ! अनंत काल में यह महादुर्लभ मनुष्य भव मिला है इसमें यदि कल्याण नहीं किया तो फिर कब करेगा ?

यद्यपि पुण्य को धर्म मानने का निषेध किया गया है किन्तु पाप से बचने के लिए पुण्य करने का निषेध नहीं है। हाँ, पुण्य से धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा, ऐसी अनादि कालीन विपरीत मान्यता का निषेध मोक्षमार्ग में है। अज्ञानी जीवों ने राग की प्रवृत्ति को कर्तव्य मान रखा है। पुण्य पाप का भाव मुझे सहायक होगा शरीर मन वाणी मेरे सहायक होंगे पर का मैं कुछ कर सकता हूँ पर मेरा कुछ कर सकता है इसप्रकार पर में एकत्व की मान्यता से पुष्ट हुई मोहरूप भ्रांति चली आरही है। इसलिए अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष करके विकार भाव में एकत्व भाव से लीन होकर जो जीव प्रवृत्ति करता है पर में कर्तृ स्वरूप पराधीनता के द्वारा निर्मल दर्शन–ज्ञान स्वभाव से छूटकर परवस्तु को निजरूप मानता हुआ राग-द्वेष मोह में एकत्वरूप से लीन होकर परिणमन करता है वह परसमय है वह जीव अधर्मी है अनात्मा है और अपनी हिंसा करने वाला है।

समय का अर्थ है आत्मा उसका जो पूर्ण–पवित्र स्वरूप है सो समयसार है। आत्मा के अनन्त–आनन्दमय शुद्ध पवित्र स्वरूप का निर्णय करना सो सम्यकदर्शन है। यहाँ अन्धश्रद्धा से मान लेने की बात नहीं है किन्तु भेदविज्ञान द्वारा भलीभांति परीक्षा करके नि सदेह रूप से स्वरूप को मानना सो सम्यकश्रद्धा है।

आत्मा ने मन के अवलम्बन से जो शुभ–अशुभ वृत्तियां उठती हैं वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। मन जड़ है वह आठ पांखुड़ी के कमल के आकार वाला है उसका स्थान हृदय में है जैसे स्पर्श इत्यादि को जानने में इन्द्रियां निमित्त होती हैं, उसीप्रकार विचार करने में मन निमित्त होता है। वह बाह्य–स्थूल इन्द्रियों जैसा दिखाई नहीं देता।

प्रश्नः—तब फिर मन है, यह कैसे जाना जायगा ?

उत्तरः—यदि ज्ञान अकेला स्वतत्र कार्य करता हो तो परावलम्बन न हो, और क्रम भी न हो, किन्तु जब विचार मे क्रम पडता है तव मन का निमित्त होता है। पाँच इन्द्रियो के द्वारा जो विषयो का ज्ञान होता है उन इन्द्रियो के सम्बन्ध का ज्ञानोपयोग बधकर अन्तरग मे विचार करने पर एक के बाद दूसरा क्रम पूर्वक विचार आता है, तब इन्द्रियो मे प्रवृत्ति नही होती, तथापि विचार मे क्रम पडता है। वह परावलम्बन को सिद्ध करता है। वह परावलम्बनरूप द्रव्य-मन है। वह विचार मे सहायता नही करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है। ज्ञान अपने ज्ञान-स्वभाव के द्वारा ही जानता है। परवस्तु आत्मा की सहायता कर ही नही सकती।

लोगो मे आजकल सच्चे तत्व की बात नही चलती। धर्म के नाम पर बहुत सा परिवर्तन हो रहा है, कुछ लोग आत्मा को देह और वाणी से पृथक् कहते हैं, किन्तु वह मन से भी भिन्न है, सकल्प-विकल्परूप पुण्य-पाप की वृत्ति से भी भिन्न है। वह पर के आश्रय के बिना स्व में रहने वाला है, और स्वतत्रतया सबको जानने वाला है, ऐसा नही मानते, इसलिए उनको धर्म का प्रारम्भ भी नही होता। धर्म बाह्य में नही किन्तु अपने में ही है। जिसे यह ज्ञात नही है कि देह, वाणी और मन से रहित धर्मस्वरूप आत्मा स्वय ही है। जो पर के ऊपर लक्ष रखता है, तथा यह मानता है कि पर सहायक होता है, पर के अवलम्बन से लाभ होता है, वह झूठा है। निमित्त पर है, और पर की स्व में नास्ति है, इसलिए निमित्त पर का कुछ नही करता, किन्तु स्वय परावलम्बन में (रागादि में) रुककर हीन हो जाता है। जब वह विकार करता है तब जिस वस्तु की उपस्थिति होती है उसको निमित्त कहा जाता है। निमित्त किसी को बिगाडता अथवा सुधारता नही है, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं अपने को भूलकर परके ऊपर आरोप करता है। इन्द्रिय विषयो में या स्त्री, मकान, आभूषणादि

में सुख नहीं है किन्तु स्वयं अज्ञान से कल्पना करता है कि पर में सुख है संयोग में सुख–दुःख है। स्त्री पुत्रादि इसप्रकार चलें तथा इस प्रकार बोलें तो ठीक और इसप्रकार चलें तथा इसप्रकार बोलें तो ठीक नहीं इसप्रकार अपनी रुचि के अनुसार अच्छे–बुरे की कल्पना करता है। कहीं सुख–दुःख दृष्टि से नहीं देखा मात्र कल्पना से मान लिया है। सुख का निर्णय मैंने कहाँ किया है यह भी किसी दिन विचार नहीं किया तथापि वहाँ शंका नहीं करता। विषयों में सुख की कल्पना करना अरूपी भाव है वह दिखाई नहीं देता फिर भी बिना विचार किए उसको मान लेता है। वहाँ यह तर्क नहीं करता कि आँखों से देखूँगा तभी मानूँगा। पर में सुख है यह जिसप्रकार विपरीत ज्ञान से निश्चय किया है उसीप्रकार मन इन्द्रिय देहादि मेरा स्वरूप नहीं है मैं सभी को जानने वाला हूँ मैं ज्ञानस्वरूप सदा पर से भिन्न हूँ मैं क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ मैं पूर्ण स्वतंत्र सुखरूप हूँ ऐसा विचार पूर्वक यथार्थ निर्णय स्वतः ही कर सकता है। यथार्थ निर्णय करके उसमें एकाग्र होने से सच्चा सुख प्रगट होता है।

यदि वर्तमान में ही पूर्ण स्वतन्त्रदशा प्रगट हो तो अविकारी दशा प्रगट हो और अविकारी दशा हो तो अनंत–आनंद दशा प्रगट हो। किन्तु वर्तमान में विकार है इसलिए भेदज्ञानज्योति के द्वारा राग–द्वेष–मोह से आत्मा को पृथक करने का प्रयत्न करना पड़ता है।

एक बार सत्य श्रद्धा करने से भेदज्ञानज्योति के द्वारा समस्त परद्रव्य और परभाव से मुक्ति होती है। यदि एक बार स्वतंत्र स्व समय को मान ले तो संसार न रहे। सम्यग्ज्ञान क्या है ? यह अनन्त काल में कभी नहीं जाना और अज्ञान भाव से धर्म के नाम पर पाप को कम करके पुण्यबन्ध किया किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ और इस लिये भव–भ्रमण नहीं रुका।

मोह प्रमादि अज्ञानरूपी केसस्तम्भ के समान है। मोह का अर्थ है–स्वरूप में भ्रांति अर्थात् निज को भूल जाना और पर को अपना

मानना, यही अनत ससार का कारण है। सम्यग्दर्शन के द्वारा उसका नाश होता है।

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे। गृहस्थ दशा मे यथार्थ स्वरूप की प्रतीति हो सकती है। श्रेणिक राजा अभी पहले नरक मे हैं, वहाँ से निकलकर मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और आने वाली चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर होगे। उन्होने चारित्र न होने पर भी एकावतारित्व प्राप्त किया। पहले अज्ञान अवस्था मे नरकायु का बन्ध हो गया था, उससे मुक्त नही हुआ जा सकता। किन्तु तब साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा महावोरस्वामी के निकट आत्मप्रतीति होने के बाद शुभ राग उत्पन्न हुआ और उसमें तीर्थंकर नामकर्म का बध हुआ। ऐसा उच्च पुण्य सम्यग्दृष्टि के ही बँधता है।

मैं पुण्य–पाप के विकार से भिन्न हूँ, राग मेरा स्वरूप नही है। शुभराग आत्मधर्म मे सहायक नही है, क्योकि वह विकार है, जो कि अविकारी स्वरूप धर्म में सहायक नहीं होता, ऐसी समझ जिसको होती है उसको तीर्थंकर नामकर्म सहज ही बँध जाता है। श्रेणिक राजा के कोई व्रत अथवा चारित्र नही था तथापि मैं पर का कर्ता नही हूँ, मात्र ज्ञाता ही हूँ, ऐसी श्रद्धा के बल से वे एकावतारी हो गये, वे भविष्य मे तीर्थंकर होगे। उनके अतरग मे निश्चय स्वरूप का यथार्थ भाव था, पर का स्वामित्व नही था, और इसलिये एकावतारित्व हुआ। यह मात्र सम्यग्दर्शन की ही महिमा है। उसके बिना अनतबार धर्म के नाम पर व्रतादि क्रियाएँ की, शरीर मे काटे लगाकर उसे जला दिया जाय तो भो क्रोध ना करे, ऐसी क्षमा रखने पर भी धर्म नही हुआ, मात्र शुभ भाव हुआ। इतना करने पर भी आत्मा, मन, वाणी, देह से पर है, पुण्य–पाप के विकल्प से रहित है, ऐसी श्रद्धा नही जमी।

अनादि से पर में कर्ता–कर्मरूप प्रवृत्ति से पराधीन हो गया, स्वाधीन नही रहा। अपने स्वाभाविक दर्शन, ज्ञान, चारित्र भाव की

एकता से छूटकर परद्रव्य के आश्रित होने वाला जो विकार पुण्य-पाप मोह भाव है वही मैं हूँ, इसप्रकार उसमें एकत्वबुद्धि करके प्रवृत्ति करता है पर के स्वामित्व से परद्रव्य की प्रवृत्ति में लीन होकर प्रवृत्त होता है। इसप्रकार कर्म के फल में भटक रहा है। पर को अपने साथ एकरूप माननेवाला जाननेवाला और रागादिरूप से परिणमन करने वाला 'परसमय है, अशुद्ध अवस्था वाला है। आत्मा अकेला हो तो अशुद्धता नहीं आ सकती किन्तु पुद्गलकर्म का निमित्त है इस लिए उसके आरोप से अशुद्ध अवस्था कहलाती है। मूल द्रव्य में अशुद्धता घुस नहीं गई है। स्वभाव से देखें तो वर्तमान क्षणिक अशुद्धता के समय भी आत्मा शुद्ध ही है। सोना सौटंची ही होता है। परधातु के संयोग के समय भी वह सौटंची शुद्ध था इसलिये वह शुद्ध हो सकता है। जब सोने में तांबा मिला हुआ था तब भी तांबा सोने का नहीं था इसलिए वह उससे अलग किया जा सकता है। उसी प्रकार पर के निमित्त से रहित स्वाभाविक वस्तु के ऊपर लक्ष करने पर जीव क्षणिक विकार दूर कर सकता है। अखण्ड गुण की प्रतीति के बिना विकार का नाशक हूँ ऐसी श्रद्धा के अभाव से मैं पुण्य वाला हूँ विकारी हूँ स्थूल हूँ ऐसा मानकर पुण्यादि पर का आश्रय ढूंढता है। यदि इस विपरीतदृष्टि को बदलकर पूर्ण-पवित्र स्वभाव का लक्ष करे तो परमात्मदशा प्रगट होती है।

'पुद्गल कर्म प्रदेश स्थित है इसका अर्थ है कर्म विपाक में युक्त होना। जैसे बादल पकते हैं वृक्ष में फल लगते हैं उसीप्रकार कर्म परमाणु में विपाकरूपी फल देने की शक्ति प्रगट होती है तब अज्ञानी उसमें राग-द्वेष भाव से युक्त होता है उसको अपना स्वरूप मानता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति-स्थिरता होती है। इसलिए वह 'परसमय अधर्मी है ऐसा जानना चाहिए। सम्भव है यह वचन कठोर मालूम हों किन्तु वे सच्ची वस्तु-स्थिति को दिखाते हैं इसलिये सत्य हैं। जिसने निज को स्वतंत्र निर्मल ठीक नहीं माना उसने परको ठीक माना है और इसलिये निज को भूलकर वह पर के राग में

अटक रहा है ।

यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो तो पूर्ण ध्यान रखकर समझना चाहिये, आत्मा सूक्ष्म है इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है । एक 'स्व की समझ' के बिना अन्य सब अनतबार किया है । आत्मा की परम सत्य बात किसी ही विरले स्थानपर सुनने को मिलती है, यदि कोई धर्म सुनने जाये तो वहाँ कथा कहानिया सुनाई जाती हैं, बाह्य की प्रवृत्ति बताई जाती है, बाह्य क्रिया से सतोष मनवाकर–धर्मके स्वरूप को शाक–भाजी की भाँति सस्ता बना दिया गया है । जो बात अनन्त काल में नही समझी गई उसे समझने के लिए तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए । लौकिक बात और लोकोत्तर बात बिल्कुल भिन्न होती है । यदि यह बात जल्दी समझ में न आये तो इन्कार मत करना, जो अपना स्वाधीन स्वरूप है वह ऐसा कठिन नही हो सकता कि समझ में ही न आये, मात्र सत् समझने का प्रेम चाहिए । आचार्यदेव ने कहा है कि में अपनी और तुम्हारी आत्मा में सिद्धत्त्व स्थापित करके यह तत्त्व बतलाता हूँ ।

अनजान व्यक्ति को ऐसा लगता है कि प्रति दिन एक ही बात क्यो की जाती है । किन्तु अरे भाई ! आत्मा तो सभी को जानने वाला है, पर का कर्ता नही है । अजीव के ऊपर किसी आत्मा की सत्ता नहीं चलती । भगवान आत्मा तो पर से भिन्न, ज्ञाता, साक्षी, अरूपी है, देहादि जड रूपी हैं, उनका कार्य अरूपी जीव कभी नही कर सकता । ऐसी ' दो और दो चार ' जैसी स्पष्ट बात बुद्धि वालों को कठिन कैसे लगती है ? रूपी का कार्य अरूपी के नहीं होता, क्यो कि दोनो पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं । एक जीव दूसरे जीव का किसी समय कुछ नही कर सकता ।

लोग कहते हैं कि जैसी इच्छा की जाय उसीप्रकार जड की क्रिया होती है, वह स्पष्ट दिखाई देती है । किन्तु यही विपरीतदृष्टि का भ्रम है । "मैं करता हूँ, मैं करता हूँ," यही मान्यता अज्ञान है । जैसे

गाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीव को देह से पृथकत्व का–साक्षीपने का मान नहीं है इसलिये पर का कर्ता होकर ऐसा मानता है कि मैं करता हूँ मैं करता हूँ।' शरीर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है। उसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है। शरीर मन, वाणी से आत्मा पृथक है ऐसा न मानकर पर में एकत्वबुद्धि करके विकार को अपना मानकर जीव रागरूप से परिणमन करता है उसके 'परसमय' बताया गया है।

भावार्थ —जीव नामकी वस्तु को पदार्थ कहा है। जीव' शब्द जो अक्षरों का समूह है सो पद है और उस पद से जो द्रव्य–पर्यायरूप अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है सो पदार्थ है।

आत्मा पर अपेक्षा से नहीं है और स्व अपेक्षा से है यह अनेकांत है। प्रत्येक पदार्थ स्व अपेक्षा से है सो अस्ति और पर अपेक्षा से नहीं है सो नास्ति है। प्रत्येक वस्तु में ऐसे दो स्वभाव हैं। जो स्व अपेक्षा से है वह यदि पर अपेक्षा से हो जाय तो स्वयं पृथक न रहे। और जो पर अपेक्षा से नहीं है उसीप्रकार स्व अपेक्षा से भी नहीं है ऐसा माना जाये तो स्व का अभाव हो जाय। लकड़ी लकड़ी की हो अपेक्षा से है, और दूसरी अपेक्षा से नहीं है। इसप्रकार लकड़ी को देखकर निश्चय होता है। इसीप्रकार अस्ति–नास्ति दोनों एक पदार्थ के स्वतंत्र धर्म हैं।

गुड़ शब्द से गुड़ पदार्थ का निश्चय होता है। शब्द में पदार्थ नहीं है। इसीप्रकार जीव शब्द में जीव वस्तु नहीं है और जीव पदार्थ में शब्दादि नहीं हैं। यहाँ जीव शब्द कहा है उसके द्वारा जीव पदार्थ को द्रव्य–पर्यायस्वरूप से निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलों में कहा है.—

(१) प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र द्रव्य द्रव्य–पर्यायस्वरूप से अनेकान्तत्व निश्चय किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षरण-क्षण मे एक के बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन-ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है।

(४) द्रव्य अनन्त गुणमयी, अनन्त धर्मस्वरूप होने से गुण-पर्याय वाला है।

(५) स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव से अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेक को जानकर अनेकरूप नही हो जाता।

(६) और वह आकाशादि से भिन्न, असाधारण चैतन्य-गुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् पर से भिन्न गुण। यह उसका स्थूल अर्थ है। असाधारणगुण का सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुण के अतिरिक्त अनन्तगुण जो आत्मा मे हैं वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-पर को नही जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्व को और स्व से भिन्न समस्त अपने गुण—पर्यायो को जानता है, इसलिये असाधारण है।)

(७) अन्य द्रव्य के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी वह अपने स्वरूप को नही छोडता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभाव मे स्थिर रहता है अर्थात् स्व मे एकत्वरूप से परिणमन करता है तब तो 'स्वसमय' है और जब पर में एकत्त्वपने से लीन होकर राग—द्वेषरूप से परिणमन करता है तब 'परसमय' है।

इसप्रकार जीवके द्विविधत्त्व होता है। अब समयके द्विविधत्त्व में आचार्य बाधा बतलाते हैं। मै पुण्य-पापरहित निर्मल हूँ, ऐसा मानकर जो ठहरना है सो स्वसमयरूप मोक्षभाव है और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पुण्य-पाप के विकारी भाव का कर्त्ता होकर उसमें परिणमित होता है—स्थिर होता है सो वह पर समयरूप बंधभाव है।

जीव मे जब मोक्षभाव होता है तब बंध भाव नही होता। जीव स्वभाव से एकरूप है तथापि उसे दो प्रकार बतलाना सो दोष है।

गाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीव को देह से पृथक्त्व का–साक्षीपने का मान नहीं है इसलिये पर का कर्ता होकर ऐसा मानता है कि मैं करता हूँ मैं करता हूँ।' शरीर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है। उसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है। शरीर मन, वाणी से आत्मा पृथक है ऐसा न मानकर पर में एकत्वबुद्धि करके, विकार को अपना मानकर जीव रागरूप से परिणमन करता है उसके 'परसमय' बताया गया है।

भावार्थ —जीव नामकी वस्तु को पदार्थ कहा है। 'जीव' शब्द जो अक्षरों का समूह है सो पद है और उस पद से जो द्रव्य–पर्यायरूप अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है सो पदार्थ है।

आत्मा पर अपेक्षा से नहीं है और स्व अपेक्षा से है यह अनेकांत है। प्रत्येक पदार्थ स्व अपेक्षा से है सो 'अस्ति' और पर अपेक्षा से नहीं है सो 'नास्ति' है। प्रत्येक वस्तु में ऐसे दो स्वभाव हैं। जो स्व अपेक्षा से है वह यदि पर अपेक्षा से हो जाय तो स्वयं पृथक न रहे। और जो पर अपेक्षा से नहीं है उसीप्रकार स्व अपेक्षा से भी नहीं है ऐसा माना जाये तो स्व का अभाव हो जाय। लकड़ी लकड़ी की ही अपेक्षा से है और दूसरी अपेक्षा से नहीं' है। इसप्रकार लकड़ी को देखकर निश्चय होता है। इसीप्रकार अस्ति–नास्ति दोनों एक पदार्थ के स्वतंत्र धर्म हैं।

गुड़ शब्द से गुड़ पदार्थ का निश्चय होता है। शब्द में पदार्थ नहीं है। इसीप्रकार जीव शब्द में जीव वस्तु नहीं है और जीव पदार्थ में शब्दादि नहीं हैं। यहाँ जीव शब्द कहा है उसके द्वारा जीव पदार्थ को द्रव्य–पर्यायस्वरूप से निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलों में कहा है —

(१) प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र द्रव्य द्रव्य–पर्यायस्वरूप से अनेकान्तत्व निश्चय किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षण-क्षण में एक के बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन-ज्ञानमयी चेतना स्वरूप है।

(४) द्रव्य अनन्त गुणमयी, अनन्त धर्मस्वरूप होने से गुण-पर्याय वाला है।

(५) स्व-पर को जाननेवाला स्वभाव से अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेक को जानकर अनेकरूप नही हो जाता।

(६) और वह आकाशादि से भिन्न, असाधारण चैतन्य-गुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् पर से भिन्न गुण। यह उसका स्थूल अर्थ है। असाधारणगुण का सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुण के अतिरिक्त अनन्तगुण जो आत्मा में हैं वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-पर को नहीं जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्व को और स्व से भिन्न समस्त अनन्त गुण–पर्यायो को जानता है, इसलिये असाधारण है।)

(७) अन्य द्रव्य के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी यह अपने स्वरूप को नही छोडता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभाव मे स्थिर रहता है अर्थात् स्व में एकत्वरूप से परिणमन करता है तब तो 'स्वसमय' है और जब पर में एकत्वरूप से लीन होकर राग–द्वेषरूप से परिणमन करता है तब 'परसमय' है।

इसप्रकार जीवके द्विविधत्व होता है। अब समयके द्विविधत्व में आचार्य बाधा बतलाते हैं। मैं पुण्य-पापरहित निर्मल हूँ, ऐसा मान कर जो ठहरना है सो स्वसमयरूप मोक्षभाव है और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पुण्य-पाप के विकारी भाव का कर्त्ता होकर उसमें परिणमित होता है–स्थिर होता है सो वह पर समयरूप बंधभाव है।

जीव में जब मोक्षभाव होता है तब बंध भाव नहीं होता। जीव स्वभाव से एकरूप है तथापि उसे दो प्रकार ...

ज्ञान सदा स्थिरतारूप एक ही प्रकार से रहना ठीक है। इसलिये अपना जैसा स्वरूप है वैसा एकत्व समझकर प्राप्त कर लेना ही सुन्दर है और उससे विपरीतता शोभारूप नहीं है। इस अर्थ की गाथा निम्न प्रकार है

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बन्धकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अर्थ—एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है इसलिये एकत्व में दूसरे के साथ बन्ध की कथा विसंवाद—विरोध करने वाली है।

इस गाथा में बहुत बड़ी गहरी बात है अपार रहस्य भरा है। प्रत्येक गाथा में मोक्ष का अमोघ मन्त्र भरा है किन्तु वाणी में सब नहीं आ सकता। जिसके ४–५ गाड़ी अनाज पैदा होता है उसके काम करने वाले थोड़ा अनाज ले जाते हैं किन्तु जहाँ हजारों मन अनाज पदा होता है उसके काम करनेवाले अधिक ले जाते हैं। इसीप्रकार जिसके मति–श्रुतज्ञान सम्यक् होता है उसके अमुक निर्मलता के पाक में से थोड़ासा कथन प्राप्त होता है किन्तु जिनको साक्षात् केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उन सर्वज्ञ भगवान की धाराप्रवाही वाणी साक्षात् श्रवण करने वाले गणधर देवों को अधिकाधिक मिलती है। यह समयसार शास्त्र साक्षात् भगवान की वाणी से आया है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजते हैं उनके मुखकमल से वाणी का प्रवाह छूटता है। सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव का एकसमय में वे ज्ञान रहे हैं। चार कर्मों को नाश कर तेरहवीं भूमिका में (गुणस्थानमें) सर्वज्ञ वीतरागदशा में परमात्मपद पर विराज रहे हैं। समवसरण में उनकी दिव्यध्वनि सहज छूटती है। हजारों

धर्मात्मा संत मुनि उसका लाभ ले रहे है। पहले भरत क्षेत्र में भी ऐसा ही था।

विक्रम संवत् ४९ के लगभग श्री भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव भरतक्षेत्र से महाविदेहक्षेत्र मे श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहकर खूब श्रवण,–मनन करके भरतक्षेत्र मे वापिस आए और 'समयसार,' 'प्रवचनसार' इत्यादि शास्त्रो की रचना की। भगवान के पास श्री कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, यह बात सत्य है। साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ 'समयसार' का भाव उनने ४१५ गाथाओ मे सूत्ररूप से गूंथा है। वर्तमान काल के जीव उनका कहा हुआ समस्त शास्त्र ज्ञान सम्पूर्ण भाव मे समझ नही सकते। जितने में अपना पेट पूरा भरे उतना ग्रहण कर सकते हैं; सम्यक्श्रद्धा तो पूर्णतया कर सकते है। उनके जैसा चारित्र नही पाल सकते, किन्तु एकावतारी हो सकने के लिए वैसी सामर्थ्य वर्तमान मे भी है। अपनी तैयारी के बिना कौन मानेगा और उसे स्वयं जाने बिना क्या खबर पड सकती है? घी की प्रशंसा सुनने वाला घी का स्वाद नही जानता, और खानेवाले को देखने से भी घी का स्वाद नही आता, किन्तु स्वयं घी का लौदा मुंह में डालकर एकाग्र हो तो उसके स्वाद का अनुभव कर सकता है। उसीप्रकार अतीन्द्रिय–आनन्दस्वरूप आत्मा की प्रशंसा सुने अथवा उसकी कथा सुने तो उतने मात्र से उसका आनन्द नही आता, और उस वस्तुके जानकर जीव को देखे तो भी खबर नही पडती किन्तु उसे जानकर स्वरूपलीनता के द्वारा स्वयं अनुभव करे तब उसके आनन्द का अनुभव कर सकता है।

आत्मा का सत्स्वरूप भलीभाँति श्रवण करना चाहिये, श्रवण करने के बाद उसका गूढ भाव अन्तरंग में प्राप्त करके वस्तु का स्वयं निर्णय करके अनुभव करना चाहिये। उसके लिए विशेष निवृत्ति लेना चाहिए, बारम्बार स्वाध्याय और चर्चा करनी चाहिए। उससे उकताना नही चाहिये। बारहवें स्वर्ग में से देव भी बडे पुण्यकी समृद्धि को छोडकर यहाँ मनुष्य लोक में धर्म श्रवण करने को आते हैं। स्वयं ज्ञानी होने पर भी तत्त्व की रुचि में विशेष निर्णय करने और तीर्थंकर भग-

नाम की वाणी सुनने के लिये ये धर्मसभा में आते हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि जो स्वाश्रय है सो सुन्दर है, किन्तु पराश्रय में बंधन होने से वह असुन्दर है। लोक में कहा जाता है कि 'पराधीन सपने हु सुख नाहीं। स्वाधीनता में दूसरे का मुख नहीं ताकना पड़ता। एकत्वदशा कितनी सुन्दर है ! कर्म संबन्ध के विकारका कथन विसवाद करने वाला है। एकमात्र चिदानन्द की बात सुन्दर है और पर के साथ बन्धन भाव की कथा असुन्दर है। एक में बन्ध नहीं होता। परवस्तु के संयोग से पराश्रय से बन्ध होता है। आचार्य कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा को हीन या पर की उपाधि वाला कहना पड़े यह बात शोभा नहीं देती किन्तु क्या किया जाय ! अपनी भूल से बन्धन भाव हैं, इसलिये ऐसा कहना पड़ता है।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को शक्ति की अपेक्षा से सबका ज्ञाता होने से महान् कहा है। इसलिये 'पर मुझे हैरान करता है ऐसा जो मानता है उसको यह बात शोभा नहीं देती। तेरी अपार सामर्थ्य की महिमा गाई जा रही है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि —

" जे पद श्री सर्वज्ञे दीठु ज्ञान मां,
कही शक्या नहिं पण ते श्री भगवान जो।
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी ते शु कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्यु ते ज्ञान जो ॥ "

(अपूर्व अवसर गाथा २)

आत्मा का अरूपी निर्मल ज्ञानानन्द स्वरूप साक्षात् केवल ज्ञान में भगवान ने जाना है वह स्वरूप अंतर में पूर्ण होने पर भी वाणी से पूरा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भगवान आत्मा मन और इंद्रियों के अवलम्बन के बिना केवल अन्तरंग के अनुभव से ही जाना जा सकता है।

लोक में कहा जाता है कि मुझ जैसा कोई बुरा नहीं है किन्तु *ऐसा क्यों नहीं कहता कि मुझ जैसा कोई भला नहीं है ? कोई*

किसी को बुरा नही कर सकता। स्वय अपने मे बुरा भाव कर सकता है, और उससे अपना ही अहित होता है। आचार्य देव कहते हैं कि स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप निजमे एकरूप है, उसमे बन्धपने की बुरी बात करना लज्जाजनक है। ससार मे पर को बुरा कहकर आनन्द माना जाता है, तव आचार्य देव को आत्मा को विकार और वधन वाला कहने मे लज्जा मालूम होती है। ससार मे परिभ्रमण करने वाला बुराई मे—विकार मे पूरा होना चाहे तो भी उसमे पूर्ण नही हो सकता, क्योंकि विकार आत्मा का स्वरूप नही है, एकतत्त्व मे वन्ध कहने पर स्वतन्त्रता के ऊपर प्रहार होता है। भाई! दृष्टि को वदल, स्वतन्त्रता की ओर देख तो वधन नही रहेगा। एकत्त्व निश्चय को प्राप्त, स्वतंत्र सिद्धदशा मे स्थित रहता है, सो तो सुन्दर है, किंतु जो पर मे एकत्त्वरूप दृष्टि को प्राप्त ससारदशा मे-बन्धदशा मे है जो कि असुदर है।

लोगो मे ऐसा कहा जाता है कि ससुराल के नाम से जमाई की पहचान होना लज्जाजनक है। वह स्वय जिसकी सतान है उस पिता के नामसे पहचाना जाय तो ठीक है, उसीप्रकार भगवान आत्मा अपनी सजातीय सतान, निर्मल पर्याय जो शुद्धात्मा है उसके सबध से पहचाना जाय तो यथार्थ है, किंतु कर्म के निमित्त से विकार पर्याय के द्वारा पहचाना जाय तो यह बहुत बुरी बात है। बध भाव के द्वारा पहचाने जाने मे तेरी शोभा नही है। अन्तरग से निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्र का प्रवाह बहता है, उससे आत्मा की पहचान होना सुन्दर है, किन्तु पराधीनता—कलक के द्वारा पहचान होना सुन्दर नही है।

सर्वज्ञ भगवान ने देखा है कि इस जगत् मे यह वस्तुऐं अनादि-अनत और भिन्न भिन्न रूप से विद्यमान हैं—जीव, पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल। इन छह द्रव्यो में से एक आत्मा के ही ससार रूप बन्धन है। विभावरूप परसमयत्व विरोधरूप है। शुद्धस्वरूप में स्थिर होना सो स्वसमय है, और पर मेरे हैं ऐसा मान-कर पर में स्थिर होना सो पर समय है। आत्मा वस्तु एक है और उस

में अवस्थायें दो हैं—निर्मल और मलिन। ऐसे परके संबंध की विकारी दशायुक्त आत्मा को समझना सो झंझट में डालने वाली बात है।

एकत्व-निश्चय को प्राप्त जगत के संपूर्ण पदार्थ शोभा को प्राप्त होते हैं। आत्म पदार्थ अनादि अनंत-स्वतन्त्र है, उसे पर के संबंध से बन्धनवाला कहना कर्म के आधीन कहना सो पराधीनता है स्वतन्त्रता को भूलने का भाव है। जैसे गाय के दोनों पैरों के बीच में डेंगुर (लकड़ी) डाला जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि यह गाय सीधी नहीं है इसीप्रकार भगवान चैतन्य तत्त्व स्वतन्त्र है वह कर्मके डेंगुर से बंधन भाव में रहता है। उसे ज्ञानी कभी भी ठीक नहीं मानता। पुण्य अच्छे हैं शरीर आदि की अनुकूलता अच्छी है यों कहना चैतन्य के लिये शोभा की बात नहीं है। पराधीनता को लाभरूप मानना शोभनीक नहीं है। बन्ध कथा स्वयं विरोधवाली नहीं है किन्तु आत्मा बंधन वाला है। इसप्रकार की मिथ्या मान्यता विरोध वाली है क्योंकि संयोगी पदार्थ तो क्षणिक हैं। आत्मा सर्व संयोग से पृथक ही है। तथापि मिलता और स्वतन्त्र तत्त्व को भूलकर पर का आश्रय मानना ठीक नहीं है।

साधारण—लौकिक नीति में मानने वाले को भी किसी अनीति का आदर नहीं होता। लौकिक नीति में पूर्ण—अच्छे कुल का कोई पुत्र यदि नीच के घर जावे तो पिता उससे कहता है कि भाई! अपना कुल जैसा है उसे यह कुशील का साथ शोभा नहीं देता यह बात अपनी कुल और जाति के लिए कलंकरूप है उसीप्रकार त्रिलोकी नाथ पिता संसार में भटके हुए आत्मा से कहते हैं कि "तेरी सिद्ध की जाति है जड़ देहादि पुण्य पाप विकार में रहना तुझे शोभा नहीं देता।

जो लोग अनीति करते हैं उन्हें भी नीति के नाम की ओट लेनी पड़ती है और वे कहते हैं कि क्या हम झूठ बोलते हैं? इस प्रकार नीति की ओट के बिना जगत का काम नहीं चलता। जिसके साधारण नीति और सज्जनता है उसे कुशील शोभा नहीं देता। किसी भी प्रकार की अनीति कलंकरूप है। और जब कि लौकिक नीति

मे भी ऐसा है तब आत्मा के लिए उत्कृष्ट लोकोत्तर नीति तो आवश्यक है ही। उसे भूलकर बन्धन के प्रति उत्साहित होकर कहे कि मैंने पुण्य किया, पुण्य के फल से बडा राजा होऊँगा, देव होऊँगा, ससार मे ऐसी व्यवस्था करूगा, वैसा करूगा, इत्यादि, सो सब कलकरूप है।

अब 'समय' शब्द से, सामान्यरूप से (भेद किये विना) सर्व पदार्थ कहा जाता है, क्योकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायो को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो 'समय' है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और अवस्था को प्राप्त होकर नित्य-ध्रुव रहता है, सो समय है।

जगत् मे इन्द्रियग्राही पदार्थ पुद्गल-अचेतन हैं। जो दिखाई देता है वह जड की स्थूल अवस्था है, क्योकि मूल परमाणु इन्द्रियो से नही जाना जा सकता। परमाणु मे भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। रोटी, दाल, भात इत्यादि में रजकणता स्थायी रहती है, और अवस्था (पर्याय) बदलती रहती है। रजकण स्वतत्ररूप से रहकर अपनी अवस्था को बदलते हैं, उनके जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण हैं वे स्थायी बने रहते हैं। इसीप्रकार जीव भी अनन्त गुणो से युक्त, स्थिर रहकर अपनी अवस्था को बदलता रहता है।

लोक में छह पदार्थ हैं, वे यहाँ कहे जाते हैं —

१—धर्मास्तिकाय—यह अनादि अनन्त पदार्थ है, अरूपी है, लोकाकाश प्रमाण है, एक अखण्ड द्रव्य है। यह द्रव्य स्वय गमन नही करता, किन्तु जीव पुद्गल को गमन करने मे निमित्त है। जैसे मछली को गमन करने मे जल निमित्त है, उसीप्रकार यह धर्मद्रव्य है।

२—अधर्मास्तिकाय—यह द्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, और जीव-पुद्गल को गति में से स्थितिरूप होने मे निमित्त है। जैसे पथिक को वृक्ष की छाया ठहराने में निमित्त है।

३—आकाशास्तिकाय—यह अनन्त क्षेत्ररूप अरूपी पदार्थ

अनादि-अनन्त है। जो कि सर्वव्यापक है अचेतन है। इसके दो भेद हैं (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

(अ)—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल कालाणु और जीव जितने क्षेत्र में रहते हैं उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहा है।

(ब)—लोकाकाश के अतिरिक्त अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।

लोग जिसे आकाश कहते हैं वह वास्तविक आकाश नहीं है, क्योंकि आकाशद्रव्य तो अरूपी है और जो यह दिखाई देता है वह आकाश में केवल रंग दिखाई देता है जो कि परमाणु की अवस्था है। आकाश के वर्ण गन्ध रस, स्पर्श नहीं होते।

४—काल—यह एक अरूपी पदार्थ है। चौवहराजु लोक में असंख्यात कालाणु हैं।

यह चार (धर्म, अधर्म, आकाश काल) अरूपी द्रव्य हैं जो कि युक्ति और न्याय से जाने जा सकते हैं।

५—पुद्गल—पुद्=पूरण एक दूसरे में मिलना और गल=जुदा होना। अथवा पुद्+गल=जैसे अजगर अपने पेट में मनुष्य को गल (लील) जाता है उसीप्रकार अरूपी—चतन्यपिंड आत्मा ने शरीर की ममता की इसलिये शरीरके रजकणके वश में सारे शरीर में ऐसा व्याप्त हो रहा है कि मानों शरीर ने आत्मा को निगल लिया हो और वह ऐसा ही दिखाई देता है। अज्ञानी की दृष्टि मात्र देहादि के ऊपर होती है जब ज्ञानी की दृष्टि देहादि से भिन्न अरूपी—चैतन्य के ऊपर होती है। प्रत्येक रजकण में वर्ण गन्ध रस स्पर्शकी अवस्था बदला करती है—घटाबढ़ी हुआ करती है। जड़—देहादि पुद्गल की अवस्था की व्यवस्था जड़ स्वयं ही करता है। जो देहादि स्थूल परमाणुओं का समूह बदलता दिखाई देता है उसमें प्रत्येक मूलपरमाणु भी अपनी अवस्था में बदलता है। यदि सूक्ष्मपरमाणु अकेले न बदलते होते तो स्थूल आकार कैसे बदलता ? इसलिये अनादि-अनन्त रहते हुए अवस्था को बदलने का स्वभाव पुद्गल का भी है।

६—जीवद्रव्य—यह अरूपी चैतन्यस्वरूप है। जानना-देखना इसका लक्षण है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक सम्पूर्ण द्रव्य है, इसलिये सम्पूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है, जिसे वह प्रगट कर सकता है।

जगत् में जो जो पदार्थ है उन सबको जानने की ज्ञान की सामर्थ्य होती है, और फिर वह ज्ञानस्वरूप—चैतन्य परपदार्थके लक्षण से भिन्न है, वह भी यहाँ बताना है। जबकि यह खबर रखता है कि घरमें क्या क्या वस्तु है, तो लोकरूपी घर मे भी क्या क्या वस्तुयें हैं, यह भी जानना चाहिये। मुझसे भिन्न तत्त्व कितने और कैसे हैं यह जानने की आवश्यकता है। यथार्थ लक्षण से निज को भिन्न नही जाना, इसलिये दूसरे के साथ एकमेक मानकर अपनी पृथक् जाति को भूल गया है। जिसे सुखी होना हो उसे पराधीनता और आकुलता छोडकर अपनी स्वाधीनता तथा निराकुलता जाननी चाहिये।

"लोक्यते जीवादयो यस्मिन् स लोक।" अर्थात्—जिस स्थान मे छह पदार्थ जाने जाते हैं वह लोक है। और जहाँ जड-चैतन्य इत्यादि पाच द्रव्य नही हैं, किन्तु मात्र आकाश है वह अलोकाकाश है। लोक में अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि छहो द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य निश्चय से एकत्व—निश्चय को प्राप्त हैं। उनमे जीव को ही बध भावसे द्वित्व आता है, वह विसवाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, इसलिये वह अपने मे स्वतंत्र, पृथक् स्व एकत्वरूप से प्राप्त है। वह सुन्दर है, क्योकि अन्य से उसमें सकर, व्यतिकर इत्यादि दोष आ जाते हैं।

चौदह राजु के लोकरूपी थैले मे प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल भिन्न भिन्न विद्यमान हैं, यदि उनकी खिचडी (एकमेक) हो जाय तो सकर-दोष आ जाता है।

"सर्वेषा युगपत् प्राप्तिस्सकर" अर्थात् एक काल मे ही एक वस्तु में सभी धर्मों की प्राप्ति होना सो सकरदोष है।

"परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" अर्थात् परस्पर विषय-गमन को व्यतिकर दोष कहते हैं।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तु में मिल जाय तो वस्तु का ही अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थ पृथक् पृथक् है ऐसा कहने से आत्मा पर से भिन्न है ऐसा भी समझना चाहिये उसे पृथक स्वतंत्र शुद्धरूपमें समझना ही ठीक है। कर्म के निमित्त का आश्रय वाला तथा विकारी रूप में समझना ठीक नहीं है।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं तब फिर तू आत्मा शुद्ध क्यों नहीं है ? इसमें शुद्ध कारण पर्याय की ध्वनि है। तेरा तत्त्व परसे भिन्न है तथापि तुझमें यह उपाधि क्यों है ? यदि तू अपने को पर से भिन्नरूप में देखे तो तुझे यह दिखाई देगा कि तुझमें तेरे अनन्तगुण विद्यमान हैं उनकी निर्मल पर्याय से तीनोंकाल में तेरा एकत्व-लीनपना है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मों में अन्तर्मग्न है। परमाणु उनके वर्ण गन्ध रस स्पर्श में लीन-एकरूप रहते हैं। जीव में ज्ञान दर्शन सुख वीर्य अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण लीनपने से रहते हैं। जीव अपने ही अनन्त गुणों को स्पर्श करता है उनमें ही परिणमन करता है। आत्मा रजकण को स्पर्श नहीं करता और रजकण आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आत्मा के गुण-पर्याय आत्मा में हैं जड़ के जड़ में हैं। लोग पुद्गल-जड़ को अशक्त मानते हैं और यह मानते हैं कि उसमें कोई शक्ति नहीं है किन्तु यह भूल है क्योंकि रजकण तो जड़ेश्वर हैं उनका कोई कर्ता नहीं है। उन जड़ रजकणों की अवस्था प्रत्येक समय अपनेआप बदलती रहती है। उस अवस्था की व्यवस्था स्वतंत्ररूप से होती है। इसीप्रकार जगत में प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। छहों द्रव्य एक क्षेत्र में रहने पर भी कभी एकरूप नहीं होते। ऐसे पर से नास्तिरूप गुणवाले अगुरुलघुत्व आदि नाम के अनन्तगुण प्रत्येक पदार्थ में हैं। वैसे अनन्तगुण अपने स्वभाव को स्पर्श कर रहे हैं अपने स्वभावरूप में परिणमन करते हैं पररूप में परिणमन नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा से है, पर की अपेक्षा से नही है। इसप्रकार अस्ति–नास्ति दोनो स्वतंत्र स्वभाव कहे गये हैं। किसी द्रव्य की कोई भी अवस्था किसी पर के आधीन नही है। ऐसी मर्यादा है।

यहां हितरूप धर्म कहा जाता है। वह इसप्रकार है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, इसलिए पर से अपना धर्म नही होता। प्रत्येक वस्तु पृथक्–पृथक् है, इसलिए यह मानना सर्वथा अयथार्थ है कि एक वस्तु दूसरे की कुछ भी सहायता करती है।

असत्यके फलस्वरूप सच्चा सुख नही मिलता। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् है। दूसरे आत्मा को कोई आत्मा सहायता नही कर सकती, क्योंकि कोई आत्मा पररूप से नही हो सकता। इसप्रकार यहां स्वतत्रता की घोषणा की गई है।

प्रश्न—जड मे कौन से भाव हैं ?

उत्तर—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श; पुद्गल–जड के भाव हैं। प्रत्येक परमाणु मे अनन्तगुण हैं।

चेतन के ज्ञान–दर्शन आदि भाव है। प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त निकट एक ही क्षेत्र मे व्यापक होने पर भी भिन्न भिन्न हैं। यद्यपि सभी एक क्षेत्र मे हैं तो भी वे सदा स्वस्वरूप से रहते हैं, परवस्तुत्व में कभी कोई नही होता।

एक थैले में सुपारी, मिश्री इत्यादि इकट्ठे भरे हो, इसलिये वे उस भाव से एकरूप नही हो जाते, इसीप्रकार प्रथमभाव से समस्त वस्तुओ का पृथक्त्व कहा है।

अब सभी का क्षेत्रसे पृथक्त्व बताते हैं—दूध और पानी आकाश के एक क्षेत्र मे एकत्रित कहलाते हैं, तथापि स्व–क्षेत्र में भिन्न भिन्न हैं, इसलिये पानी जल जाता है और दूध मावारूप में परिणत हो जाता है। जो स्व–क्षेत्र की अपेक्षा से पृथक् थे वे पृथक् ही रहे, जो अलग हो जाते हैं वे एकमेक नहीं होते। अग्नि की उष्णता अग्नि में

एकमेक है इसलिये कभी पृथक नहीं होती। गन्ने में रस और मिठास एकरूप है इसलिए वह कभी पृथक नहीं होते। धान्य से छिलका असग है। इसलिये वह मशीन में डालने से अलग हो जाता है इसीप्रकार देहादि से चेतन स्व-क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्न है इसलिये वह पृथक रहता है। अज्ञानी को पर से पृथक्त्व का ज्ञान नहीं है, इसलिये पृथक्त्व या स्वतन्त्रता को नहीं मानता। दूध को उबालने से पानी जल जाता है और मावा सफेद पिण्डरूप रह जाता है इसीप्रकार जीव में वर्तमान क्षणिकअवस्था में जो अशुद्धता है वह शुद्धस्वभाव की प्रतीति के द्वारा स्थिर होने से दूर हो सकती है। राग-द्वेष-विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये वह दूर हो सकता है, तब फिर रजकण-देहादि आत्मा के कैसे हो सकते हैं ?

अन्तरंग में अपनी स्वाधीनता की जिसे कुछ चिन्ता नहीं है उसकी समझ में यह कुछ नहीं आता। कोई वस्तु पररूप परिणमित नहीं होती इसलिये स्वतन्त्र है। जो 'है' वह पररूप नहीं होने के कारण है। अपनी अनन्तशक्ति मात्र को प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ टंकोत्कीर्ण शाश्वत्स्वरूप से स्पष्ट प्रगट एकरूप, स्व-अपेक्षा से स्थिर रहता है।

प्रत्येक जीव-अजीव का धर्म प्रगट है पर से पृथकत्व है। विरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु पर से-असत्‌रूप से है और अविरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु स्वत्व से सत्‌रूप से है। सत् अर्थात् अस्तिरूप कार्य और असत् अर्थात् नास्तिरूप कार्य। दोनों स्वभाव के कारण सदा विश्वमें रह रहे हैं। स्व से स्वयं है और पर से स्वयं नहीं है ऐसी प्रत्येक वस्तु पर से नास्ति और स्व से अस्ति होने से विश्व को सदा स्थिर रखती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति धर्म हैं और वे प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता को बतलाते हैं।

इसप्रकार सर्व पदार्थों का पृथक्त्व और स्व में एकत्व निश्चित होने से इस जीव नामक समय (पदार्थ) के बन्ध की कथा विरोधरूप आती है वह ठीक नहीं है।

आत्मासे भिन्न चार अरूपी द्रव्य स्वतन्त्र हैं, निरपेक्ष, एकत्वको प्राप्त हैं, इसलिये वे शोभा पाते हैं। तब तुझे बधन (पर की उपाधि) युक्त कैसे कहा जाय ? धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जो पृथक् पृथक् रजकण हैं उनके तो पर का सम्बन्ध नहीं होता, और तेरी आत्मा के बधनभाव है, यह कहना घोर विसवाद की बात है। मै पर से बंधा हुआ हूं यही विचार अपनी स्वतन्त्रता की हत्या करना है। पर के लक्ष से राग-द्वेषरूप विकार करना कही शोभारूप नही है, किन्तु आपत्ति-जनक है। पृथक्-स्वतन्त्र आत्मा को पर का बधनवाला कहना परमार्थ नही है।

प्रश्न—किन्तु यह सामने तो बन्ध दिखाई देता है ?

उत्तर—वर्तमान क्षणिक सयोगाधीनदृष्टि को छोडकर अपने त्रैकालिक असयोगी-अरूपी ज्ञानस्वभाव को देखे तो आत्मा बध-रहित, स्वतन्त्र ही दिखाई देगा। देह और पर को देखने की जो दृष्टि है सो बाह्यदृष्टि है, वह आत्मा की निर्मलता को रोकनेवाली है। अज्ञानी जीव अपने स्वतन्त्र स्वभाव को भूलकर पर के कार्य मैंने किये, मैं देहादि का काम कर सकता हूं, मैंने समाज में सुधार किये, मैं था तो चन्दा लिखा गया, वडी रकम भरी गई, मै था तो वह कार्य हुआ, इत्यादि मान्यता के अभिमान से स्वय अपनी हत्या कर रहा है। इसलिये हे भाई ! तू पर के अभिमान को छोड दे, पर कार्य के अभिमान से चैतन्य की सम्पत्ति लुट रही है, वह पराधीनता है तथापि उसे उत्साहसहित मानना पागलपन है।

पुण्य-पाप का बन्ध भाव मुझे लाभ करता है, पुण्य से गुण का विकास होता है, इसप्रकार पर से लाभ माननेवाला बन्ध को प्राप्त होता है। यह विसवाद क्योकर उपस्थित होता है, सो आगे कहा जायगा।

आत्मा सदा अरूपी, ज्ञान-दर्शन-सुखस्वरूप से है। उससे भिन्न जो पुद्गल है उसमें वर्ण, गध, रस, स्पर्श है। ये गुण अरूपी द्रव्यो में नही हैं। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे चार पदार्थ अरूपी हैं,

उनमें चेतनागुण तथा सुख–दुःख का अनुभव नहीं होता, किन्तु उसकी अनन्तशक्ति उसमें उसके आधार से है। प्रत्येक वस्तु की पृथक सत्ता है। आत्मा का धर्म शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान चारित्र की एकता है। आत्मा स्वयं धर्म स्वरूप है, पुण्य–पापरूप नहीं है। इसलिए पुण्य से आत्माका धर्म नहीं होता। पुण्यादि परवस्तु हैं। देह मन, वाणी पैसा इत्यादि परवस्तु से आत्मा का धर्म नहीं होता। दान–भक्ति द्वारा तृष्णा को घटाये तो वह पुण्यरूपी शुभभाव हुआ। वह भाव अरूपी आत्मा के होता है। धर्मभाव तो रागरहित है। परवस्तु से रुपये–पैसे आदि से दाम देने की जड़क्रिया से पुण्य–पाप या धर्म नहीं होता। पर के प्रति जो तीव्र राग है वह अशुभ-पापभाव है। यदि तीव्र राग को कम करके शुभभाव करे तो वह पुण्य कहलाता है। धर्म उससे भिन्न वस्तु है राग–द्वेष भी चैतन्यस्वभाव के नहीं हैं।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं उनमें से कोई धर्म कम नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का पर की अपेक्षा से नास्तित्व और अपनी अपेक्षा से अस्तित्व है इसलिए वह पर–अपेक्षा से नहीं है और स्व–अपेक्षा से है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु पर की सहायता के बिना स्वतंत्र रूप से सदा स्थिर रहती है। इसप्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का भिन्न भिन्न एकत्व निश्चित हुआ।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ पृथक है तथापि पृथकत्व को भूलकर जो यह मानता है कि मैं पर का कार्य कर सकता हूँ मैं सयाना हूँ मैंने इतने काम किये यह सब व्यवस्था मेरे हाथ में है इत्यादि। वह समस्त पर को अपना माननेवाला है। किसी भी परवस्तु की प्रवृत्ति मेरे द्वारा होती है मेरे आधार से होती है इसप्रकार जो मानता है उसने पर को अपना माना है। कई लोग मुंह से तो यह कहा करते हैं कि हम पर को अपना नहीं मानते तथापि वे ऐसा तो मान ही रहे हैं कि हमने घर में सभी को सुधार दिया हमने इतनों को सहायता दी है इत्यादि। जो पर की अवस्था स्वतंत्रतया हुई है उसे मैंने किया है इसप्रकार उसने मान ही रखा है और यही अनादि का अहंकार है।

ससार के सयाने को मान छोडना कठिन होता है ।

मैंने ऐसी चतुराई से काम किया है कि वह आदमी चक्कर में आ गया, इसप्रकार कई लोग मानते हैं, किन्तु वास्तव मे तो वे स्वय ही चक्कर में हैं। उस मनुष्य को उसके पुण्य के हीन होने के कारण तेरे जैसा निमित्त मिला, किंतु तूने पर का कुछ किया नही है, मात्र अपने में राग–द्वेष–अज्ञान किया है ।

आत्मा को राग–द्वेषरहित, ज्ञाता–साक्षीरूप मानना सो भेद-ज्ञान है, और भेदज्ञान होने पर उसके अभिप्राय मे जगत् के लोगो के अभिप्राय से अन्तर पड जाता है ।

जीव नामक पदार्थ जो चिदानन्द रसरूप से स्वतत्र है, उसे पर का सम्बन्ध वाला मानना, तथा उस पर के सम्बन्ध से पुण्य–पाप विकार होता है, ऐसा सम्पूर्ण आत्माको मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। पराश्रय से जो क्षणिक बन्ध अवस्था होती है उसे आत्मा के त्रैकालिक निर्मल स्वभाव में खतया लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है । थोडे समयके लिये किसी के पास से जो वस्तु उधार लाई गई हो उसे घर की सम्पत्ति मे जमा नही किया जा सकता, इसीप्रकार आत्मा त्रिकालशुद्ध–आनन्दघन है, उसमें पर जो मन, वाणी, देह अथवा पुण्य–पाप के सयोग हैं उन्हे अपने हिसाब मे नही गिना जा सकता । आत्मा सदा अरूपी–ज्ञाता है, वह ज्ञान और शान्ति अथवा अज्ञान और रागद्वेष के भाव के सिवाय कुछ भी नही कर सकता, तथापि यह मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ । आत्मा के हाथ, पैर, नाक, कान नही होते तथापि वह उनका स्वामी बनता है । यह अनादि की मिथ्या–शल्य है ।

ससार के प्रेम के कारण झूठी बातो को जहाँ तहाँ सुनने जाता है, अखबारो मे लडाई की बातें पढता है, उत्साह से उसकी चर्चा करता है, किन्तु यह सब ससार मे परिभ्रमण करने के कारण हैं ।

हे भाई ! तू प्रभु है, तूने अपने मुक्तस्वभाव की बात कभी नही सुनी, धर्म के नाम पर भी काम–भोग–बध की ही कथा ही सुनी है। जिसने पाचलाख रुपये कमाये हो उससे धर्मगुरु कहते हैं कि दान

करो। और वह मानता है कि पांच–दस हजार का दान देने से मुझे धर्म होगा और उससे सुखी हो जाऊंगा। इसीप्रकार यदि यह कहा जाय कि देहादि की क्रिया से धर्म होता है तो उसे वह भी रुचता है। इस प्रकार सस्ते में जीव ने धर्म मान लिया है। किन्तु देह की क्रिया से धर्म नहीं होता क्योंकि देह आत्मा से भिन्न है।

जो ज्ञानी है वह दान देते समय ऐसा मानता है कि मैंने तो धन से तृष्णा घटाई है लेनेदेने की क्रिया का मैं कर्ता नहीं स्वामी नहीं मैं तो तृष्णारहित ज्ञानस्वभावी हूँ। और अज्ञानी जड़ का स्वामी होकर पांच हजार का दान देगा तो जगत् में घोषित करेगा कि मैंने दान दिया मैंने रुपये दिये और कैसी प्रशंसा होती है उसे सुनने के लिये तत्पर रहेगा। देखो तो यह रंकभाव ! स्वयं अपनी महिमा दिखाई नहीं देती इसलिये दूसरे के पास से महिमा की इच्छा करता है।

गृहस्थदशा में रहने वाला ज्ञानी दान देता है किन्तु किंचित् मात्र अभिमान नहीं करता। यदि कोई प्रशंसा करता है कि तुमने अच्छा दान दिया है तो वह मानता है कि यह मुझे पर का कर्ता कह रहा है जो कि कलंक है। लोग कहते हैं कि तुमने अपनी वस्तु दानमें देदी है किन्तु ऐसा कहकर तो वे मुझे जड़ का स्वामी बनाते हैं। पर का स्वामित्व चोरी का कलंक है।

जड़ मेरी वस्तु नहीं है इसलिए मैंने नहीं दी है। जड़ पदार्थ का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रमें जाना उस उस पदार्थके आधीन है। तृष्णा घटाने का भाव मेरे आधीन है। किसी रजकण का अथवा मन का अवलम्बन रहे तो वह मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानने से पर से पृथकत्व का पुरुषार्थ प्रगट होता है। यदि पर का स्वामित्व रखता है पुण्य के बन्धन भाव को ठीक मानता है तो उसके विपरीत पुरुषार्थ है। मैं पुण्य–पाप से रहित पर से भिन्न हूँ पूर्ण पवित्र ज्ञायकमात्र हूँ किसी के अवलम्बन के बिना स्थिर रहने वाला हूँ जो ऐसा मानता है उसके अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट होता है। पहले श्रद्धा में यह निर्णय करता

सो अनन्त सीधा पुरुषार्थ है। जो पर का कर्ता होकर जड का स्वामी होता है वह पर की क्रिया से लाभ माने बिना कैसे रहेगा।

जो अनन्तकाल की अज्ञात वस्तुस्थिति है उसका अधिकार प्राप्त होने पर उसके स्वरूप को ज्यो का त्यो स्पष्ट करना सो व्याख्यान है।

ज्ञानी दान देगा तब अपूर्वतृष्णा घटेगी और अज्ञानी अल्प-पुण्य के होने पर अभिमान करेगा। जो तृष्णा को कम नहीं करता उसे समझाने के लिये श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कौवे का दृष्टान्त दिया है— खराब और बचोखुचो वस्तु घूरे पर डालदी जाती है तो कौवा वहाँ खाने के लिए आता है और कांव कांव करके दूसरो को इकट्ठा करके खाता है, स्वय अकेला नही खाता, इसीप्रकार पहले जीव के गुणो को जलाकर, शुभभाव करके जिसने पुण्य बाधा है वह बचीखुची और जली हुई वस्तु है। ऐसी वस्तु को जो मनुष्य अकेला खाता है अर्थात् दूसरे को दान नही देता, दूसरे को दान लेजाने के लिये नही बुलाता, वह कौवे से भी गया बीता है। गुणके जलने से पुण्य बँधता है, आत्मभाव से पुण्य-पाप नही बँधते। आत्मा के गुण से बन्ध नही होता। जली-भुनी वस्तु को भी कौवा अकेला नही खाता, किंतु तेरे गुण जलकर जो पुण्यबन्ध हुआ है उसके उदयसे तुझे जो कुछ मिला है उसमे से किसी को कुछ नही दे तो तू कौवे से भी हलका है। ज्ञानी लट्ठ नही मारता, किन्तु तृष्णा के कुएँ में डूबे हुए को उसमें से बाहर निकालने के लिये करुणा से उपदेश देता है। प्रत्येक बात न्याय से कही जाती है। जिसे जो अनुकूल मालूम हो उसे वह ग्रहण करले।

जिसे सच्ची श्रद्धा है उसे परवस्तु का स्वामित्व नही है, इसलिये दानादि देते हुए भी उसे उसका अभिमान नही होता। दान, भक्ति इत्यादि प्रत्येक-सयोग में राग कम होकर उसके स्वभाव में निराकुलता तथा स्थिरता बढ़ती जाती है।

आत्मा अकेला स्व में लीन हो तो राग—द्वेष विकार नही होता, किन्तु पर के आधीन हुआ इसलिये विसवादरूप, उपाधिभाव

वाला कहलाता है। विकारी भाव को अपना मानना सो जड़-पुद्गल कर्म के प्रवेश में रत होना है। जब अज्ञान से परवस्तु में युक्त होने का स्वयं भाव करता है तब जीव के राग-द्वेष का कर्तृत्व आता है। परको माहात्म्य दिया और अपना माहात्म्य भूल गया। तू स्त्री-पुत्रादि को मेरा-मेरा कर रहा किन्तु वे तेरे नहीं हैं।

एक तत्व को-एक आत्मा को अपनेरूप और कर्मके संबंध रूप-दोरूप कहना सो बन्ध की विकारीदृष्टि है। विकारीदृष्टि वाला बंधन की बातें आनन्दपूर्वक करता है और कहता है कि अब मात्र कह कर बैठे रहने का समय नहीं किन्तु सक्रिय काम करके हमें जगत् को बता देना चाहिये ऐसा कहने वाले का अभिप्राय मिथ्या है। क्योंकि पर का स्वयं कर सकता है ऐसा वह मानता है। शरीर, मन वाणी का कण कण भिन्न है। उसकी प्रवृत्ति मुझसे होती है-ऐसा मानना तथा उसको अपना मानना सो स्वतन्त्र चैतन्य आत्मा की हत्या करने की मान्यता है। आत्मा स्वतन्त्र, भिन्न है। उसको पृथक न मानकर पर का कर्ता हूँ, ऐसा मानने वाले सभी लोगों का अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। वे असत्य का आदर करने वाले हैं। एकबार यथार्थ रीतिसे समझे कि जीव अजीवादि सर्व पदार्थ तीनोंकाल में पृथक हैं, तो फिर किसी पर का कुछ कर सकता है या नहीं ऐसी शंका नहीं हो सकती। अपना कार्य किसी की सहायता से नहीं हो सकता।

एक परिणाम के कर्ता दो तत्व नहीं होते, क्योंकि जड़-चेतन सभी पदार्थ सदा स्वतंत्ररूप से अपनी अपनी अर्थक्रिया कर रहे हैं, फिर भी जो ऐसा नहीं मानते हैं वे जीव अपने चैतन्य की स्वतंत्रता की हत्या करते हैं।

आत्मा को पराश्रयता शोभास्पद नहीं है। जिस भाव में तीर्थंकरत्व बंधता है वह भी रागभाव है ऐसा जानकर पुण्य-पापरहित निरावलम्बी आत्मा का जो एकत्व है वही शोभास्पद है।

मैं सदा स्वावलम्बी-मुक्त हूँ ऐसा जाने बिना जो कुछ जाने-माने और कहे सो सब व्यर्थ है। मैंने पर का ऐसा किया ऐसामण्डल

का ऐसा किया, हम थे तो ऐसा हुआ इत्यादि, कर्तृत्व की बात सुनना, उसका परिचय करना, उसका अनुभव करना, इस जीव को अनादि से सुलभ हो रहा है। इसलिए आचार्यदेव एकत्व की असुलभता बताते हैं –

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—समस्त लोक को काम-भोग सबधी बध की कथा सुनने में आगई है, परिचय मे आगई है, और अनुभव मे भी आगई है, इसलिये सुलभ है। किन्तु भिन्न आत्मा का एकत्व न कभी सुना है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, और न वह अनुभव मे ही आया है, इसलिये वह सुलभ नही है।

'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ,' ऐसी मान्यता 'काम' और ससारी पदार्थ भोगने का भाव भोग है। पर का मै कर सकता हूँ, ऐसा अनादिकाल से जीव ने माना है। किन्तु कर कुछ नही सकता। मैंने पुण्य किया है, इसलिये भोगना चाहिये, पुण्य का फल मीठा लगता है, ऐसा जो मानते है वह इस विशाल गृहरूपी भोयरे मे ऐसे पडे रहते हैं जैसे विशाल पर्वतो की गुफाओ मे जीव–जन्तु पडे रहते हैं। आत्माकी प्रतीति के बिना दोनो समान हैं।

इतना करो तो पुण्य होगा, फिर अच्छा सयोग मिलेगा देवभव मे ऐसे सुख मिलेंगे, ऐसा सुनकर जीव पुण्य को धर्म मानता है, किन्तु पुण्य का फल तो धूल है, उससे आत्मा को कलक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्टा भून्ड नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को–जगत् की धूल को विष्टा समझ कर त्याग दिया है, उधर अज्ञानीजन पुण्य को उमग से अच्छा मानकर आदर करता है। इसप्रकार ज्ञानियो के द्वारा छोडी गई पुण्यरूप विष्टा जगत के अज्ञानी

जीव जाते हैं। ज्ञानीजनों ने पुण्य–पापरहित आत्मा की सम्यकश्रद्धा–ज्ञान–आचरण से मोक्ष प्राप्त किया है।

लोग मानते हैं कि श्रीपाल ने व्रत धारण किया था, इसलिये उनका रोग मिट गया था, किन्तु शरीर का रोग दूर करने का कार्य धर्म का नहीं है। पूर्व का पुण्य हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्म के फल से रोग दूर होता है ऐसा माननेवाला धर्म के स्वरूप को समझा ही नहीं है। पुण्य शुभपरिणाम से होता है, और धर्म आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट करने से होता है इसकी उसे खबर नहीं है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा ग्रहण की उसके बाद उन महान् धर्मात्मा–मुनि को बहुत काल तक तीव्र रोग रहा तथापि शरीर के ऊपर धर्म का कोई प्रभाव नहीं हुआ। यह बात नहीं कि धर्म से शरीर निरोगी रहता है किन्तु धर्म के फल से पुण्य और शरीर इत्यादि का बंध ही नहीं होता। मोक्षमार्ग में पुण्य का भी निषेध है तब आजकल लोग धर्म के नाम से अपनी मनमानी हांकते रहते हैं और कहते हैं कि पुण्य करो उससे मनुष्य या देव का शरीर मिलेगा और फिर परम्परा से मोक्ष प्राप्त होगी।

जीव राग–द्वेष का कर्ता है उसके फल का भोक्ता है इत्यादि काम–भोग–बन्ध की कथा जीव ने अनन्त बार सुनी है इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जड़ के संयोग की रुचि छोड़ो पुण्य से धर्म नहीं होता।

शंका——आपने तो पुण्य को जुलाब ही दे डाला है?

समाधान——अनाजमोटा का जुलाब दिये बिना विकार (विपरीत–मान्यता) दूर नहीं हो सकता। पुण्य मेरा है शुभभाव करते करते धीरे धीरे धर्म होता ऐसी विपरीत मान्यता का अर्थात् राग द्वेष–अज्ञानभाव का वीतराग के निर्दोष वचन विरेचन करा देते हैं। किसी भी बन्धनभाव का आदर नहीं होना चाहिये।

यदि कोई आत्माके सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से विरुद्ध भाव को धर्म कहे तो वह विकथा है। अज्ञान को सत्य बात कठिन मालूम

होती है, क्योंकि उसने वह पहले कभी सुनी नही है, इसलिये कदाग्रही को वह विरोधरूप लगती है, परन्तु सरल जीव अपनी शुद्धता की बात सुनकर हर्ष से नाच उठते हैं और कहते हैं कि अहो ! ऐसी बात हमने कभी भी नही सुनी थी ।

"हमने तुम्हारे लिए इतना किया है," ऐसा कहने वाला असत्य कहता है, क्योंकि तीन काल और तीन लोकमें कोई पर का कुछ कर नही सकता, मात्र वह ऐसा मानता है । ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर ही नहीं सकता । अनादिकालीन विपरीतदृष्टि खण्ड को बदल कर नये माल (सच्ची दृष्टि) को भरने के लिये नया खण्ड बनाना चाहिए ।

वर्तमान में धर्म के नाम पर बहुत सी गडबडी दिखाई देती है पुण्य से और पर से धर्म माना जाता है । किन्तु अनादि से जीव जो मनाता आया है उससे यह बात भिन्न है । सत्य बात तो जैसी है वैसी ही कहनी पडती है और उसे माने बिना छुटकारा नही है । सत्य को हलका–सस्ता बनाकर छोडा नही जा सकता । यदि कोई कहता है कि यह तो बहुत उच्चकोटि की बात है, सो ऐसा नही है, क्योंकि यह धर्म की सर्वप्रथम इकाई की बात है ।

आत्मा को पुण्यादि पर–आश्रय की आवश्यक्ता प्रारम्भ में भी नही है । सच्ची समझ के बिना व्रत–तप इत्यादि से पुण्य बाधकर जीव नवमें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी स्वतन्त्र आत्मस्वभाव को नही जाना, और इसीलिये भवभ्रमण दूर नही हुआ ।

जीव ने ऐसा परम सत्य इससे पूर्व कभी नही सुना कि अनत-गुणो का पिण्ड, चैतन्य आत्मा पर से पृथक् है । एक रजकण भी मेरा नही है, रजकण की अवस्था या देह, मन, वाणी की प्रवृत्ति मेरी नही है; मैं तो ज्ञाता ही हूँ इत्यादि । इसलिये कहता है कि प्रारम्भ में कोई आधार तो बताओ, कोई आश्रय लेने की तो बात करो, देव, गुरु, शास्त्र कुछ सहायता करते हैं, ऐसा तो कहो । किंतु भाई ! तू पृथक् है और

देव गुरु शास्त्र पृथक हैं एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कुछ सहायता नहीं कर सकता। जब स्वयं समझे तब देव गुरु, शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। उपादान की तैयारी न हो तो देव गुरु शास्त्र क्या करेंगे ? जैसे पिंजरा पोल के जिस पशु के पैर में शक्ति न हो उसे यदि लकड़ी के सहारे बलात् खड़ा करे तो भी वह गिर पड़ता है, और गिरने से जो धक्का लगता है उससे वह अधिक अशक्त हो जाता है। इसीप्रकार जो यह मानता है कि मैं शक्तिहीन हूँ उसे देव गुरु शास्त्र के सहारे खड़ा किया जाय तो भी वह नीचे गिर पड़ता है और पछाड़ खाकर अधिक अशक्त हो जाता है। देव गुरु धर्म वीतरागी स्वतंत्र तत्त्व है उसीप्रकार मैं भी स्वतंत्र अनन्तशक्ति वाला हूँ। पर के आश्रय के बिना मैं अपने अनंत गुणों को प्रगट कर सकता हूँ ऐसी यथार्थ मान्यता सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने पर भी जो यह मानते हैं कि देव गुरु शास्त्र मुझे तार देंगे वे मानों यह नहीं मानते कि वीतरागदेव के द्वारा कही गई यह बात सत्य है कि आत्मा स्वतंत्ररूप से अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है।

सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि हम स्वतंत्र और भिन्न हैं तू भी पूर्ण स्वतंत्र और भिन्न है। किसी की सहायता की तुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा निस्पृही वचन वीतराग के बिना दूसरा कौन कहेगा ?

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो हम जगत् के लिये मरे फिरते हैं हम अपनी हानि करके भी जगत् का सुधार करते हैं किन्तु लोगों को यह खबर नहीं है कि ऐसा कहने वाले ने औरों को पराधीन तथा अशक्त ठहराया है।

कोई किसी का उपकार नहीं करता मात्र वैसा भाव कर सकता है। स्वयं सत्य को समझे, और फिर सत्य को घोषित करे, उसमें जो भी तत्पर जीव हो वह सत्य को समझ लेता है ऐसी स्थिति में व्यवहार से कहा जाता है कि उसका उपकार किया है। साक्षात् तीर्थंकर देव पृथक हैं और तू पृथक है उनकी वाणी अलग है, इस लिये वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतंत्र तत्त्व समझ में नहीं आयगा।

प्रश्न—ऐसा मानने के बाद, क्या फिर कोई दान, सेवा, उपकार आदि न करे ?

उत्तर—कोई किसी पर का कुछ कर नही सकता, किन्तु पर का जो होता है, और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा, तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नही रहता। ज्ञानी के भी शुभभाव होता है, किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नही होता।

अनादि की विपरीत मान्यता को लेकर पर मे एकत्व सुलभ हो गया है और पर से पृथक्त्व का श्रवण, परिचय, अनुभव कठिन हो गया है। भूतकाल के विपरीत अभ्यास की अपेक्षा से मँहगी बताई है, किन्तु पात्रता प्राप्त करके परिचय करे तो ज्ञात हो कि यह अपनी स्वाधीनता की बात है, इसलिये सस्ती है।

टीका—इस समस्त जीवलोक को काम-भोग सम्बन्धी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसवादी है अर्थात् आत्मा का अत्यन्त बुरा करने वाली है, तथापि पहले यही अनन्तवार सुनने मे आई है, परिचय मे आई है और अनुभव मे भी आ चुकी है।

मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा करदे, ऐसी इच्छा जीव ने अनादि से सेवन की है, किंतु मैं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित हूँ, इसलिये स्व में ठहरूँ, ज्ञान की अन्तर श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करूँ, यही ठीक है। ऐसी बात पहले अनतकाल में जीव ने यथार्थरूप से नही सुनी।

स्पर्शन और रसना इद्रियो को काम का मुख्यत्व है, घ्राण, चक्षु और कर्ण को भोग की मुख्यता है।

आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, उसे भूलकर पर पदार्थ की ओर का जो लक्ष है वह विषय है। जीव जितनी शुभाशुभवृत्ति करता है वह परलक्ष से होती है, इसलिये चाहे जिस पदार्थ की ओर वृत्ति करके उसमें अच्छा-बुरा भाव करना सो विषय है। परवस्तु के प्रति रागद्वेष, मोहवाला जो भाव है सो विषय है।

परवस्तु विषय नहीं है वस्तु तो वस्तु ही है। वर्ण गंध, रस, स्पर्श में विषय नहीं, किन्तु उसकी ओर का जो रागभाव है सो विषय है। इसका रूप सुन्दर है, ऐसा मानकर वहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा जो रूप सम्बन्धी राग करता है सो रूप सम्बन्धी विषय है। उसीप्रकार गंध, रस और स्पर्श के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। परद्रव्यके ऊपर लक्ष करके जीव जब राग-द्वेष करता है तब परद्रव्य विकारका निमित्त होने से उपचार से परद्रव्य को विषय कहा जाता है। ज्ञानभाव से परद्रव्य को जाने उसमें रागद्वेष न करे तो वह परद्रव्य ज्ञेय कहलाता है। स्व-पदार्थ का लक्ष करना सो स्व-विषय है। यदि स्व का लक्ष करे तो जीव को रागद्वेष न हो।

देव गुरु शास्त्र पर हैं, उनके प्रति भी जीव रागरूप भाव रखे तो वह भी राग का व्यापाररूप परविषय है। शास्त्र में कहा है कि आत्मा पर के आश्रय से रहित है पुण्य-पाप से भिन्न है मन और इन्द्रियों से भिन्न है किसी भी पर के साथ उसे सम्बन्ध नहीं है शुभ-विकल्प भी आत्मा को सहायक नहीं है। निमित्ताधीन होने से शुभाशुभ भाव का होना भी मानो आत्मा का कार्य नहीं है। किन्तु ऐसा जिसने नहीं माना उसने राग द्वारा ही शास्त्रों को सुना है, और इसलिये उसने शास्त्रों को भी इन्द्रिय का विषय बनाया है। शास्त्र के शब्दों के द्वारा धर्म प्रगट होता है ऐसा जिसने माना उसने शास्त्र के शब्द को शुभ-राग का विषय बना लिया। आत्मा चैतन्यमूर्ति-ज्ञाता ही है शब्दादि पाँचों विषयों से भिन्न है ऐसा शास्त्र के कहने का आशय है। उसे भूलकर माना जो जीव देव शास्त्र गुरु के संयोग द्वारा धर्म मानता है वह वहाँ भी राग का विषयरूप व्यापार करता है।

तीर्थंकर भगवान को भी आँखों से अनन्तबार देखा वहाँ भगवान को भी शुभराग का विषय बनाकर पुण्य बन्ध किया' निमित्त अथवा राग के बिना स्वावलम्बीदृष्टि से भगवान को कभी देखा नहीं, इसलिये वह भी परविषय होगया।

अशुभ से बचने के लिये देव गुरु शास्त्र की विनय-भक्तिरूप

शुभभाव करने का निषेध नही है, किन्तु वह शुभभाव पुण्य है, धर्म भिन्न वस्तु है। स्वात्मलक्ष के बिना सब परलक्ष है। अनादि से परके ऊपर दृष्टि है दूसरा मेरी सहायता करे ऐसी जिसकी मान्यता है उसने अपने को निर्माल्य माना है। "हे भगवान्! कृपा करो, अब तो तारो" इसका अर्थ तो यह हुआ कि अब तक बन्धन मे रखकर तुमने परिभ्रमण कराया सो यह दोष भी तुम्हारा है। आत्मा मे अनत शक्ति है, सदा स्वावलम्बी है, पुण्यपाप की वृत्ति जो कि पर है उससे भिन्न है, ऐसी बात जीवने पूर्व मे कभी नही सुनी थी, उसका परिचय–अनुभव नही किया था, मात्र परके कर्ता-भोक्ता की ही बात सुनी थी।

मै पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकते हैं, ऐसा 'कर्तृत्व–भाव' और हर्ष–शोक सुख–दुःख का अनुभव 'भोक्तृत्वभाव' इत्यादि सब बध-कथा है, और इसलिये वह सुलभ है, किन्तु पुण्य-पापादि रहित स्व-कथा सुलभ नही है, पुण्य–पापादि करने योग्य है–यह विकार-भाव की कथा निर्विकारी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की विरोधी है। अनन्तगुण के रसकद आत्मा को मन के अवलम्बन की भी आवश्यक्ता नही है, किन्तु जीव बाह्य मे वृत्ति दौडाता है, इसलिए राग होता है, पुण्य का जो विकल्प है वह भी गुण की विपरीतता से होता है। गुण की विपरीतता से आत्मा मे अविकारी गुण प्रगट होता है, ऐसा मानना–मनवाना सो विकथा है। बाह्य के किसी अवलम्बनसे अथवा पर के कारण से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है, ऐसी अहित करनेवाली बध–कथा जीवने अनन्तबार सुनी है, अनुभव की है, किन्तु पुण्य–पाप रहित आत्मकथा सुनना बडा दुर्लभ है।

जिस भाव से बध न हो उस भाव से मोक्ष नही होता, और मोक्षमार्ग भी नही होता। धर्म के नाम से बध–कथा अनेकबार सुनी, इसलिये जीव बंध मे अभ्यस्त हो गया है। अनभ्यस्त बैल गाडी के जुए को जल्दी धारण नही करता, किन्तु अभ्यस्त बैल जुए के उठाते ही तत्काल अपनी गर्दन आगे लाकर जुत जाता है। जब बालक से सर्वप्रथम दुकान पर बैठने को कहा जाता है तब उसे वह नही रुचता,

परवस्तु विषय नहीं है वस्तु तो वस्तु ही है। वर्ण, गंध रस स्पर्श में विषय नहीं, किन्तु उसकी ओर का जो रागभाव है सो विषय है। इसका रूप सुन्दर है ऐसा मानकर वहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा जो रूप सम्बन्धी राग करता है सो रूप सम्बन्धी विषय है। उसीप्रकार गंध रस और स्पर्श के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। परद्रव्यके ऊपर लक्ष करके जीव जब राग-द्वेष करता है तब परद्रव्य विकारका निमित्त होने से उपचार से परद्रव्य को विषय कहा जाता है। ज्ञानभाव से परद्रव्य को जाने उसमें रागद्वेष न करे तो वह परद्रव्य ज्ञेय कहलाता है। स्व-पदार्थ का लक्ष करना सो स्व-विषय है। यदि स्व का लक्ष करे तो जीव को रागद्वेष न हो।

देव गुरु, शास्त्र पर हैं, उनके प्रति भी जीव रागरूप भाव रखे तो वह भी राग का व्यापाररूप परविषय है। शास्त्र में कहा है कि आत्मा पर के आश्रय से रहित है पुण्य-पाप से भिन्न है, मन और इन्द्रियों से भिन्न है, किसी भी पर के साथ उसे सम्बन्ध नहीं है शुभ-विकल्प भी आत्मा को सहायक नहीं है। निमित्ताधीन होने से शुभाशुभ भाव का होना भी ज्ञानो आत्मा का कार्य नहीं है। किन्तु ऐसा जिसने नहीं माना उसने राग द्वारा ही शास्त्रों को सुना है, और इसलिये उसने शास्त्रों को भी इन्द्रिय का विषय बनाया है। शास्त्र के शब्दों के द्वारा धर्म प्रगट होता है ऐसा जिसने माना उसने शास्त्र के शब्द को शुभ-राग का विषय बना लिया। आत्मा चैतन्यमूर्ति-ज्ञाता ही है शब्दादि पाँचों विषयों से भिन्न है ऐसा शास्त्र के कहने का आशय है। उसे सुनकर माना जो जीव देव शास्त्र गुरु के संयोग द्वारा धर्म मानता है वह वहाँ भी राग का विषयरूप व्यापार करता है।

तीर्थंकर भगवान को भी आँखों से अनन्तबार देखा, वहाँ भगवान को भी शुभराग का विषय बनाकर पुण्य बन्ध किया निमित्त अथवा राग के बिना स्वावलम्बीदृष्टि से भगवान को कभी देखा नहीं, इसलिये वह भी परविषय होगया।

अशुभ से बचने के लिये देव गुरु शास्त्र की विनय-भक्तिरूप

शुभभाव करने का निषेध नहीं है, किन्तु वह शुभभाव पुण्य है, धर्म भिन्न वस्तु है। स्वात्मलक्ष के विना सब परलक्ष है। अनादि से परके ऊपर दृष्टि है दूसरा मेरी सहायता करे ऐसी जिसकी मान्यता है उसने अपने को निर्माल्य माना है। "हे भगवान्! कृपा करो, अब तो तारो" इसका अर्थ तो यह हुआ कि अब तक बन्धन मे रखकर तुमने परिभ्रमण कराया सो यह दोप भी तुम्हारा है। आत्मा में अनत शक्ति है, सदा स्वावलम्बी है, पुण्यपाप की वृत्ति जो कि पर है उससे भिन्न है, ऐसी बात जीवने पूर्व मे कभी नही सुनी थी, उसका परिचय—अनुभव नही किया था, मात्र परके कर्ता-भोक्ता की ही बात सुनी थी।

मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकते है, ऐसा 'कर्तृत्व—भाव' और हर्ष—शोक सुख—दुःख का अनुभव 'भोक्तृत्वभाव' इत्यादि सब बध-कथा है, और इसलिये वह सुलभ है, किन्तु पुण्य-पापादि रहित स्व-कथा सुलभ नही है, पुण्य—पापादि करने योग्य हैं—यह विकार-भाव की कथा निर्विकारी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा की विरोधी है। अनन्तगुण के रसकद आत्मा को मन के अवलम्बन की भी आवश्यक्ता नही है, किन्तु जीव बाह्य मे वृत्ति दौडाता है, इसलिए राग होता है, पुण्य का जो विकल्प है वह भी गुण की विपरीतता से होता है। गुण की विपरीतता से आत्मा में अविकारी गुण प्रगट होता है, ऐसा मानना—मनवाना सो विकथा है। बाह्य के किसी अवलम्बनसे अथवा पर के कारण से लाभ होता है, पुण्य से धर्म होता है, ऐसी अहित करनेवाली बध—कथा जीवने अनन्तबार सुनी है, अनुभव की है, किन्तु पुण्य—पाप रहित आत्मकथा सुनना बडा दुर्लभ है।

जिस भाव से बध न हो उस भाव से मोक्ष नही होता, और मोक्षमार्ग भी नही होता। धर्म के नाम से बध—कथा अनेकबार सुनी, इसलिये जीव बंध में अभ्यस्त हो गया है। अनभ्यस्त बैल गाड़ी के जुए को जल्दी धारण नही करता, किन्तु अभ्यस्त बैल जुए के उठाते ही तत्काल अपनी गर्दन आगे लाकर जुत जाता है। जब बालक से सर्वप्रथम दुकान पर बैठने को कहा जाता है तब उसे वह नही रुचता,

किन्तु थोड़ा परिचय होने पर, कुछ कमाई दिखाई देने पर जब लोभ लग जाता है तब वह व्यापार में से क्षणभर का भी समय नहीं निकाल पाता। उसे फिर निवृत्ति अच्छी नहीं लगती। यह बंधन में अभ्यस्त हो जाने के उदाहरण हैं।

आत्मा पुण्य–पाप से रहित अतीन्द्रिय–आनन्दघनस्वरूप है, ऐसी बात जीव ने कभी नहीं सुनी। पुण्य-पापके बंधन से जीव अभ्यस्त हो गया है। साधु नाम धारी कितने ही जीवों को यह खबर नहीं होती कि आत्मतत्त्व पर से सर्वथा भिन्न है इसलिये वे लोगों को बाहर की बातें सुनाते हैं। किसी राजा रानी की कथा सुनाकर अन्त में कह देते हैं कि उसने दीक्षा लेली। संसार में ऐसी बातें तो प्रत्येक जीव ने अनन्तबार सुनी हैं इसलिये वे सुलभ हैं।

आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी अविनाशी प्रभु है, उसका मुक्तस्वभाव कैसे प्रगट हो? उसका अन्तरंग वैभव क्या है? यह न जानने के कारण जीव को पराधीनता की कथा–पुण्यपाप बंध की कथा रुचिकर लगती है क्योंकि वह उससे अभ्यस्त हो गया है।

अनन्तबार मनुष्य हुआ वहाँ भी धर्म के नाम से विकथा ही सुनी। कभी सत्य सुनने को भी मिला किन्तु आन्तरिक श्रद्धा नहीं हुई गुमराह में भटका रहा इसलिये उसके लिये तो वह बंध-कथा ही हुई।

एकपना दान करने से हजारगुना पुण्य होता है, ऐसा सुनकर दान के चिट्ठे में अपना नाम लिखाता है। वास्तव में तो तृष्णा कम करने को दान कहा गया है किन्तु इसमें तो तृष्णा बढ़ाने की बात है। जहाँ लेने की भावना है वहाँ त्यागभावना कैसे हो सकती है? स्मरण रहे कि संसार के पापों में लगे रहने से पुण्य भाव अच्छे हैं। पूजा भक्ति और दानादि के द्वारा तृष्णा कम करने का निषेध नहीं किया गया है किन्तु वह शुभभाव है आत्मस्वभाव नहीं इसलिए वह धर्म नहीं है ऐसा समझना है। आजकल बहुत से लोग पुण्य में धर्म बताते हैं 'पुण्य करो' ऐसी बातें संसार में जहाँ तहाँ सुनने को मिलती हैं और जीव के अनुभव में भी वे आगई हैं। जैसे सट्टा करने वाले

को सट्टे की बात का ऐसा तीव्र वेदन (अनुभव) होता रहता है कि उसे दूसरी बात सुनने का अवकाश ही नही होता, इसीप्रकार देव, नरक, मनुष्य और तिर्यंच के भव की बात अनन्तबार सुनी है, इसलिये उसे आत्मा की बात नही रुचती।

जीवलोक ससारचक्र के मध्य मे स्थित है। अज्ञानी जीव क्षणभर पाप में तो क्षणभर पुण्य मे, फिरा ही करता है, किन्तु पुण्य-पाप से भिन्न आत्मतत्त्वरूप निर्णय नही करता, इसलिये उसका भव-भ्रमण नही रुकता।

अनादि से देहदृष्टि है, स्त्री-पुत्रादि को देह के आकार मानता है, कर्मफलरूप देह को समझता है, किन्तु अबन्ध आत्मा को नही समझता, इसलिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के पंचपरावर्तनरूप ससार-चक्र में भ्रमण किया करता है।

पंच परावर्तन का स्वरूप

(१) **द्रव्यपरावर्तन**—प्रत्येक आत्मा ने प्रायः प्रत्येक परमाणु देहरूप से-सयोगरूप से आये और गये, वाणी, मन, कर्मवर्गणारूप से समस्त परमाणुओ का अनन्तबार सयोग किया, पुण्य-पाप के सयोग से अनन्त-प्रकार के आकारवाला शरीर जीवने अनन्तबार धारण किया, किन्तु असयोगी आत्मतत्त्व की बात नही सुनी।

(२) **क्षेत्रपरावर्तन**—लोकाकाश का ऐसा कोई क्षेत्र नही है जहां जीव अनन्तबार जन्मा और मरा न हो। पुण्य-पाप के विकारी-भाव किए और उसके भोग्यस्थानरूप असख्यात क्षेत्र मे अनन्त जन्म-मरण किये, किन्तु आत्मा पर से भिन्न, अतीन्द्रिय ज्ञानमूर्ति है, उसे नही जाना।

(३) **कालपरावर्तन**—बीस कोडाकोडी सागर के जितने समय होते हैं, उन एक एक समय में परिभ्रमण करके जीव अनन्तबार जन्मा और मरा।

(४) **भवपरावर्तन**—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवके भव

अनंतबार धारण किये। कभी सड़ा कुत्ता हुआ तो कभी बहुत बड़ा राजा हुआ और ऐसी राज्य-सम्पदा प्राप्त की जहाँ क्षणभर में करोड़ों रुपया आते हैं वहाँ से मरकर नरक में भी गया और वहाँ से निकल कर सिंह सूकर इत्यादि हुआ इसप्रकार संसारचक्र चलता रहता है किन्तु निर्विकारी-अनन्त सुखमूर्ति आत्मा पर से भिन्न है ऐसी अपूर्व बात जीव ने कभी नहीं सुनी।

(५) भावपरावर्तन—जीव ने अनंतप्रकार के शुभ-अशुभ पुण्य-पाप के भाव किये प्रत्येक क्षण में अरबों रुपयों के दान देने का शुभ भाव किया तो कभी तीव्र मूर्च्छा से महापाप बाँधकर नरक में जाने का भाव किया। शुभाशुभ भाव के द्वारा निरन्तर परिभ्रमण किया। ऐसा परिभ्रमण अनादि से चल रहा है किन्तु सम्यग्ज्ञान के द्वारा कभी भी दोनों के बीच भेद नहीं कर सका। मैं ज्ञानज्योति चिदानंद, पर से भिन्न हूँ ऐसा भेदज्ञान हो जाय तो फिर मोक्षदशा प्रगट हुए बिना नहीं रहे। जीव ने यथार्थ आत्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरे सब कार्य अनन्तबार किये हैं। शरीर पर काँटे रखकर उसे जला डाला तो भी क्रोध नहीं किया छह महीने के उपवास किये और पारणा में मात्र एक चावल खाकर फिर छह महीनों के उपवास किये अज्ञान से उत्कृष्ट पुण्य भाव करके नववें ग्रैवेयक तक गया किन्तु पुण्य पापरहित आत्मस्वभाव को नहीं जाना इसलिए एक भी भव कम नहीं हुआ।

शुभ-अशुभभावके असंख्य प्रकार हैं उनमें मिथ्यादृष्टिके द्वारा होनेवाला ऊँचे से ऊँचा पुण्य और घोर से घोर पाप प्रत्येक जीव ने अनन्तबार किया है।

नववें ग्रैवेयक में जानेवाले जीव के व्यवहार से श्रद्धा-ज्ञान और शुभप्रवृत्ति होती है। बाह्य से नग्नदिगम्बर मुनिवेष होता है पंच महाव्रत का पालन सावधानीपूर्वक होता है किन्तु अन्तरंग में "मैं पर से निराला हूँ पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हूँ किसी का मुझे आश्रय नहीं है।" ऐसी स्वावलंबी तत्त्वश्रद्धा नहीं हुई इसलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनंत परावर्तनो के कारण निरन्तर भ्रमण करके जीव ने परमार्थ से पर से पृथक्त्व की और स्व मे एकत्व की वात कभी नही सुनी। पुण्य-पाप के बधन मे रहने की टेव पड गई है, इसलिये पर से पृथक्त्व की वात नही रुचती। मोहरूपी महाभूत ने सबको वश कर रखा है और वह लोगो से बैलकी तरह भारवहन कराता है। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व गुणस्थान है। हम पर का कुछ कर सकते हैं, ऐसी मान्यता से कोई अज्ञानी इन्कार नही कर सकता। पुण्य से धर्म होता है अर्थात् विकार से आत्मगुण प्रगट होता है, ऐसी विपरीत मान्यता ने अज्ञानी जीवो को वश मे कर रखा है।

जिसे सच्ची समझ होती है वह तृष्णा को कम किये विना नही रहता। अशुभभाव कम करने के लिये गृहस्थके शुभभाव की वृत्ति होती है, किन्तु पुण्य-पापादि से आत्मा को भिन्न माने विना जो अल्प-पुण्य बँधता है, उसका स्वामित्व मानकर कभी तो देवभव पाता है और फिर पशु तथा एकेन्द्रिय मे जाता है।

पर मेरे आधीन हैं, पर मेरे हैं, परका मैं कर सकता हूँ, पर मेरा करदे, मैं ससार में अपनी प्रतिष्ठा से बडा होऊँ, पुण्य मे बढूँ, ऐसी भावना अज्ञानी जीव करता है। कोई नामधारी साधु होकर लोक में बडप्पन लेना चाहता है, किन्तु वह देहादि से भिन्न निर्विकल्प, ज्ञान-मूर्ति आत्मा को नही जानता। वह धर्मके नाम पर विकथा कहनेवाला, अनतज्ञानी-वीतराग भगवान का द्रोही है।

अज्ञानी जीव मोह के वशीभूत होकर पुण्य-पापरूपी भारी बोझ उठाकर अनन्तभव में भ्रमण करता रहता है, अनन्तकाल तक भ्रमण करके किसी समय मनुष्य हुआ तो भी सत्य के लिये प्रयत्न नही करता। सासारिक कार्यों का तो समय विभाग बनाता है, सोने का, खाने-पीने का और बाते करने का समय निकालता है, जगत् की मान-मर्यादा के लिये सब कुछ करता है, किंतु ऐसा विचार तक नही करता कि अनन्त जन्म-मरण को दूर करने का सुयोग फिर नही मिलेगा, इस-

लिए शीघ्र ही आत्मकल्याण करलूँ। मिथ्यात्व के अहंकारभाव को ग्रहण करनेवाले को बैल के समान कहा है। क्योंकि वह स्वयं वर्तमान में बैल के समान भावों का सेवन कर रहा है।

संसार का सयान परिभ्रमण करने के लिये है। अधिक कपट–चालाकी से संसार भले हो चला ले किन्तु मरण के समय उसका लेखा–जोखा मालूम होगा। जैसे कोई बढ़ई चोरों के साथ चोरी करने गया उसने सोचा कि चोरी तो करनी ही है किन्तु साथ ही अपनी कारीगरी भी बताता जाऊँ, यह सोचकर उसने दरवाजे को कलापूर्वक काटा उसमें कंगूरे बना दिये और फिर घुसने के लिये भीतर पैर रखा कि भीतर से मकान मालिक ने और बाहर से चोरों ने उसे खींचना शुरू किया। इस प्रकार अपने द्वारा की गई कारीगरी उसे स्वयं दुःखदाई हो गई और उसका सारा शरीर छिल गया। इसीप्रकार संसार के सयान की–कपट की कारीगरी अपने को ही हानि पहुँचाती है।

निज को भूलकर परवस्तु का मोह किया उसमें से तृष्णा रूपी रोग निकल पड़ा अब वह बाहर परेशान होता है और सुख को ढूंढता है। परपदार्थ अनन्त हैं अनंत पर पदार्थों के साथ राग करने पर कहीं समाधान नहीं मिलता इसलिये आकुलता होती है। स्वयं सुख स्वरूप है उसमें अन्तर्लीन हो जाने का विचार नहीं करता इसलिये संसार में अनादि से परिभ्रमण कर रहा है।

पुण्य–पाप कैसे होता है यह बात जीव ने अनंतबार सुनी है किंतु मैं देहादि से पुण्य–पाप से भिन्न परावलंबन रहित हूँ ऐसे भिन्न आत्मा के शुद्धस्वरूप को बात ग्रहण श्रवण नहीं की। अज्ञानरूपी भूत जीव को अनादि से लगी होने से बैल की भांति भार ढोता है। स्वयं ही मोह के द्वारा तृष्णारूपी आकुलता का भार ढोता है और क्षोभ राग–द्वेष से पीड़ित होता है। पर में ममत्व छोड़ने के बाद जो अल्पराग रहता है वह पुण्य बन्धन नहीं है। आत्मा चिदानंदस्वरूप है उसको भूलकर स्वयं मोह में लग जाता है। जड़कर्म आत्मा को भूल नहीं कराते।

पुण्य करो ! पुण्य करो ! पुण्य से धीरे धीरे धर्म होगा ! यह

बात त्रिकाल मे मिथ्या है। पुण्य विकार है, इसलिये बधन है, उससे धर्म नही होता, धर्म तो पुण्य-पापरहित आत्मा मे है। उसकी पहले श्रद्धा करने के लिये भी पुण्य सहायक नही होता। जो पुण्य-पापरहित स्वभाव है सो धर्म है। यह सुनकर कितने ही लोगो को ऐसा लगता है कि अरे! यह तो पुण्य का भी निषेध करते हैं। किंतु उन्हे यह खबर नही है कि पुण्य के बिना आत्मा से ही धर्म होता है, उन्होने ऐसी बात न तो कभी सुनी है और न उन्हे रुचती ही है। एक परमाणु मात्र मेरा नही है, ऐसा माननेवाला ज्ञानी जितनी तृष्णा दूर करेगा उतनी अज्ञानी दूर नही कर सकता। कायक्लेश से आत्मधर्म नही होता। धर्म तो आत्मा का सहज स्वरूप है, उसमे जो स्थिरता है सो क्रिया है। भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमे स्थिरता ही ज्ञान की आन्तरिक क्रिया है।

लोगो ने बाह्यमे धर्म माना है, उपदेशक भी वैसे ही मिल जाते हैं। पुण्य बांधकर देवलोकमे जाऊँगा, वहां सुख भोगूंगा और भगवानके पास जाकर धर्म सुनूंगा, इत्यादि विकल्प करता है, किन्तु वह स्वय भगवान है, पर से भिन्न है, निरावलम्बी है, ऐसे अपने स्वतत्र स्वभाव को नहीं मानता, तब फिर वह भगवान के पास क्यो जायगा? और कदाचित् गया भी तो वहां क्या सुनेगा?

निरपेक्ष आत्मतत्त्व के ज्ञान के बिना जीव मोह में लगे हुए हैं और ससार का भार ढोते हैं। भले ही त्यागी नामधारी हो, साधु हो अथवा गृहस्थ हो, किन्तु जिसकी दृष्टि शरीर पर है वह देहक्रिया अपनी मानकर पुण्य-पाप का भार ढोकर अनत ससार में परिभ्रमण करता है। कोई माने या न माने, किन्तु सत्य तो कहना ही पडता है, सत्यको छिपाया नही जा सकता।

आत्मा पूर्ण-निर्मल है, उसमे रमण करू, ऐसा न मानकर बाह्य मे कुछ करू तो ठीक, ऐसे परके कर्ता-भोक्तापने का भाव करता है, इसका मूल कारण मोह है। मोह अर्थात् स्वरूप में असावधानी और पर में सावधानी मेरा स्वरूप राग-द्वेष की क्रिया से रहित है, ऐसी

प्रतीति न होना सो मोह है। इसी कारण से पर में रमणता करता है। पर की जो कतृत्वबुद्धि है सो पर में सावधानी है।

जीव को मोह से उत्पन्न-तृष्णारूपी रोग हुआ है उसकी दाह से व्याकुल होकर विषयों की ओर ऐसे दौड़ता है जैसे मृग मृगजल की ओर दौड़ता है। भगवान आत्मा शांतरस वाला है उसे भूलकर बाह्य प्रवृत्ति के द्वारा सुख माननेवाले को आकुलता के कारण आन्तरिक आत्मतत्त्व को देखने का धर्य नहीं है। असन्तोषरूपी अग्नि अन्तरंग में सुलग रही है। मैंने इसका काम किया, इतनों को सहायता दी मुझे इसकी सहायता मिले तो ठीक हो यदि ऐसे साधन मिलें तो बहुतों का भला करूं इसप्रकार आकुलता किया ही करता है। कोई जीव किसी दूसरे का कुछ भी करने के लिये तीनकाल में समर्थ नहीं है। भाग्यानुसार बाह्य के कार्य हुआ करते हैं यह बात नहीं विचारता। किसी की ओर से सहायता मिलने का किसी के पुण्योदय हो और उसका सहायता देने का शुभभाव हो, ऐसा मेल कभी कभी दिखाई देता है किन्तु इसलिये मैंने परका उपकार या कार्य किया ऐसा मानना सो अभिमान है। यदि कोई कहे कि मैंने इतनों को समझा दिया तो क्या यह सच है? समझने की अवस्था स्व से होती है या पर से? तब फिर यदि कोई माने कि मैंने पर की ऐसी निन्दा की सो उसका अहित हुआ प्रशंसा की सो भला हुआ मुझसे पूछो मुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करो मेरा आशीर्वाद मांगो हम व्यवहारकुशल हैं मैं ऐसा समाधान कराइं, और उसका विरोध कराइं बहुतों की सेवा करनेसे उसका आशीर्वाद मिलता है इसलिये लाभ होता है इत्यादि मान्यता त्रिकाल मिथ्या है। किसी के आशीर्वाद से किसी का भला नहीं होता और किसी के श्राप से किसी का बुरा भी नहीं होता। इसप्रकार लौकिक की बात में पद पद पर अन्तर है। इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग पाप के बिना नहीं होता और इष्ट-संयोग पुण्य के बिना नहीं होता। अपने किये गए राग-द्वेष-अज्ञान से बन्ध होता है और राग-द्वेष-अज्ञानरहित भाव से मुक्ति होती है। इसप्रकार प्रत्येक जीव स्वतंत्ररूप से अपने भाव

से वन्ध और अपने भाव से मोक्षदशा को प्राप्त करता है ।

पर से सुख की इच्छा करनेवाला सदा पराधीन बना रहता है । उसके अन्तरग में तृष्णा के-दाहरूपी रोग की पीडा रहती है । वाहर से कदाचित् करोडो रुपयो का सयोग दिखाई दे, तो भी वह अतरग से दु खी है । अज्ञानी भले ही वाहर से त्यागी, साधु जैसा दिखाई दे तथापि वह अन्तरग मे मोह से आकुलित होता है । कौन प्रशंसा करता है, कौन निंदा करता है, ऐसी दृष्टि होने से वह अपने शान्तसुख को भूलकर आकुलता का भोग किया करता है ।

पर के प्रति लक्ष करके उसमे इष्ट–अनिष्ट भाव करना सो विषय है । अज्ञानी ऐसे परवृत्तिरूप विषयो मे लगकर सदा व्याकुल रहता है । दूसरे के ऊपर दवाव न रखे, फटाटोप न करें, तो सभी छोटे वडे सिर पर चढ आयें, दो दिन कठोर रहकर तीक्ष्ण वचन कहे तो, सब सीधे रास्ते पर आ गये, स्त्री–पुत्रादि ठीक हो गये, इत्यादि मिथ्या-मान्यता का सेवन करता है । पुण्य के कारण कदाचित् इच्छानुसार होता हुआ दिखाई दे तो सत्ताप्रियता को पुष्ट करता है । नौकरो के प्रति ऐसा किया जाय और वैसा किया जाये तो वरावर चलें, ऐसा मानता है । किन्तु हे भाई ! पर का काम तेरे आधीन नही है, और तेरे काम पर के आधीन नही है ।

मुझसे लाखो जीवोने धर्म लाभ प्राप्त किया है, ऐसा माननेवाला तृष्णा मे जल रहा है । दूसरा समझे या न समझे, उसका लाभ–अलाभ किसी दूसरे को नही होता, अपना लाभ–अलाभ अपने से ही होता है । ऐसी स्वतत्रता की जिसे खवर नही है वह पर से सन्तोष लेना चाहता है । पर जीव समझे तो ही मेरा उद्धार हो, ऐसा नियम हो तो समझ सके, ऐसा दूसरे जीवो को ढू ढने के लिये रुकना पडे । मुझसे कोई नही समझा अथवा वहुत से लोग समझ गये, ऐसी मान्यता मोह-रूपी भूल है । श्रोता समझे या न समझे अथवा विपरीत समझे तो उसका फल वक्ता को नही है । पर से किसी को लाभ–हानि नही होती । यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है कि यदि बहुतो की सेवा करूँगा

तो तर जाऊँगा । 'जनसेवा ही प्रभु सेवा है' यह मान्यता भी मिथ्या है। हजारों दीपकों का प्रकाश एक घर में इकट्ठा हुआ हो तो किसी एक दीपक का प्रकाश किसी दूसरे में मिल नहीं जाता इसीप्रकार किसी जीवके भाव में दूसरे का भाव मिल नहीं जाता।

यदि कोई माने कि मुझसे बहुत से लोग समझें तो मुझे पाथेय प्राप्त हो जाय किन्तु यह मान्यता भ्रममात्र है। यदि कोई न समझे तो अपने को रुकना नहीं पड़ता।

अज्ञानी जीव का अनादि से पर के ऊपर लक्ष है इसलिये यह मानकर या मनवाकर कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ पराधीनताको अंगीकार करता और करवाता है। साधु नाम धारण करके दूसरों को बंधन की प्रवृत्ति बताता है। "करूँगा तो पाऊँगा" जवानी में कमालें फिर वृद्धावस्था में शांति से धर्म करेंगे इसप्रकार बहुत से लोग मानते और मनवाते हैं। बाहर का मिलना न मिलना तो पूर्व प्रारब्धके आधीन है। अधिक पुण्य करने से बड़े होते हैं ऐसी तृष्णा—मोह बढ़ाने का उपदेश बहुत जगह सुनने को मिलता है। पर के द्वारा अरूपी आत्मा की महत्ता का गुण गानेवाले सर्वत्र पाये जाते हैं। 'यदि पर का कुछ नहीं करें और जहाँ तहाँ आत्मा ही आत्मा करते फिरें तो बड़े स्वार्थी कहलायेंगे' ऐसा माननेवाले लोग जगत् के प्रत्येक द्रव्य के स्वतंत्र स्वभाव को भूल जाते हैं। कोई किसी का कुछ कर नहीं सकता। बाहर का जो होना होता है वैसा ही उस उस वस्तु के कारण से होता है। यह बात सुनने को नहीं मिलती इसलिये समझने में मेल नहीं बैठता। दूसरे की लाभ करदें ऐसी अभिमान भरी बातें होती रहती हैं किन्तु आन्तरिक तत्त्व पृथक है उसे कौन याद करे? जिस बात का परिचय होता है उसके प्रति प्रेम बताता है इसलिये काम—भोग की कथा जहाँ—तहाँ सुलभ हो गई है किन्तु आत्मा की स्पष्ट भिन्नता और स्वतंत्र एकत्व की बात दुर्लभ हो गई है। मैं पर के कर्तृत्व—भोक्तृत्वसे रहित पर के आश्रय से रहित पुण्य-पाप से रहित विकल्प वृत्ति से निराला सदा प्रगटरूप से अन्तरंग में प्रकाशमान ज्ञायकमात्र हूँ ऐसा

भेदज्ञानज्योति से निर्णय करना चाहिये।

अपने अखण्ड चिदानन्द ध्रुवस्वभाव का जो आश्रय है सो कारण है, और आत्मा स्पष्ट निराला अनुभव मे आता है सो उसका फल है। इसप्रकार साधन–साध्यता आत्मा मे ही है।

अनन्त गुणो का पिण्ड, सदा चैतन्यज्योति आत्मा प्रगट है, प्रकाशमान है। पुण्य–पाप रागादि से आत्मा भिन्न है, तथापि कषायके साथ एकमेक सा मानता है, (कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य–पाप। जो क्रोध–मान है सो द्वेषभाव है और माया–लोभ रागभाव है। राग मे पुण्य–पाप दोनो है।) बध–मोक्ष ये दो अवस्थाएँ कर्म के निमित्त की अपेक्षा से हैं। शक्ति–व्यक्ति के भेद को गौण करके देखने पर सदा एकरूप, निर्मल, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा है, किंतु पराधीनदृष्टिसे वह स्वरूप ढक जाता है। पर के साथ मेरा सम्बध है, उसको (कर्तव्य) पूरा करना चाहिये, ऐसा कहकर चौरासीके चक्कर में परिभ्रमण किया। स्वभाव से निर्मल, त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्मा को नही जाना, इसलिये सर्वज्ञ–तीर्थंकर भगवानके पास अनतबार जाने पर भी पुण्य–पाप मेरे हैं, मैं पर का आश्रयवाला हूँ, ऐसे पराधीन भाव की पकड होने से केवलज्ञानी भगवानके पास से भी कोरा का कोरा यो ही लौट आया। विष्टा में रहनेवाले भौंरे को देखकर गुलाब के फूलो में रहनेवाले भौंरे ने उससे कहा कि “ तू तो मेरी जाति का है, गुलाबकी सुगन्ध लेने के लिए मेरे पास आ ? ” विष्टा का वह भौंरा विष्टा की दो गोलिया अपनी नाक में लेकर गुलाब के फूल पर जा बैठा। गुलाब के भौरे ने पूछा कि ‘कैसी सुगन्ध आती है ? ” उसने उत्तर दिया, जैसी वहाँ आती थी वैसी ही यहाँ आती है। ’ गुलाब के भौंरे ने विचार किया कि ऐसा क्यो होता होगा ? और फिर उसने उसकी नाकमे देखा तो उसमें विष्टा की दो गोलियाँ मिली, उसने वे निकलवादी, तब उसी समय उस विष्टा के भौंरे ने कहा कि ‘अहो ! ऐसी सुगन्ध तो मुझे कभी नहीं मिली थी’ इसीप्रकार ससार मे अनादि से परिभ्रमण करता हुआ जीव पुण्य–पाप की पकडरूप दो गोलियाँ लेकर कभी ज्ञानी के पास–

तीर्थंकर भगवान के पास धर्म सुनने के लिये जाता है तो भी पूर्व की मिथ्या वासना से जो माना हुआ है वैसा ही देखता है, किन्तु यदि एकबार बाह्यदृष्टि का आग्रह छोड़ सरलता रखकर ज्ञानी का उपदेश सुने तो शुद्ध—निर्मलदशा को प्राप्त हो जाय।

पारसमणि अरु संत में, बड़ो आँतरो जान।
वो लोहा कंचन करे, वो करे आप समान॥

यदि एकबार सच्चे भाव से धर्मात्मा का साथ करे तो अपनी पूर्णशक्ति को मानकर उसमें स्थिर होकर वैसा ही स्वयं हुए बिना न रहे। जीव को केवल अन्तरंग मोक्षमार्ग में रहनेवाले ज्ञानी—धर्मात्मा मिले तब भी उनकी संगति और सेवा नहीं की। स्वतन्त्र—निर्दोष तत्त्व के संबंध में वे क्या कहते हैं ऐसा भाव अन्तरंग में समझकर उस भाव को स्वीकार करना सो सत् की सेवा है किन्तु अपनी पूर्वगृहीत मान्यता को पकड़े रखकर सुने तो अतीन्द्रिय—आनन्दस्वरूप का स्वाद अनुभव में नहीं आता। कोई कहता है कि 'सारे दिन आत्मा की ही बात करते हो यहाँ दूसरी तो कोई बात ही नहीं है आत्मा के बाद कुछ करना भी तो होगा? उससे ज्ञानी कहते हैं कि 'भाई! पहले निश्चय तो कर कि तू क्या कर सकता है? यह समझने के बाद प्रश्न ही नहीं होता।

क्या कभी असत् की मान्यता से सत् का फल मिलता है? ज्ञानी धर्मात्मा की संगति भी नहीं की ऐसा कहकर सत्समागम पर भार दिया है। निर्दोष सत्स्वरूप स्वयं होकर यदि सत् को समझे तो ज्ञानी पुरुष को निमित्त कहा जाता है किन्तु जिसने ज्ञानी की वाणी और देह को ही सत्समागम समझा है उसने अचेतन का साथ किया है। उसने आत्मज्ञान को प्राप्त लोगों की संगति भी नहीं की अर्थात् उनके कहे हुए भाव को नहीं समझा है। जैसे पिता को उसके नाम से माने उसके नाम की माला फेरे किन्तु पिता की आज्ञा न माने पिता के विरोधी का आदर करे तो वह सुपुत्र नहीं कहलाता। इसीप्रकार सर्वज्ञ वीतराग को नाम से माने उनके नाम की माला फेरे किन्तु उनकी

आज्ञा क्या है, वे परमार्थतः क्या कहते है, इसे न समझे, और वीत-रागता के विरोधी पुण्य–पाप का आदर करे, तो वह वीतरागताका अनु-भवी नही कहलाता। आत्मा का यथार्थ निश्चय करके सत्य को नही समझा, इसलिये अनन्तभव धारण किये, वे सब व्यर्थ गये। आत्मभाव से जीव ने एक भी भव नही बिताया। अनन्तकाल से अजान होने के कारण परम महिमावान् अपना स्वरूप क्या है; यह कभी नही सुना इसलिये स्वय अज्ञानी बना रहा।

'आत्मा पर से भिन्न है' ऐसा बहुत से लोग कहते है, किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप नही समझते, समझने के लिये विशेष परिचय और धीरज चाहिये। एकबार सुनकर उसमें से कोई शब्द धारण करके मानता है कि मैंने आत्मा को जान लिया है, किन्तु इसप्रकार यो ही आत्मा नही जाना जाता। कोई कहता है कि 'मैंने पन्द्रह दिन में समय-सार पढ़ लिया है,' किन्तु इसप्रकार पृष्ठ या अक्षर पढ लेने से वह समझ में नही आ जाता। क्या यह कोई उपन्यास है? यदि उपन्यास या कहानी हो तो उसे भी बहुत दिन तक पढता है।

भिन्न आत्मा का अनुभव जीव ने नही किया, इसलिये उसका एकत्व सुलभ नही है। आत्मा की यथार्थ प्रतीति हुई कि उसी समय सब छोड देता है। ऐसा सबके लिये नही बनता, किन्तु शक्तिके अनुसार क्रमशः राग घटाता है। गृहस्थदशा में होने पर भी अनन्तज्ञानी–एका-वतारी हो जाता है। जो सत्य को ही नही समझा वह किसे स्वीकार करेगा, किसे छोडेगा, और किसमे स्थिर होगा।

भावार्थ—इस ससार में परिभ्रमण करनेवाला जीव पच-परावर्तनरूप चक्रमें पडकर, मोह से पागल होकर 'पुण्य–पाप मेरे हैं' ऐसी विपरीत मान्यतारूपी जुए मे जुत जाता है, इसलिये वह उन विषयो* की तृष्णारूपी दाह से पीडित होता है, और कामभोगरूपी विषयो की ओर दौडता है, तथा जो जो उपाय करता है, उन सभी

---

* आत्मा का लक्ष छोडकर पर का लक्ष करना और उसमें इष्ट–अनिष्ट-रूप वृत्ति करना सो विषय हैं।

उपायों से आकुलता ही भोगता है प्रवृत्ति से दोष दूर करने की इच्छा करता है। पर के ऊपर लक्ष करना सो विषय है। स्व–स्वामित्वका उपदेश विरले जीव ही करते हैं। आत्मा निराकुल ज्ञानमूर्ति है, उसमें स्व–लक्ष से स्थिर होना ही आकुलता को दूर करने का सच्चा उपाय है। परावलंबनरहित शुद्ध दर्शन ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप आत्म भाव स्व–विषय है पुण्य–पाप की प्रवृत्तिका भाव पर–विषय है। भिन्न आत्मा की बात यथार्थरूप से आज तक कभी नहीं सुनी और जिसे आत्मज्ञान है ऐसे धर्मात्मा की सेवा भी नहीं की।

किसी ने ऐसा सुना कि जवाहरात का व्यापार करनेसे अधिक लाभ होता है किन्तु क्या ऐसा सुनने या कहने मात्र से लाभ हो सकता है? जैसे परीक्षक बुद्धि के बिना वह व्यवसाय नहीं आता उसीप्रकार आत्मा से विरुद्ध क्या है और अविरुद्ध क्या है ऐसा भेदज्ञान न हो तो क्या लाभ है?

इस काल में सच्ची बात का सुनना भी दुर्लभ है। आत्म स्वभाव मन वाणी और शरीर से परे है। मैं पर का कर्ता भोक्ता नहीं हूँ आत्मा जानने के अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं कर सकता। आत्मा या तो अज्ञान सहित राग–द्वेष करता है अथवा सम्यग्ज्ञान सहित स्वरूप में एकाग्र रहकर राग–द्वेष दूर करता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरा कार्य ही नहीं कर सकता।

तू अज्ञानता से पर में अच्छा–बुरा भाव कर रहा है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी पर का कुछ कर नहीं सकते" शास्त्रों में जो यह कहा है उसके भाव को तू नहीं समझता इसलिये तू देव शास्त्र गुरु का विरोध करता है और उसमें धर्मभाव मानता है। सत्य के समझने में यदि समय भी लगे तो उसमें कोई हानि नहीं किन्तु समझने में देर लगेगी इसलिये अयथार्थ को मान लेने से काम नहीं चलेगा। जैसे दरजी को कपड़े का थान देकर जो कपड़ा बनवाना होता है उसके बारे में उसे समझाया जाता है। किन्तु यदि दरजी कहे कि मुझे समझाना नहीं है लाओ जल्दी कतर डालूं और ऐसा कहकर बिना समझे ही कपड़े

को कतर डाले तो हानि हो जाय, किन्तु यदि धीरज रखकर सुने तो उसमे जितना समय जाता है वह भी जिसप्रकार का कपड़ा बनाना है उस कार्य के प्रारम्भ में जाता है। कैसा कपडा है, कैसा नाप लेना है, और क्या बनवाना है, यदि इसका सभी व्योरा समझने का धैर्य रखे तो ही वह सफल होता है। इसीप्रकार पर से भिन्न स्वाधीनस्वरूप कैसा है, पुण्य—पाप का बन्ध किसप्रकार होता है, इत्यादि सुनने—समझने का धीरज हो तो यह प्रारम्भ का कार्य कर चुकने से यथार्थ के समझने मे सफल होगा और क्रमशः वीतराग हो जायगा। जैसे कोई कहे कि उल्टा ही कतर—व्योत क्यो नही कर डालते, ग्राहक की बात को सुनने-समझने की क्या आवश्यक्ता है ? इसीप्रकार बहुत से लोग कहा करते है कि "समझने—समझाने का क्या काम है ? प्रारम्भ कर दो ! क्रिया करेंगे तो सफल होगे, समझने के लिये कबतक लगे रहे"। ऐसा मानकर क्रिया—काड में लगा रहे तो ज्ञानी का अतरग आशय क्या है यह नही समझा जा सकता, और बिना समझे भवभ्रमण दूर नही हो सकता इसप्रकार समझ को प्राप्त करने की दुर्लभता बताई गई है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अब मैं अपने आन्तरिक वैभव से आत्मा का एकत्व दर्शाता हूँ, इसलिये उस अपूर्व समझ से निश्चय करने के लिये उसे अनेक पहलुओ से समझना होगा, वह ऊपरी बातो से नहीं समझा जा सकता। कोई कहता है कि हमें तो सभी समान लगते हैं। किन्तु जैसे तालाब के समतल को देखने से ऐसा लगता है कि किनारे का और मध्य का पानी एकसा है, किन्तु पानी की गहराई नापने के लिये बास को लेकर अन्दर उतरे तो कहाँ कितना गहरा है यह मालूम हो जाता है, इसीप्रकार आत्मा की कई बातें मात्र शब्द मे सुनने पर उनका अपनी मान्यता के साथ कुछ सादृश्य सा लगता है और कहता है कि मैंने आत्मा को जान लिया। किन्तु मन और इन्द्रियो से परे अतीन्द्रिय आनन्द से परिपूर्ण आत्मा का सामान्य—विशेष स्वभाव क्या है, इत्यादि का विचार करके ज्ञान के प्रमाण से माप करे तो उसकी गहराई और उसका भेद ज्ञात हो जाता है।

आचार्यदेव प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि यह समयसार समस्त पदार्थों को यथार्थरूप में बतलाता है, जो इसे समझता है उसे मोक्ष हुये बिना नहीं रहता। आत्मा पर से सर्वथा भिन्न, पूर्ण-स्वतंत्र और कतृत्व-भोक्तृत्व से रहित है। इसप्रकार अनेक तरह से गहराई की महिमा और उसका अभ्यास करने के बाद जो उसप्रकार की तयारी करता है उसे यथार्थ बात अवश्य समझ में आजाती है। समयसार की ४१५ गाथाओं को भलीभांति समझ ले तो आत्मा का स्वभाव किस प्रकार से समझाया गया है वह ध्यान में आजाये। पर से भिन्नत्व और निजसे एकत्व कैसे है इसका भेद करके वस्तुस्थिति कही गई है, जो कि स्पष्ट समझी जा सकती है। अंटसंट लिखकर चाहे जिस उत्तर दायित्वहीन व्यक्ति का अंगूठा लगवा लेने की बात यहाँ नहीं है किन्तु साक्षात् सर्वज्ञ के कहे हुये आगम के प्रमाण से गुरुपरंपरा के उपदेश से, अबाधित न्याय की युक्ति से तथा अपने स्वानुभव के बल से जैसा का तैसा कहा गया है। इसप्रकार आचार्यदेव इस बात को प्रमाणित करते हैं।

तं एयत्तविहत्तं दाएह अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥५॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

अर्थ—उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं उसे दिखाऊँ तो उसे प्रमाण मानें और यदि कहीं पर चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करें—उसे छल न समझें।

यह महामंत्र है। जैसे कोई सर्प किसी को काटकर बिल में चला गया हो तो मंत्रका ज्ञाता मंत्र पढ़ पढ़कर उसके पास बिल में भेजता है और इसप्रकार वह सर्प को बाहर निकालता है। यदि उसका (जिसे सर्प ने काटा है) पुण्य हो तो सर्प आकर विष चूस लेता है इसीप्रकार भगवान तीर्थंकर की दिव्यवाणी खिरी उसमें से श्रीकुन्द

कुन्दाचार्य ने समयसार की रचना करके अज्ञानान्धकार मे सोये हुए जीवो को—जिन्हे पर मे कर्तृत्वरूप ममता के मोहरूपी सर्प का विष चढा हुआ है उन्हे अमृतसजीवनीरूपी न्याय वचनों से मन्त्रित गाथायें सुनाकर ससार की गुफा मे से बाहर निकालकर उसका विष उतारकर दूर कर देते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि "त एयत्त विहत्त दाएहं अप्पणो सविह—वेण"। यहाँ पर 'दाएह' अर्थात् दिखाता हूँ, ऐसी ध्वनि है कि मैंने उसे दिखाने का निर्णय किया है, एकत्व—विभक्त आत्मा के स्वरूप को दर्शाने का (बतलाने का) सकल्प किया है।

'दाएह' यह प्रथम शब्द आचार्यदेव के उपादान के बल को बतलाता है।

और फिर 'जदि दाएज्ज' अर्थात् 'यदि दिखाऊँ तो', इसमे आचार्यदेव अपनी आत्मा की अवस्था को, और जिसके द्वारा दिखाते हैं उस वाणी की अवस्था को—दोनो को स्वतन्त्र रखते हैं—भिन्न भिन्न बतलाते हैं। इसीप्रकार 'जदि दाएज्ज' (यदि दिखाऊँ तो) इस शब्द में निमित्त की अपेक्षा है। स्वरूप को कहने का जो उत्साह है सो उपादान है, और वाणी का जो योग है सो निमित्त है। इसप्रकार दोनो के मेल से युक्त यह शास्त्र अखण्डरूप में अद्भुत रीति से पूर्ण हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना—स्वीकार करना। मै जो कहूँगा वह अपने आत्मा के निज—वैभव से कहूँगा, स्वात्मानुभव से कहूँगा, एकत्व—विभक्त आत्मा को स्वानुभव से दिखाऊँगा, इसलिये हे श्रोताओ ! उसे तुम भी स्वानुभव से प्रमाण ही करना।

आचार्यदेव आदेश करते हैं कि 'तुम उसे प्रमाण ही करना, ऐसा कहने में कारण यह है कि मैं जिस भाव से चल रहा हूँ उस भाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला हूँ, उसमें मुझे बीच मे कोई विघ्न नही दिखाई देता, मैं पीछे हटनेवाला नही हूँ, एक दो भव मे पूर्ण हो जाने-

जाता हूँ, ऐसा अप्रतिहत भाव है। इसीप्रकार यदि तुम भी प्रमाण करोगे तो मेरे जैसे ही हो जाओगे। निमित्त और उपादान एक जाति के हो जायेंगे—उनमें भेद नहीं रहेगा।

आचार्यदेव के अन्तरंग में अप्रतिहत भाव प्रगट हुआ है और वाणी के द्वारा भी जो कहना चाहा था वह अप्रतिहत में पूर्ण हुआ है। उपादान–निमित्त का एक सा अपूर्व मेल हो गया है, ऐसे किसी बल वत्तर योग से यह शास्त्र रचा गया है।

अपने वैभव की निर्भयता से और निःशंकता से आत्मा के एकत्वविभक्तपन को बतलाते हैं। एकत्व शब्द स्व से अस्तित्व और विभक्त शब्द पर से नास्तित्व को सूचित करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि—

मैं स्वयं उत्तरदायित्व के साथ कहूँगा स्वयं देखभाल कर अपूर्व आत्मा की बात निज–वैभव से कहूँगा इसप्रकार निज अनुभव से वे कहते हैं फिर विनय से कहेंगे कि तीर्थंकर भगवान ने ऐसा कहा है। किन्तु यहाँ तो सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखकर प्रसिद्ध करते हैं, इसलिये जो कहेंगे वह कहीं इधर–उधर से ले लिया है ऐसा नहीं है किन्तु वे निज–वैभव से, स्वानुभव से आत्मा का अपूर्व धर्म कहते हैं।

अन्तरंग में अखण्ड ज्ञान–शांतिस्वरूप पूर्ण आत्मा की श्रद्धा ज्ञान और आन्तरिक रमणता का जो आनन्द है सो निज–वैभव है उसके द्वारा दिखता है। वाणी में आत्मस्वरूप को यथार्थ कहने का भाव है साथ ही उपादान का बल है। जो विकल्प उठा उसके अनुसार उसका शास्त्र में–वाणी से पूर्ण होने का योग महाभाग्य से मिलता है।

जो भाव सर्वज्ञ का है उस भाव को लक्ष में लेकर पीछे न हटे ऐसे भाव को लेकर यहाँ अप्रतिहतभाव बताया है। यदि कहीं शब्द रचना में भूल हो तो दोष ग्रहण नहीं करना। शब्द में कोई व्याकरण आदि की भूल कदाचित् हो किन्तु आत्मा के प्रमाण की बात तो यथार्थ ही कही जायगी। शास्त्र रचना में अक्षर मात्रा व्याकरण

अलकार आदि आते है, उनपर भार नही है, किन्तु जो परमार्थस्वरूप एकत्व का कथन करना है उसमे कही भूल नही है, इसलिये शब्द की भूल मत ढूढना। गाय के जहाँ मास निकला हो वही कौवा बैठता है, उसीप्रकार दुर्जन की भांति दोष देखने की दृष्टि ग्रहण नही करना। सज्जन पुरुषो ने दोष ग्रहण नही करना चाहिये, किन्तु मैं जो शुद्ध आत्मा का अनुभव कहना चाहता हूँ उसे अन्तरग मे मिला लेना। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं केवली नही, छद्मस्थ हूँ, हाँ, केवलज्ञान प्राप्त करने का मेरा आन्तरिक अनुभव प्रगट हुआ है, इसलिये अबाधितरूप से कहने को उद्यत हुआ हूँ।

टीका—जो कुछ मेरे आत्मा का निज-वैभव है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अन्तरग मे रमणतारूप चारित्रदशा है। उस प्रगट समृद्धि के समस्त सामर्थ्य से मैं इस स्व से एकत्वभूत और पर से पृथक् आत्मा को दिखाऊँगा। जैसे किसी के यहाँ विवाह हो तब वह घर की सारी सम्पत्ति बाहर निकालता है, उसीप्रकार यहाँ पंचमकाल है, हम छद्मस्थ हैं फिर भी हमने आत्मऋद्धि प्राप्त की है, और पूर्ण ज्ञानी जो कह गये वही जगत के सामने स्वानुभव के द्वारा कहते है। जितना हमें अन्तरज्ञानवैभव प्रगट हुआ है उस सबसे, आत्मानुभवरूप श्रद्धाके पूर्ण बलसे इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा।

वाणी तो पर है, वाणी वाणी मे परिणमन करती है, वाणी का परिणमन होना या न होना उसकी योग्यता पर अवलबित है, फिर भी यहाँ तो आत्मा के स्वरूप को कहने की जो उमग है सो उपादान, और वाणी का योग निमित्त है, इसप्रकार उपादान-निमित्त दोनो का मेल बैठने पर यह ग्रथ अलौकिक रीति से पूर्ण हुआ है। जैसा निर्णय है वैसा ही उद्यम है।

अब आचार्य अपनी पहिचान कराते हैं—मेरे आत्मा का 'निज-वैभव' अर्थात् अन्तरग लक्ष्मीरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप वैभव कैसा है? इस लोक मे प्रगट समस्त वस्तुओ के बतानेवाले परमागम-शास्त्र

शब्दब्रह्म की उपासना से उसका जन्म है। यहाँ मेरे अन्तरंग का वैभव प्रगट करते समय निर्दोष कारणरूप से बाह्यसंयोग कैसा था कि जिसके द्वारा निज-वैभव का जन्म हुआ है ? सो कहते हैं—जो ऐसा निज-वैभव आत्मा में प्रगट करता है उसके भी ऐसे ही संयोग होते हैं ऐसा भाव भी इसमें से निकलता है। इस लोक में समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म है अर्थात् जिससे समस्त वस्तुसम्बन्धी ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा उस सर्वज्ञ की वाणी में सामर्थ्य है। ऐसे परम आगम के सेवन से निज-वैभव का जन्म होता है उसकी सामर्थ्य से कहेंगे।

> "जे पद श्री सर्वज्ञे दीठु ज्ञानमां।
> कहि शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो ॥
> जो पद श्री सर्वज्ञ ने, देखा अपने ज्ञान।
> कह न सके वे भी उसे यद्यपि वे भगवान ॥
>
> (अपूर्व अवसर)

ऐसा भी कहीं कहीं कथन है वहाँ अचिंत्यस्वरूप की महिमा के लिये परमार्थ कथन का गम्भीर आशय समझकर उसे अनुभव में उतारने के लिये वैसा कहा है।

यहाँ तो शब्दब्रह्म समस्त वस्तु को प्रगट करनेवाला है और मैं भी भगवान की वाणी में से आत्मस्वरूप को समझा हूँ इसलिये क्रम से वाणी द्वारा स्व से अभिन्न और पर से भिन्न ऐसे स्वतंत्र आत्म स्वरूप का वर्णन करूँगा ऐसा निर्णय प्रसिद्ध करते हैं। यह कितना साहस है कितनी दृढ़ता है ! घी के स्वाद का ज्ञान तो होता है किन्तु वह वाणी द्वारा यथार्थरीति नहीं कहा जा सकता ? तब यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के न्याय को अन्तरंग में घोलकर पी गया हूँ इस लिये वाणी के द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप कहा जायगा। आत्माका जो स्वरूप मैं समझा हूँ उसे कहने की सामर्थ्य मुझमें आ गई है। अब ऐसी बात नहीं है कि वह स्वरूप कहा नहीं जा सकता।

कोई चतुर मनुष्य, सामनेवाले के अभिप्राय मे जितनी बात है उसका सारा भाव थोडे शब्दो मे समझ लेता है और दृढता से कहता है कि—'तुम्हारा जो कहना है वह मै बराबर समझ गया हूँ,' इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ वीतराग की वाणी मे आये हुये भावोको मै यथार्थरूप से समझा हूँ, इसलिये मेरे निज-वैभव से यथार्थ आत्म-स्वरूप का वर्णन किया जायगा। यह तो निमित्त का कथन है। इसमे वास्तव में तो आचार्य अपनी महिमा गाते हैं, क्योकि परमार्थ से कोई किसी को नही समझाता। स्वभाव की दृढता से उपादान मे ऐसी सामर्थ्य है कि जिसके योग से वाणी मे भी उस स्वरूप को यथार्थ कहने की योग्यता आ गई है। वाणी के परिणमन मे जीव का योग और इच्छा निमित्त है। व्यवहार से कहा जाता है कि 'जहाँ बलवान उपादान जागा वहाँ ऐसी वाणी आये बिना नही रहती।' वास्तव मे वाणी का परिणमन स्वतन्त्र है। सर्वज्ञ वीतराग का पुण्ययोग भी उत्कृष्ट होता है, इसलिये उनकी वाणी भी परिपूर्ण होती है, उस वाणी को 'शब्द-ब्रह्म' कहा है, और उसमे 'स्यात्' पद का मुद्रावाला सिक्का है।

स्यात्=कथंचित् प्रकार से और वाद=कथन कहना अर्थात् द्रव्य के एक धर्म को मुख्य और दूसरे धर्म को गौण करके कहना सा 'स्याद्वाद' है। जैसे कि 'वस्तु नित्य है' ऐसा कहने पर वस्तु स्वभाव से नित्य (अविनाशी) है ऐसा समझना चाहिये। 'वस्तु अनित्य है' ऐसा कहने पर क्षण क्षण मे बदलती हुई अवस्था की अपेक्षा से अनित्य है, ऐसा समझना चाहिये। वस्तु का एक धर्म मुख्यरूप से कहने पर उसमें दूसरे अनन्त धर्म हैं, यह बात ध्यान से बाहर नही होती। जिस अपेक्षा से कहने में आये वह न समझे किन्तु वस्तु मे एक ही धर्म है, ऐसा मान ले, वह एकातपक्षवाला मिथ्यादृष्टि है। जिस अपेक्षा से नित्यत्व है उसी अपेक्षा से अनित्यत्व नही कहा जाना। त्रैकालिक, स्वतन्त्र द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से आत्मा अविकारी—शुद्ध है, तब वर्तमान परनिमित्ताधीनदृष्टि से अशुद्ध है, ऐसा दोनों अपेक्षावाला कथन जिस-प्रकार है उसीप्रकार यथार्थता से समझना चाहिये। भिन्न भिन्न प्रकार

से जो जो कथन जिनेश्वर देव ने कहा है वह वस्तु के अनेक स्वभाव अनुसार कहा है। उसमें कही गई अपेक्षा को न समझे और आत्मा पूर्ण शुद्ध ही है ऐसा मान ले तो वर्तमान संसारदशा की अशुद्धता दूर करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वभाव से शुद्ध है और वर्तमान प्रत्येक समयवर्ती पर्यायों की अपेक्षा से अशुद्ध है इसप्रकार दोनों अपेक्षाओं को यथार्थ समझ ले तो पूर्ण शुद्धस्वभाव के लक्ष से अशुद्धता को दूर करने का प्रयत्न अवश्य करेगा। सर्वथा निर्दोष कथन सर्वज्ञ वीतराग कथित आगम का ही है।

अरहंत का परमागम सर्व वस्तुओं का सामान्य (वचनगोचर) धर्मोंका कथन करता है और वचन से अगोचर जो विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है, इसप्रकार वह सब वस्तुओंका प्रकाशक है इसलिये सर्वव्यापी कहलाता है।

सभी मानवों और देवेन्द्रों के द्वारा पूज्य अथवा जिन्हें पवित्र आत्मधर्म प्रगट करना है उनसे पूज्य व अरहंत हैं। वे सदा पूज्य हैं इस लिये उनकी वाणी का बहुमान होता है। अरहंत सर्वज्ञके मुखसे निकले हुये परमागम में कथित भाव की उपासना से निज-वैभव का जन्म हुआ है। वाणी तो जड़ है किन्तु यहाँ पर सर्वज्ञ का गंभीर आशय क्या है उनके समझने की परमार्थ से उपासना की गई है फिर भी जिनवाणी में उपचार करके कहते हैं कि उससे निज-वैभव का जन्म है। आत्मा अपनी अनन्तशक्ति से त्रिकाल स्वतन्त्र है। आत्मा के जो अनंतगुण हैं वही अनन्तशक्तिरूप निज-वैभव है। वह अप्रगट था किन्तु वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थ के द्वारा वीतराग की वाणी के बारंबार अनुसरण करने से उसका जन्म हुआ है।

सर्वज्ञ ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा बराबर समझकर उस भाव की निर्मलता का जो अभ्यास-परिचय है सो रुच लेता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार किसी भी काम में आत्मा को गुण नहीं होता। इसप्रकार गुण की निर्मलता की विधि कहने पर उससे जो विरुद्ध है वो असत् है ऐसा निषेधपरक समझ लेना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग ने जो कहा है उसका आशय समझने से आत्मानुभव प्रगट होता है। सर्वज्ञ की वाणी को शब्दब्रह्म कहने का यह अर्थ है कि वह समस्त पदार्थ को बतानेवाली है।

नित्यत्व, अनित्यत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, अस्तित्व, नास्तित्व जिसे धर्म सज्ञा है ऐसे अनेकप्रकारके कथन से सम्पूर्ण पदार्थोंकाज्ञान कराने में समर्थ होने से सर्वज्ञ की वाणी 'शब्दब्रह्म' कहलाती है। उससे रचे गये अर्हंत के परमागमो मे सामान्य धर्मों का कथन है, यथा-अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि और जीवत्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र जिसे विशेष गुण कहा जाता है, और उसीके द्वारा वचनअगोचर विशेष धर्मों का अनुमान कराया जाता है, उससे कुछ शेष नही रहता। इसप्रकार परमागम सर्ववस्तु का प्रकाशक होने से सर्वव्यापक कहलाता है और इसलिये वह शब्दब्रह्म है।

आत्मा के अतिरिक्त भी प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण हैं, अनत परद्रव्य है, उस अनन्त से पृथक्रूप मे अनन्त–अन्यत्व नामक गुण है, इसीलिये अनन्त रजकण अथवा अनन्त देह सयोगमे आया तो भी आत्मा कभी उसरूप नहीं हुआ, और कोई परमाणु बदलकर आत्मारूप नही होता। इसप्रकार अनन्त से अन्यत्वकी शक्तिरूप अनन्तधर्म प्रत्येक वस्तुमें है। उन सबको सर्वज्ञ का आगम बतलाता है। उस गभीर आशय को जाननेवाला धर्मात्मा कहता है कि सर्वज्ञ की शब्दब्रह्मरूप वाणी में जगत का कोई भी भाव अज्ञात नही है।

जैसे किसी का बाप बही मे लिखा गया हो कि "वैशाख सुदी २ को दिन के १० बजे मन्दिर में शिखर के नीचे लाखो स्वर्णमुद्रायें गाडी गई हैं, उन्हे निकाल लेना।" इसका आशय लडका न समझे और शिखर को तोडना प्रारम्भ करदे तो वे स्वर्णमुद्रायें नही मिलेंगी। पिता ने तो इस आशय से लिखा था कि वैशाख सुदी २ को दिन के दस बजे उस मंदिर के शिखर की छाया घर के आगन मे जिस स्थान पर पडे वहाँ सुवर्णमुद्रायें गडी हैं, इस गम्भीर आशय को लडका नहीं

समझे, तो धर्म नहीं मिल सकता। इसीप्रकार सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों में लिखे गये शब्दों का सीधा अर्थ करने जाय और उसके गांभीर्य तथा भाव को न समझे तो आत्मधर्म की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उसका गम्भीर आशयरूप अर्थ अन्तरंग में से निकलना चाहिये। 'सब आगम भेद सो उर बसे' इसप्रकार लोकोत्तर भंडार की महिमा होनी चाहिये। यदि महिमा योग्य दुनिया में कुछ है तो वह सर्वज्ञप्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही हैं। वह धर्मात्मा कदाचित् वर्तमान में निर्धन स्थितिमें हो किन्तु अल्पकाल में ही वह जगत्वंद्य त्रिलोकीनाथ होनेवाला है। संसार में जिनका पुण्य बड़ा है वे बड़े कहे जाते हैं। धर्म में यह देखा जाता है कि स्वतन्त्र आत्मगुण की समृद्धि कितनी है।

आचार्य कहते हैं कि परमागम की उपासना से मुझे अनुभव प्राप्त हुआ है इसीप्रकार जो कोई सर्वज्ञ भगवान की अनेकांत वाणी—सत्—शास्त्रों को पढ़ता है और न्यायपुरस्सर भलीभांति श्रवण—मनन करता है उसे आत्मज्ञान हुए बिना नहीं रहता। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने साक्षात् तीर्थंकर के पास से सुना है और इस ॐकारमय वाणी को सूत्र में इसप्रकार गुंफित किया है कि जिससे स्व—पर का यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है और उपादान की सामर्थ्य इतनी है कि निमित्तरूप वाणी में यथातथ्य कहा जायगा उसे तुम प्रमाण मानना।

यहां तक स्वपक्ष की बात कही। अब अपने स्वभाव का मंडन और विभावरूप मिथ्यामत का खण्डन कैसे किया है सो कहते हैं :—

समस्त विपरीतपक्षवादियों—सर्वथा एकांतपक्षवादियों के विरोधी भाव का निराकरण (खण्डनपूर्वक समाधान) करने में समर्थ जो अबाधित युक्ति है उसके अवलम्बन से निज—वैभव प्रगट किया है, पक्षपातता से नहीं। जगत में धर्म के नाम पर बहुत से अभिप्राय चल रहे हैं। कोई आत्मा को कूटस्थ—नित्य कहता है कोई अनित्य ही कहता है अथवा कोई सर्वथा शुद्ध ही कहता है अर्थात् संसार, बंधन तथा मोक्ष अवस्था भी नहीं है ऐसा कहते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न—

प्रकार की है। अत एकान्त धर्म को मानने वाले मिथ्यावादी हैं। आत्मा को नित्य मानने वाले के क्षण क्षण मे बदलने वाली अवस्था ध्यान में होनी चाहिये। यदि वर्तमान अवस्था से बदलना न माने तो राग-द्वेष, बन्धनभाव दूर कर वीतराग होना न बने। और फिर कोई आत्मा को एकान्त-आनन्दस्वरूप ही माने, वर्तमान अवस्था को न माने तो उसकी भूल है, वर्तमान ससारदशामे शुभ-अशुभभावके द्वारा प्रत्यक्ष दु ख भोगता है। पुण्य-पाप के विकारीभाव आत्मा मे होते हैं, उनका कर्ता अज्ञानी जीव है, दया, दान, सेवा, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह की ममता आदि पापभाव हैं, वह अपने आप नही होते, आत्मा अज्ञानभाव से उसे अपना मानकर करता है, किन्तु वह आत्मस्वभाव नही है। आत्मस्वभाव तो स्वयं ही पुण्य-पाप का नाशक है, ज्ञानभाव से शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप चारित्र का कर्ता होने पर शुभाशुभ भावका नाश होता है। प्रथम श्रद्धा में से पुण्य-पाप का कर्तृत्व और परका स्वामित्व दूर होना चाहिये, अज्ञानभाव से पर में सुखबुद्धि और पुण्य-पाप का कर्तृत्व है तथापि यदि उसे न माने तो यह बहुत बडी भूल होगी, तथा परमार्थ से-निश्चय से पुण्य-पाप का कर्तृत्व माने तो भी वह भूल है। आत्मा का एकातस्वरूप नही है। ऐसे जो भी मिथ्यात्व हैं उनका निराकरण करने में समर्थ जो अतिनिस्तुष अबाधित युक्ति है, उससे निज-वैभव प्रगट किया है। अबाधित न्याय के बल से मिथ्यामतियो के कुतर्क का खण्डन करके सत्य का स्थापन करके निर्मल स्वभाव प्रगट किया है।

विकार का कार्य करने योग्य है, ऐसा मानने वाले विकार को नाश नही कर सकते। यदि कोई आत्मा को एकान्त शुद्ध ही माने और आत्मा अज्ञानभाव से विकार करता है, तथापि वैसा न माने तो वह विकार का नाश नही कर सकता। पुण्य बधन है, इसलिये मोक्षमार्ग मे उसका निषेध है, व्यवहार में भी उसका निषेध कर पाप-मार्ग मे यदि प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विष है, मात्र पाप से नरक-निगोद में जायगा। श्रद्धा में तो प्य-पाप दोनो हेय हैं, किन्तु वर्तमान में शुद्ध

में न रह सके तो शुभ में प्रवृत्ति करे। किन्तु अशुभ में तो प्रवृत्ति करनी ही न चाहिये। पुण्यभाव को छोड़कर पापभाव करना किसी भी तरह ठीक नहीं है। और फिर यदि कोई पुण्यभाव को ही धर्म मानले तो भी उसके धर्म नहीं होता। कोई कहता है कि हमें पुण्यभाव नहीं करना है अथवा कहता है कि यदि किसी का पुण्य होगा तो मेरी तृष्णा घटेगी ऐसे अधर्म के बहाने बनाता है, किन्तु धर्म निर्विकल्प शुद्धभाव को तो प्राप्त नहीं किया और पुण्यभाव करना नहीं चाहता तब क्या पाप में ही जाना है ? तृष्णा को कम करना तेरे परिणाम के आधीन है किसी के पुण्य के आधीन नहीं है इसलिये वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा सारा विवेक सर्वप्रथम समझना चाहिये। और फिर यदि कोई शुभभाव में ही सन्तोष मान कर रहजाय और इसप्रकार पुण्य को धर्म का साधन माने या उससे धीरे धीरे धर्म होगा माने तो उसका भी भवभ्रमण दूर नहीं होगा। धर्म का प्रारम्भ करने के इच्छुक को तीव्र आसक्ति तो कम करनी ही चाहिये। किन्तु उससे यदि ऐसा माने कि हित हो जायेगा तो यह भ्रम है। इसलिये पुण्य–पाप तो आस्रव है बंध के कारण हैं और इन दोनों से रहित जो धर्म है उसका प्रत्येक का स्वरूप जैसा है वैसा समझना चाहिये।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजवूँ तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह॥
(आत्मसिद्धि गाथा ८)

मैं अक्रिय ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप हूँ सो निश्चय है और उसमें आंशिक स्थिरता बढ़ाकर राग को दूर करना सो व्यवहार है। अशुभसे बचने के लिये शुभभाव में ममता सो भी विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, तथा परिणाम सुधारनेका प्रयत्न करना आत्मार्थीका कर्तव्य है। पुण्य–पापरूप विकार से पीछे हटकर अन्तरंग में अरूपी ज्ञान–शांति में स्थिर होना ही कर्तव्य है। जो उसे माने आचरण करे और उसे ही मानने तथा आचरण करने की अन्तरंग से भावना रखे सो भी आत्मार्थी है। आचार्य कहते हैं कि सत्य में असत्य का निषेध है सत्य के स्थापन

से मेरा वैभव प्रगट हुआ है', यथार्थ को समझने पर अयथार्थ छूट ही जायगा। जिसे सत्य समझ में आ जाय उसे असत्य क्या है यह समझमे आये विना नही रहता। सत्य मे असत्य की नास्ति है।

कोई कहता है कि हमे सच्चे और झूठे धर्म की परीक्षा नही करना है और न यह जानना है कि भूल किसे कहते हैं ? जहां से जैसा मिले वहां से वैसा ले लेना चाहिये, यों कहने वाले कोरे लालबुझक्कड़ जैसे हैं, ध्वजपुच्छ के समान हैं। वे जहां जाते हैं वहां हा जी हा करते हैं, सत्य–असत्य को न्याय से–प्रमाण से नही समझते। एक को सच्चा मानूंगा तो दूसरेके ऊपर द्वेष होगा, इसलिये सभी को समान मानना चाहिये, यह तो अविवेक और मूढता है। मानो वे यह कहते हैं कि गुड और खली, अनाज और विष्टा, सज्जन और दुर्जन सब समान है। किंतु घर मे रोटी या दाल मे थोड़ा सा फर्क पड जाता है तो झगडा कर बैठते हैं, ससार में–घर मे–अच्छे बुरे भाव का विवेक करता है और परमार्थ में विवेक नही करता तथा असत्य की सत्य में और सत्य की असत्य में खतौनी करता है, यही बहुत बडी मूढता है, समभाव नही है। सभी भगवान हैं, किन्तु वे तो शक्तिरूप से हैं, क्योंकि वर्तमान अवस्था में अन्तर है। विष और अमृत, स्त्री और पुत्री दोनो समान हैं, ऐसा मानने में विवेक कहां रहा ? पुत्री, स्त्री और माता स्त्रीत्व की अपेक्षा से समान हैं, किन्तु वर्तमान लोकव्यवहार मे समान नही हैं। जो यह नही समझता वह लौकिक व्यवहार मे भी मूर्ख कहा जाता है। इसीप्रकार लोकोत्तर आत्मधर्म में भी विवेक न रखे तो वह भी मूर्ख कहलाता है। इसलिये सत्य-असत्य को समझकर सत्य को ही स्वीकार करना चाहिये। जिससे धर्म समझना है वह स्वय धर्म प्राप्त है या नही, उसमें कौनसे अलौकिक गुण हैं, इत्यादि पहले ही जानना चाहिये।

आचार्य कहते हैं कि 'त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ के मुखसे निकली हुई वाणी में गूढ अर्थ क्या है इसे समझकर हमने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अन्तर रमणतारूप सम्यक्चारित्र प्राप्त किया है तथा उससे विरोधी मान्यता का अबाधितयुक्ति से खण्डन किया है। उसमे यथार्थ

सत् की घोषणा है, सत् की घोषणा में वीतरागता की घोषणा है। निस्तुष निर्बाधयुक्ति के बल से किसी की अन्य युक्ति न टिकने दूंगा। जो कुछ कहा जायगा उस सबमें प्रमाणता के साथ स्वीकार करने का निषेध किया है।

'सर्वज्ञ के वचनों के आश्रय का सेवन करके' इसप्रकार पहले अस्ति पक्ष से कथन है और पर में कर्तृत्व पर से लाभ-हानि मानने वाले मिथ्यामत वालोंके तथा एकांतवादियोंके कुतर्क का अखण्ड निर्बाध युक्ति से किया है इसप्रकार नास्तिपक्ष से कथन है। ऐसे ज्ञान के द्वारा जो निज-वैभव का जन्म है उस सबसे आत्मा का वर्णन करेंगे। इस प्रकार अपनी निर्मलता में आगे बढ़ने के लिये निश्चय किया है और यह कहा है कि निमित्त में जैसा कथन है वैसा ही होगा। दूसरे को पूरा न समझा सके ऐसा योग भी कदाचित् किसी के हो किन्तु यहाँ तो जगत् के महान् पुण्य को लेकर और किसी शुभयोग के द्वारा आचार्य ने अन्तरभाव के अनुसार वाणी में यथार्थ कथन किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने अपना भाव अखण्डरूप से स्थिर कर रखा है। न्याय के बल से और अनुभव से मैंने जाना है इसलिये कहीं भी स्खलन नहीं होगा।

यदि कोई कुतर्क से पुण्य के द्वारा धर्म का मनवाना चाहे तो ज्ञानी उसे सत्य नहीं मानते और कहते हैं कि विष खाने से अमृत की डकार कभी नहीं आती उसीप्रकार जिसभाव से बन्ध होता है उस भाव से कभी मोक्ष तो क्या किन्तु मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं हो सकता।

किसी ने बहुत समय तक बाह्यधर्म किया हो और वह यह कहे कि धर्म चाहे जितना किया हो किन्तु मृत्यु के समय किसी तीव्र असाता का उदय आये तो आत्मा का अहित भी हो जाता है। धर्म के फल में ऐसा होता है यह जो मानता है उसे आत्मा की श्रद्धा ही नहीं है। जिसे स्वतंत्र आत्मा की पूर्णरूप से श्रद्धा है उसका किसी काल में और किसी संयोग में भी अहित नहीं होसकता नित्य-अविनाशी आत्मा में जो जागृत है उसे तीन काल और तीन लोक में भी विघ्न नहीं

होता। स्वय पर से भिन्न है, फिर भी यदि पर से विघ्न माने तो समझना चाहिए कि उसे पृथक् स्वतत्रस्वभाव की श्रद्धा ही नही है। जगत की मूर्खता का क्या कहे! अनेकप्रकार से कल्पना करके पर से लाभ–हानि मानने वाला सदा आकुलित ही रहता है।

निज–वैभव के जन्म से वधनभाव का व्यय करके स्वाधीन मोक्षभाव की उत्पत्ति की है। यदि कोई कहता है कि आत्मा को तो जाना, ज्ञान किया किन्तु यह खबर नही है कि वधभाव दूर हुआ या नही, और मिथ्यात्व दूर हुआ या नही, तो समझना चाहिए कि उसने आत्मा को जाना ही नही है। यहाँ तो गुण की प्रगट दशा के द्वारा, सर्वज्ञ के कहे हुए भाव का अनुसरण करके, कुतर्क का खण्डन करके, मिथ्यात्वभाव का नाश करके, स्वभाव का महा ध्रौव्यत्व स्थापित किया है, इसमे बहुत से न्यायो का समावेश हुआ है।

समयसार ग्रन्थाधिराज है, इसके मत्र अतिगूढ हैं, अन्तरग वैभव की महिमा अपार है, जिसका वर्णन करते हुए गणधरदेव भी पार नही पाते। यदि कोई कहे—कि मै सुन चुका हूँ कि आत्मा पृथक् है, मैंने पुस्तक पढली, इसलिये मुझे उसका ज्ञान हो चुका है, किन्तु ऐसा नही है। निवृत्तिपूर्वक खूब श्रवण–मनन और अभ्यास करना चाहिये, तभी यह वात समझ में आ सकती है।

निज–वैभव से प्रगट होने में दूसरे कौन कौन कारण निमित्त-रूप हैं यह अब कहा जायगा।

समयसार शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग भगवान का पेट है। आचार्य-देव ने निज–वैभव से उसमें आत्मस्वभाव का वर्णन किया है। आचार्य-देव कहते हैं कि तुम अपने अन्तरग अनुभव से प्रमाण करना, क्योंकि आत्मा के अखण्ड स्वभाव की जो बात कहूँगा उसमे कोई भूल नही होगी। यह निज–वैभव कैसा है? निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा उसमें अन्तर्मग्न परमगुरु–सर्वज्ञदेव और उनपर गुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यंत उन से प्रसादरूप से प्रदत्त जो शुद्धात्मा तत्त्व का अनु-

प्रहपूर्वक उपदेश है तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है उससे उसका जन्म हुआ ।

पूर्णस्वरूप में स्थिर, अनंत स्वभाव में निमग्न (सम्पूर्णरूपसे लीन) ऐसे परमगुरु अर्थात् सर्वज्ञदेव और अपरगुरु अर्थात् गणधरदेव, से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त और यदि प्रकारांत से कहें तो त्रिकाली-ध्रुव अपना आत्मस्वभाव ही परमगुरु है ।

यह वाणी का प्रवाह कहाँ से आया है ? सर्वोत्कृष्ट गुण के स्वामी तीर्थंकर उनके निकट वासी अपरगुरु गणधरदेव जिन्होंने साक्षात् वाणी सुनी है, भेलो है, उनकी परम्परा से पूर्वाचार्यों से हमारे गुरु पर्यन्त सर्वज्ञ की वाणी का यह प्रवाह आया है । उसे कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रसादरूप में अंगीकार किया है ।

पिता की सम्पत्ति को पुत्र जबर्दस्ती छुड़ाले और पिता प्रसन्न होकर पुत्र को सम्पत्ति दे इन दोनों में अन्तर है । पिता पुत्रकी योग्यता देख कर सपंत्ति देता है । इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि महान् पवित्र सन्त जिनका राग-द्वेष बहुत कम हो गया था और जो बाह्य एवं आभ्यंतर परिग्रह से रहित निग्रन्थ मुनि थे वे मेरे गुरु हैं उनकी कृपा से प्रसन्नता से मुझे सदुपदेश प्राप्त हुआ है जिससे मेरा वैभव प्रगट हुआ है । इसप्रकार गुरु की महिमा गाई है । जैसे पुत्र पिता के माहात्म्यके लिये कहता है कि उनके प्रताप से सुखी हूँ । अन्तरंग में तो जैसा है वैसा जानता ही है किन्तु विनय से पिता की ही महिमा गाता है । इसीप्रकार यहाँ श्रीगुरु के प्रसाद से स्वानुभव हुआ है इसप्रकार विनय से कहा है । उनके आश्रय से अन्तरंग से प्राप्त हुआ कहूँगा कल्पना से गढ़कर नहीं ।

वीतराग जैसे निर्ग्रन्थ मुनि जिस शिष्य पर कृपा करके उत्तम बोध दें उस शिष्य की योग्यता कितनी होगी ? परन्तु-'हीरा मुख से ना कहे लाख हमारा मोल । आचार्यदेव लोकोत्तर विनय से कहते हैं कि जो सर्वथा नग्न आत्मध्यान में मग्न अप्रमत्त गुणस्थान की वीतराग दशा में लीन थे तथापि भव्य जीव धर्म प्राप्त करें तो अच्छा हो ऐसी

शुभवृत्ति के उठने पर उपदेश देते थे और फिर उस वृत्ति से छूटकर आत्मरमणता मे स्थिर हो जाते थे। ऐसे गुरु के पास से हमे उपदेश मिला है। ऐसा कहने से उपदेश लेनेवाले मे भी कैसी योग्यता थी यह ज्ञात हो जाता है।

आत्मा अनन्तकाल में जिस अपूर्व वस्तु को नहीं समझा उसे समझने के लिए विशेष पात्रता चाहिये। संसार व्यवहार में अनीति का त्याग, इंद्रिय के विषयों की अल्प आसक्ति, आत्मतत्व की जिज्ञासा, निरभिमानता सज्जनता, सत् को समझने का प्रेम इत्यादि सर्वप्रथम चाहिये। चौरासी लाखके बंधका दुःख, संसारकी अशरणता, पराश्रयता का दुःख इत्यादि का विचार करके परम सत्य की ओर अन्तरंग में तीव्र जिज्ञासा हो उसके पात्रता प्रगट होती है।

यद्यपि अपने से पूर्ण पात्रता थी, किन्तु उसे न दिखाते हुए आचार्य कहते हैं कि हमारे गुरु ने शुद्ध आत्मतत्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश दिया था, वही मैं कहता हूँ। इसप्रकार वे अपने गुरु का बहुमान करते हैं और कहते हैं कि हमारी तरह जो कोई योग्य जीव समझकर उनका बहुमान करेगा वह मुझ जैसा अवश्य हो जायगा। अब मेरे चौरासी का अवतार नही रहा और भव का भाव भी नही रहा। इसीप्रकार सत्य को समझानेवाले का भव भ्रमण दूर हो जायगा।

जो भव से थक गया हो और जिसे यह समझने की जिज्ञासा जागृत हुई हो कि आत्मा कैसा है उसे सच्चे गुरु अवश्य मिल जाते हैं।

यहाँ गुरु ने यथार्थ योग्यता देखकर शुद्ध आत्मतत्व का उपदेश दिया है कि आत्मा परमानन्दस्वरूप, निर्मल ज्ञाता–दृष्टा है, पुण्य–पाप की वृत्ति से रहित है, पर भिन्न है, परका कर्ता–भोक्ता नही है। किसी दूसरी बात को न कहकर आत्मा पूर्ण है, शुद्ध–ज्ञायक है, ऐसे स्वभाव का उपदेश दिया है।

ऊपर तीन बातें कही हैं (१) कृपा (२) शुद्धआत्मतत्त्व, और (३) उसका अनुग्रह पूर्वक उपदेश। अनुग्रह–हमारी योग्यता के अनुसार जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा समझकर उसे पुष्ट किया है। अमुक बात

का न्याय इससे कैसे पकड़ में आये, अपूर्व तत्त्वस्वभाव की प्राप्ति कैसे हो उसकी अस्ति–नास्ति के द्वारा स्पष्टता करके आत्मनिरोगता का सीधा उपाय बताया है ऐसी समझ पूर्वक श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्य ने गुरु का उपकार गाया है यह उनकी कितनी विनय है। स्वयं समझते हुए भी श्रीगुरु की कृपा की महिमा को गाते हैं। वास्तव में तो कोई किसी पर कृपा नहीं कर सकता, क्योंकि किसी का भाव दूसरे को लाभरूप नहीं है फिर भी यह कथन व्यवहार से किया है। बाहर से गुरु की महिमा गाई है और अन्तरंग से अपने रुचिकर गुण की महिमा गाई है। यह अपनी श्रद्धा की दृढ़ता के लिये है।

यहाँ आचार्यदेवने अन्तरंगभाव को स्पष्ट व्यक्त किया है जिससे आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में वह सीधा उतर जाय। अर्थात् गहराई से अनुभव में आजाय।

जैसे किसी पात्र जीव को साक्षात् सम्यग्दर्शन हो जाय इस प्रकार का सीधा उपदेश गुरु दे रहे हों वहाँ कोई बीच में ही थोड़ा बहुत असंबद्धरूप में सुनले इसप्रकार यों ही, अथवा अविनय से यह उपदेश ग्रहण नहीं किया है अर्थात् किसी के कानोंकान सुनी हुई बात नहीं है किन्तु यह तो सीधा उपदेश ग्रहण किया है।

जिस जमीन में क्षार हो उसमें अनाज बोया जाय तो उत्पन्न नहीं होता किन्तु उसके लिए उत्तम भूमि चाहिए, उसी प्रकार निर्मल तत्त्व का स्पष्ट उपदेश ग्रहण करने के लिये उत्तम पात्रता चाहिए। ऐसी पात्रता देखकर मेरे गुरु ने मुझे उपदेश दिया उनके कहे हुए यथार्थ भाव के श्रवण–मनन द्वारा धारण करने से उनकी आज्ञा को पूर्ण विनय के द्वारा सेवन करने से मुझमें शुद्ध–पवित्र आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्रगट हुआ है।

कैसा है वह निज वैभव ? जो निरन्तर झरने वाला–आस्वाद में आनेवाला सुन्दर आनन्द मन के संकल्प–विकल्प से परे अतीन्द्रिय आनन्द है उसके प्रभाव से युक्त जो प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन है उससे जिसका जन्म हुआ है। इसमें भी कुन्दकुन्दाचार्य देव अपनी

वर्तमान स्थिति की बात कहते हैं। जैसे पर्वत मे से झरना झरता रहता है उसीप्रकार अन्तरग में तीन कषाय नष्ट कर आत्मा की शाति और समृद्धि की जमावट हुई है, उसमे से निरन्तर स्वरूप लीनता का आनन्द झरता रहता है। ससार में सुख मानकर जीव आकुलता का अनुभव करता है, उस ओर से लक्ष बदलकर स्वभाव की प्रतीति के द्वारा अन्तरग में स्थिर होकर आनन्दकी विपरीतदशा को निकाल देनेसे तो अकेला ज्ञानानन्द रस रह जाता है। धारावाही शाति का-अनाकुल आनन्द का स्वय स्वाद लिया है और फिर उपदेश की वृत्ति आई है तब यह शास्त्र रचा गया है।

जगत् के जीव विकार मे ही सतोष मानकर आकुलता का स्वाद लेते हैं, किन्तु जडका अर्थात् पर का स्वाद नही लिया जा सकता। ससार के कल्पित आनन्द से सर्वथा भिन्न जाति का आनन्द, आत्मा का अतीन्द्रिय-निराकुल आनन्द निरन्तर स्वाद मे आये यही आत्मानन्द के अनुभव की छाप है, यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। अपनी मानी हुई श्रद्धा से और गुरुज्ञान के आश्रय के बिना कोई ऐसा मान बैठे कि मुझे आत्मा का आनन्द प्रगट हुआ है तो यह बात मिथ्या है। सर्वज्ञदेव से चली आई हुई परम्परा को रखकर अपने अनुभव-आनन्द की छाप यहाँ प्रगट की है। आत्मा के अनुभव के बिना मात्र शुभभाव पैदा हो उसे आत्मा का आनन्द नही कहा जा सकता। यह तो निर्ग्रन्थ मुनि हैं इसलिये विशेष स्थिरता में आकर कहते हैं कि हमें प्रचुर सवेदन प्रगट होता है। चौथी भूमिका मे गृहस्थदशा मे सम्यग्दृष्टि को आत्मा का आनन्द होता है, किन्तु विशेष नही होता। छट्ठे-सातवें गुणस्थान मे झूलने वाले मुनि को भी केवल-ज्ञानी के समान पूर्णआनन्द नही होता, पूर्णआनन्द तो केवलज्ञानी को ही होता है। मुनिके मध्यमदशा का उत्तम आनन्द रहता है, किन्तु वह चौथी पाचवी भूमिका की अपेक्षा बहुत अधिक है, उसका वे अनु-भव स्वरूप उपयोग करते रहते हैं।

कोई बडा अपमान हुआ हो, सम्पत्ति के नष्ट होने का दु ख हो,

पुत्र–पुत्री अनुकूल न हों, घर में स्त्री के साथ विरोध हो तो प्रचुर आकुलता का अनुभव होता है। यदि ऐसा जाय तो जड़ के संयोग वियोग से आकुलता नहीं होती, किन्तु अपने अज्ञान से होती है। उसका अनुभव आत्मा के अनाकुल सुख का विकार है। उससे विरुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और संवर्मनिता से आत्मा में प्रचुर आनन्द साक्षात् अनुभव में आता है।

शास्त्र में कथन आता है कि जिसका यथाजात दिगम्बर–अनगार स्वरूप में जन्म हुआ है ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने पंचमकाल में अमृतवर्षा करके सनातन जैन शासन को जीवित रखा है।

किसी के पास अधिक सम्पत्ति हो तो जगत कहता है कि इसको इतनी सारी लक्ष्मी की प्राप्ति कहां से हुई? तो कहा जाता है कि पहले नींव खोदते समय पांच करोड़ रुपये निकले थे पांच करोड़ व्यापार धन्धे में से और पांच करोड़ उसके काका के उत्तराधिकार से प्राप्त हुए हैं और कुछ अपनी पूंजी थी। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी आत्मरिद्धि प्रगट होने में चार कारण हैं —

(१) सर्वज्ञस्वरूप परमागम की सेवा।

(२) कुनय और कुमत की खण्डन करनेवाली निर्बाध–प्रमाण युक्ति।

(३) सर्वज्ञ भगवानसे अनुगत परम्परा से गुरु का उपदेश।

(४) स्वानुभव।

उपरोक्त चार कारणों के द्वारा निज–वैभव प्रगट हुआ है। उन सबसे मैंने आत्मा को बतलाने का प्रयत्न किया है।

मैं दर्शाता हूं तथा मैं दर्शाऊं और तुम उसे प्रमाण मानना यों कहकर कहनेवाले और सुननेवाले के भाव का ऐक्य बताया है। मैं अविरुद्ध निश्चय से कहूंगा तुम यदि वैसा ही समझोगे तो भूल नहीं होगी। आपका तर्क और वाद विवाद से सम्य नहीं आ सकता। तुम स्वयं प्रत्यक्ष स्वानुभव से परीक्षा करके प्रमाण करना (निर्णय करना) अन्तरंग तत्व में बाहर की परीक्षा कार्यकारी नहीं होता। स्वयं तो गुरु

तत्त्व को अनुभव करके कहा है, किन्तु सुननेवालेके ऊपर इतना उत्तरदायित्व रख दिया है कि तुम स्वयं ही अनुभव करके निर्णय करना। आत्मा, मन और इन्द्रियो से अगोचर है, इसलिये अपने अन्तरग ज्ञान-स्वभाव से जो उसे जानने का प्रयत्न करेगा उमे वह मेरी तरह प्रत्यक्ष अवश्य होगा।

जिसका अहोभाग्य हो उसे यह तत्व सुनने को प्राप्त होता है और अपूर्व पात्रता से आत्मपुरुषार्थ करे तो परमार्थ की प्राप्ति होती है। निज को समझे बिना अनन्तवार साक्षात् तीर्थंकरके पास होआया, वहाँ तीर्थंकर के शरीर को देखा, किन्तु अपना लक्ष नही किया। तीर्थंकरदेव जैसा उत्कृष्ट निमित्त जगत मे दूसरा कोई नही है। वहाँ भी स्वभाव को अस्वीकार करनेवाले और विपरीतता का सेवन करनेवाले थे तथा अनन्तकालतक वैसे लोग रहेगे। विपरीतता मे भी सब स्वतत्र हैं, इसलिये कौन किसे तार सकता है।

दुनिया तो जैसी है वैसी रहेगी। निज को समझने के बाद दुनिया की झझट क्यो रखनी चाहिये ? लोग क्या मानते हैं और क्या कहते हैं, इस पर दृष्टि नही रखना चाहिये, किन्तु सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं, इसकी आतरिक परीक्षा करना चाहिये। यदि परमार्थ को न समझे और मात्र बाह्यप्रवृत्ति में रुका रहे तो उससे जन्म–मरण कभी भी दूर नही होगा। कदाचित् मन्दकषाय करे तो पुण्य बाधकर स्वर्ग में जाये, परन्तु आत्मा पर से भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धा के बिना मोक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ नही होता। जीव ने पापभाव की अपेक्षा पुण्यभाव तो अनन्तबार किये हैं, किन्तु यहाँ तो धर्म की बात है। 'पुण्य से धीरे धीरे धर्म होगा, पर के अवलम्बन से आत्मगुण प्रगट होगा' इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यताऐं अनादि से चली आरही हैं। निमित्ताधीन दृष्टि से ससार में भवभ्रमण हो रहा है, पुण्य, पाप और राग का अश मात्र मेरे स्वरूप में नही है, मैं एक ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा समझे बिना चौरासी के अवतार का एक भव भी कम नही

होगा । यदि भव कम न हो तो मनुष्यभव प्राप्त करने का फल क्या है ?

जो लौकिक नीति का पालन करता है उसका निषेध नहीं किया जाता, किन्तु ऐसी व्यवहारपालना बाह्य आचरण में गिनी जाती है । अब अन्तरमुख दृष्टि करके सत् समागम से आत्मा का अनुभव करने की आवश्यकता है उसके बिना जीव ने अनन्तकाल में अन्य सब कुछ किया है किन्तु वे सब साधन अ-धर्म ही हुये ।

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
बनवास लियो मुखमौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥
मन पौन निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सु तार भयो ।
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे,
उरसेंहि उदासि लही सबपे ॥
सब शास्त्रन के नयधार हिये,
मतमंडन खंडन भेद लिये ।
वह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ अभी न परयो ॥ (श्रीमद् राजचंद्र)

पंचमहाव्रत का अनन्तबार पालन किया और आहारादि के समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये । जैसे—मोती नाम की बाई हो मोतीवाली साड़ी को साड़ी पहिने हो और वह आहार को प्रार्थना करे तो ही आहार ग्रहण करूँ ऐसा कठिन अभिग्रह (वृत्ति परिसंख्यान तप) भी अनन्तबार किया संयम पालन किया इन्द्रिय दमन किया त्याग वैराग्य भी बहुत लिया किन्तु अविकारी आत्मा की प्रतीति नहीं हुई । आत्मा को भूलकर मौन रहा और छह मास तक

के उपवास भी किये, ऐसे साधन अनन्तवार करने पर भी आत्मस्वभाव प्रगट नही हुआ।

"अब क्यों न विचारत है मन सें,
कछु और रहा उन साधन सें ?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे,
मुख आगे है कह बात कहें ?"

तीन काल के ज्ञानियो का यही कहना है कि तुम त्रिकाल ज्ञायक स्वतत्र हो, परमात्मा के सदृश हो और वैसे ही बनो। अनत-कालमे निजको नही पहचान सका, इसीलिये जगतमें परिभ्रमण करना पड़ा है। नही समझनेवाले, ज्ञानी के सामने विरोध की पुकार किया करते हैं, किन्तु ज्ञानी तो जगत के सामने सत्य की घोषणा करके मात्र आत्महित करके चले गये, ज्ञानी का विरोध अज्ञानी न करे तो कौन करेगा ? अज्ञानी कहता है कि हमारी मानी हुई सभी बातोका खण्डन करते हो तो क्या यह द्वेष नही है ? ज्ञानी कहता है कि सत्यका स्थापन करने में असत्य का निषेध सहज ही ज्ञात हो जाता है, उसमे द्वेष नही किन्तु सच्ची दया है। तुम न समझो तो भी प्रभु हो, सत्य का विरोध करनेवाले भी सब प्रभु हैं। यह जब समझ लेगा तब ज्ञात हो जायगा कि सारी विपरीतता क्षणभर में दूर करने मे समर्थ है। ज्ञानी किसी व्यक्ति का निषेध नही करता, किन्तु विपरीत मान्यता का निषेध करता है। उसके मन मे जगत के समस्त प्राणियो पर करुणा है। वे जानते हैं कि जिसकी दृष्टि मिथ्याग्रह पर है, यदि वह स्वय समझे तो ही सुध-रेगा, इसलिये वे कहते हैं कि 'तेरी शुद्धता तो बडी है, किन्तु तेरी अशुद्धता भी बडी है' साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी तुझे न समझा सके। तेरी पात्रता के बिना तुझे कोई सुधार नही सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तो पूर्ण गुण को लक्ष में रखकर जो अल्पप्रशस्त रागादिरूप दोष है उसे जानते हैं, इसलिये उस दोष को दूर कर सकेंगे, किन्तु तुम पर का दोष देखने के लिये मत रुकना, मात्र गुण पर ही दृष्टि रखना, फिर ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा।

ज्ञानी जानता है कि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से थोड़ी अस्थिरता हो जाती है किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये अल्प-काल में पुरुषार्थ की प्रबलता करके समस्त दोष को दूर कर देगा।

जिसे सम्यग्दर्शन की प्रतीति नहीं है उसकी मुक्ति नहीं है। प्राय ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन हो किन्तु चारित्र न हो। श्रणिक राजा जैसे एकावतारी और भरतचक्रवर्ती जैसे उसी भवसे मोक्ष जाने वाले गृहस्थदशा में अनन्त जीव हो गये। सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है।

भरत चक्रवर्ती के ९६००० स्त्रियां थीं किन्तु उन्हें आत्म प्रतीति थी इसलिये उनने पर में कहीं स्वामित्व नहीं होने दिया। उस श्रद्धा के बल से उनने उसी भव में अन्तर्मुहूर्त में चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त किया। श्रेणिकराजा के एक भी व्रत नहीं था फिर भी सतत आत्मप्रतीति में रहे थे तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया था। वे ८४०० वर्ष की आयु बांधकर प्रथम नरक में गये हैं। वहां काल पूरा करके इस भरतक्षेत्र में जन्म लेकर प्रथम तीर्थंकर होंगे जगत् का उद्धारक और त्रिजगतसे वंद्य-पूज्य होंगे। इन्द्र उनके चरणों की सेवा करेंगे। सम्यग्दर्शन के बिना ऐसा पुण्य नहीं बंधता।

सत्य का उपदेश सुनते ही जहां समझपूर्वक अन्तरंग में पूर्ण सत्य का स्वीकार हुआ वहां फिर अल्पकाल में पूर्ण चारित्र प्रगट हुए बिना नहीं रहता। पूर्ण होने से पहले पूर्ण की समझ के द्वारा पूर्णको ही देखता है इसलिये अनन्त राग दूर हो गया फिर जो अल्पराग रहा उसका नाश अवश्य होगा।

इस काल में सम्यक् समझ बहुत दुर्लभ है। प्रभु! तुझे अपूर्व समझ का अमूल्य समय मिला है इसमें यदि चूक गया तो फिर अनन्त काल में मनुष्यभव और ऐसा योग मिलना कठिन है। अनन्तबार धर्म के नाम पर कदाग्रह में बाह्य साधनों में भटका रहा अब परम-सत्य क्या है इसकी चिंता नहीं की तो फिर अनन्तकाल में भी ठिकाने नहीं लगेगा इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि सत्य क्या है यह स्वयं

अन्तरग अनुभव से निश्चय कर। अनुभव की मुख्यता से शुद्धस्वरूपका निर्णय कर, बाहर के तर्क–वितर्क का काम नही है। इसके लिये दृष्टात देते है।

एक आदमी बाजार से कपडेका एक थान लाया। उसके ९ वर्षीय पुत्र ने उससे पूछा कि यह थान कितने हाथ का है ? पिता ने जवाब दिया कि यह पचास हाथ का है। लड़के ने अपनी हाथ से नापकर कहा कि यह थान तो ७५ हाथ का है, इसलिये आप की बात असत्य है। तब पिता ने कहा कि हमारे लेनदेन मे तेरे हाथ का माप नही चलता। तब लड़का, कहता है कि क्या मै मनुष्य नही हूँ ? मेरा हाथ क्यो नही चलता जैसे व्यवहार के माप मे बालक का हाथ नही चलता, उसीप्रकार बाह्यदृष्टिवाले बाल–अज्ञानी की बुद्धि में से उत्पन्न कुयुक्ति अतीन्द्रिय आत्मभाव को नापने मे काम नही आती। धर्मात्मा का हृदय अज्ञानी से नही मापा जा सकता, इसलिये ज्ञानी को पहचानने के लिये पहले उस मार्ग का परिचय करो, रुचि बढ़ाओ, विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्राप्त करो। सत की परीक्षा होने से सत् का आदर होता है और तब ही धर्मात्मा का उपकार समझा जा सकता है, अपने गुण का बहुमान होता है और वर्तमान में ही अपूर्व शाति प्रगट होती है।

अब जिसे समझने की उमग जागृत हुई है ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है, जिसका स्वरूप जानना चाहिये ? अनतानन्त काल से आत्मा के शुद्धस्वभाव की बातको न तो सुना है, न रुचि की है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। इसलिये शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा का शुद्धस्वभाव कैसा है ?

पाच गाथा पर्यन्त एकत्व–विभक्त आत्मा की महिमा सुनकर स्वय ही तैयार हुआ शिष्य जिज्ञासा से पूछता है, कहीं बलात् रुचि उत्पन्न नही हुई है। जैसे किसी को प्यास लगी है, पानी पीने की इच्छा हुई है और पास मे कही पानी दिखाई नही देता, किन्तु जब पानी का चिह्न मालूम हो जाता है तब उसकी कैसी आतुरता बढ़ जाती है, फिर

पानी पीकर कितना तृप्त होता है ? उसीप्रकार जिसे आत्मा को जानने की उत्कण्ठा हुई है वह आत्मा की बात सुनकर कितना आनंदित होता है और बाद में सम्यक्–पुरुषार्थ करके आत्मस्वरूप प्राप्त करके कितना तृप्त होता है। जिसे शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की तीव्र इच्छा हुई है उसी को सुनाया जाता है।

जिसकी आवश्यकता मालूम होती है उसकी तरफ आत्मा का वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। अनादिसे शरीर और इन्द्रियों पर दृष्टि है और उनके प्रति प्रेम है तथा ऐसा विपरीत विश्वास रखता है कि अमुक आहार मिलेगा तो शरीर टिक सकेगा इसीलिये अनादिकाल से देह को ममता से पोषता रहता है।

जो बड़ा हीरा शाण पर चढ़ता है वह तो बहुमूल्य है ही किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसके भी सैकड़ों रुपये पैदा होते हैं इसी प्रकार वस्तु का सत्यस्वरूप सुनने से जो वस्तुस्वरूप को ग्रहण कर लेता है उसका तो कहना ही क्या है ? वह तो अमूल्य हीरे को प्राप्त कर लेता है, किन्तु सत्यस्वरूप सुनने से जो शुभभाव होता है उस कारण से भी उच्च–पुण्य बँधता है।

यदि सहजात्मस्वरूप आत्मा को जाने तो परमानन्दस्वरूप मुक्तदशा अवश्य प्रगट हो जाती है। जिसे तत्त्व की रुचि हुई है उसे गुरु उत्तर दें और वह न समझे यह नहीं हो सकता। इस छट्ठी गाथा में तो छट्ठी का लेख है वह कभी बदल नहीं सकता। जैसे छट्ठीका लिखा लेख नहीं टलता। उसीप्रकार इस अध्यात्म छट्ठीके अंतरंग लेख का भाव जो समझता है उसका मोक्षभाव अन्यथा नहीं होता उसकी मुक्ति हुये बिना नहीं रहती।

अब शिष्य के प्रश्न के उत्तररूप में गाथासूत्र कहते हैं —

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नही और प्रमत्त भी नही है, इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है, और फिर जो ज्ञायकरूप से बताया है, सो तो वह वही है, दूसरा कोई नहीं है ।

इस गाथा से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है । पाचवी गाथामें कहा है कि निज–वैभव से कहेगे, इसलिये छट्ठी गाथा में अपनी भूमिका को दर्शाकर कहा है कि जो सातवी–छट्ठी भूमिका मे रहता है वह मैं नही हूँ । इसप्रकार मुनि अपनी बात कर रहे हैं कि मै तो एक हूँ तब फिर अवस्था मे अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भेद क्यो ? वह दो प्रकार मैं नही हूँ । अपनी बात करके जगत को कहता है कि जो ज्ञायकभाव है सो न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है । आचार्य की दृष्टि मात्र ज्ञायक द्रव्य पर है । मैं अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध हूँ, अवस्था के भेद से रहित सामान्य एकरूप ऐसा जो ज्ञायकरूप में ज्ञात हुआ हूँ, वही हूँ, दूसरा नही । उसमें फिर यह अप्रमत्त–प्रमत्त का भेद कैसा ? आचार्यदेव अपनी वर्तमान अवस्था का निषेध करते हैं और कहते हैं कि यह जो अप्रमत्त–प्रमत्तका भेद है, वह मैं नही हूँ, मैं तो अखण्ड एक ज्ञायक भाव हूँ ।

आचार्यदेव ने सकषायी–अकषायी, सयोगी–अयोगी इत्यादि भेद गाथा में नही कहे, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि वे प्रमत्त–अप्रमत्त दशा में झूल रहे हैं और उसका निषेध करते हैं । अप्रमत्त या प्रमत्त मैं नहीं हूँ, ऐसी भाषा उनकी वर्तमान मुनिदशा में से आई है । उनके दो पर्यायें हो रही हैं, उन दो पर्यायो में अखण्ड ज्ञायक का बल उनके वर्त रहा है इसलिये अपने आत्मा के अन्तर अनुभव में से अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नही ऐसी भाषा आई है । आचार्य का ऊँची ऊँची पर्याय पर लक्ष है इसलिये भाषा में पहले 'प्रमत्त' न आकर 'अप्रमत्त' आया है ।

। आत्माके गुण की चौदह भूमिकायें हैं अर्थात् चौदह गुणस्थान हैं उनमें से चौथे गुणस्थान में अपूर्व आत्मसाक्षात्कार निर्विकल्प अनुभव होता है। वहाँ यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। बाद में आंशिक स्थिरता बढ़े तो पाँचवाँ गुणस्थान होता है। अन्तरंगज्ञान में विशेष स्थिर होकर कषाय की तीन चौकड़ी का अभाव करके निर्विकल्प ध्यानदशा प्रगट होती है उसे अप्रमत्त नामक सातवाँ गुणस्थान कहा है बाद में सविकल्पदशा आती है उसे छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं। मुनि इन दो दशाओं के बीच में बारंबार झूला करते हैं।

निर्विकल्पदशा में यदि विशेष समय रहे तो मुनि अन्तमु हूर्त में केवलज्ञान प्राप्त करता है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक हजारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान बदलता रहता है। तीनों कालमें मुनिदशा ऐसी ही होती है। वह मुनिदशा बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह से रहित होती है आत्मज्ञान सहित नग्न दिगंबरत्व होता है सातवें गुणस्थान में बुद्धि पूर्वक विकल्प छूट जाते हैं और आत्मस्वरूप की स्थिरता में बिल्कुल निर्विकल्प आनन्द में लीन हो जाता है वहाँ पल पल में साक्षात् सिद्ध परमात्मा जैसा आनन्द अंशरूप से अनुभव में आता है। मैं आत्मा हूँ, शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं होता मात्र स्वसंवेदन (स्व का अनुभव) होता है ऐसी स्थिति-साधकदशा भगवान कुन्द कुन्दाचार्यदेव के थी। वे क्षण में प्रमत्त और क्षण में अप्रमत्तदशा में झूलते रहते थे।

आचार्य के केवलज्ञान प्रगट होने में संज्वलन कषाय का अंश जीतने को शेष रहा है। क्षण में छट्ठी भूमिका में आने पर आत्मस्वभाव की बात करते हैं और क्षण में उस शुभ विकल्प को तोड़कर सातवें गुणस्थान में मात्र अतीन्द्रिय आत्मानंद में स्थिर हो जाते हैं। ऐसी वह उत्कृष्ट साधक दशा है। उस निज-वैभव से वे आत्मा का वास्तविक स्वरूप जगत को बतलाते हैं कि वह ज्ञायक नित्य एकरूप चैतन्यज्योति है वह वर्तमान क्षणिक अवस्था के किसी भेदरूप नहीं है किन्तु केवल

ज्ञायकरूप से शुद्ध है, अखण्ड एकाकार ज्ञायकस्वभाव में अप्रमत्त–प्रमत्त का भेद परमार्थ से नही है।

आत्मा और जड दोनो पदार्थ सर्वथा भिन्न है। दोनोमें प्रत्येक क्षण मे अपनी अपनी अवस्था स्वतत्ररूप से होती है। आत्मा जड से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जाने विना स्वरूप की रुचि नही होती, रुचि के विना श्रद्धा, श्रद्धा के विना स्थिरता और स्थिरता के विना मुक्ति नही होती, आत्मा मे एक समय की होनेवाली कर्मबधरूपी विकारी–क्षणिक अवस्था को ध्यान में न लेकर अकेले ज्ञायक–ध्रुवस्वभाव को लक्ष मे लेकर उसमे स्थिर हुआ सो तो ज्ञाता ही है। स्वभाव से आत्मा निर्विकारी, आनन्दघन, सच्चिदानन्द–स्वरूप, ज्ञाता–दृष्टा, स्वावलम्बी और स्वतत्र है। ऐसी आत्मा की ओर की जो दृष्टि है सो सम्यग्दर्शन है और उस भाव मे स्थिरता का होना सो सम्यक्चारित्र है।

जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से श्वेत, स्वच्छ और निर्मल है, किन्तु काले, लाल, पीले पात्र के सयोग से वर्तमान अवस्था में काले, लाल, पीले रग को झाई उसमे दिखाई देती है, वह वैसा हो नही जाता। स्फटिकमणि का सपूर्ण स्वभाव तो सफेद ही है। इसीप्रकार आत्मा अरूपी, ज्ञानानदघन ही है। आत्मा मे क्षणवर्ती–विकारीभाव दिखाई देते हैं, उस ओर यदि दृष्टि न की जाय तो आत्मा अबन्ध, निर्विकारी, निर्मल, आनदरूप, चैतन्यज्योति है। वर्तमान अवस्था मे पुण्य–पाप के क्षणिक विकार और मति–श्रुतज्ञान की अवस्था रहती है, जो उसके भेद से रहित, विकल्परहित, एकाकार, अकेला, ज्ञायक, ध्रुवरूप से वर्तमान में पूर्ण ज्ञात हुआ, सो वह ज्ञाता ही है। ऐसे पर–निमित्तके भेदरहित, उपाधिरहित, एकाकार, ज्ञायक, सामान्य ध्रुवरूपसे आत्माको जानना सो ही सम्यग्दृष्टि या परमार्थदृष्टि है। यही मोक्षकी प्रथमसीढी है।

जो अनादि–अनन्त त्रिकालस्थिर रहे सो वस्तु है। भूत, भविष्य की अवस्थारूप होने की जो शक्ति है सो गुण है। और वर्तमान प्रगट अवस्था पर्याय है।

वर्तमानमें रहनेवाले द्रव्यमे ही त्रिकाल स्थिर होने की सामर्थ्य है। वर्तमान एक समय में त्रिकाल रहनेरूप जो एकरूप सामर्थ्य है सो

द्रव्य है। प्रखण्ड-ज्ञायक कहने से त्रिकाली एकरूप द्रव्यस्वभाव बताया है। समय समय रहकर त्रिकाल होता है इसप्रकार त्रिकाल से ज्ञायक को लक्ष में लेना हो सो बात नहीं है, किन्तु यह समझना चाहिये कि वर्तमान में ही अनन्य अनंतशक्ति की सामर्थ्य से पूर्ण है। अर्थात् जो वर्तमान में है; वही त्रिकाल है। वर्तमान में मैं अखण्ड-पूर्ण हूँ ऐसी जो दृष्टि है सो द्रव्यदृष्टि है और वही सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु वर्तमानरूप से वर्त रही है-रह रही है। उस प्रवर्तमान द्रव्य में वर्तमानमें जो प्रगट अवस्था है सो पर्याय है और शेष अवस्थाएँ जो होनी हैं और जो हो गई हैं उसकी वर्तमान शक्ति समस्त गुण ध्रुव नित्य है। वर्तमान प्रगट अवस्था के अतिरिक्त जो सामर्थ्य शक्ति है सो ध्रुव है। व्यय प्रभावरूप पर्याय है और उत्पाद सद्भावरूप पर्याय है। उस व्यय और उत्पाद के भंग से रहित वर्तमान में समस्त सामर्थ्यशक्ति गुण और द्रव्य है। अवस्था के अतिरिक्त जो त्रिकाल रहनेरूप सामान्यभाव है उसे यहाँ द्रव्य कहा है। वर्तमान विकारी अवस्था को गौणकर जिस त्रिकाल सामान्य स्वभावस्वरूप में हूँ सो ज्ञायकभाव है।

वर्तमान में ही द्रव्यस्वभाव ध्रुवरूप से अखण्ड-पूर्ण है उसमें भूत और भविष्य पर्याय की शक्ति विद्यमान है। वर्तमान में जो प्रगट अवस्था है वह भंग और भेदरूप है उस भंगरूप अवस्था के अतिरिक्त जो हर समय में वर्तनेवाली सामर्थ्य है वह गुणरूप है अथवा द्रव्यरूप है। अवस्था को लक्ष में न लेकर, मैं आत्मा पूर्ण निर्मल पवित्र वर्तमान में ही हूँ। इस दृष्टि के होने पर पर्याय भी निर्मल हो जाती है। इस दृष्टि के प्रगट होने में अनन्त पुरुषार्थ है और उसके होने पर दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव होता है। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने के बाद भी आगे की पर्याय इस द्रव्यदृष्टि के बल से ही प्रगट होती है। पूर्ण ज्ञायक निरपेक्ष स्वतंत्ररूप से जो सदा एकरूप है उसे श्रद्धामें लेना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की अवस्था इसीप्रकार संयमी-असंयमी सवेदी-अवेदी, सकषायी-अकषायी, सयोगी-

अयोगी ऐसे दो दो भेद हो जाते हैं, जो कि पर–निमित्त की अपेक्षा से होते हैं। वे आत्माके अखण्डस्वभाव मे नही हैं इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अखण्डस्वभाव को दृष्टि में लेकर भेदो का भी अस्वीकार करता है।

ध्यान रहे कि यह अलौकिक वस्तु है। अनन्तकाल से स्वभाव की बात समझ में नही आई, इसलिये वस्तु की परम गम्भीर महिमा को लाकर उसे लक्ष मे रखकर समझना चाहिये। वस्तु की श्रद्धा के बिना सम्यग्ज्ञान और चारित्र नही हो सकता। 'यह बात कठिन है इसलिये समझ मे नही आती' ऐसा नही मानना चाहिये। अनादि का अनभ्यास है इसलिये समझना कठिन मालूम होता है किन्तु वह स्व-विषय है इसलिए समझ मे आ ही जाता है।

कंकण की अवस्था मे सोना ककणके आकार में स्थूलदृष्टि से दिखाई देता है, किन्तु उसमे रहनेवाले अनन्त परमाणु प्रतिसमय अपनी अवस्था बदलते हैं और सोना सामान्य–एकरूप ध्रुव बना रहता है, इसप्रकार सूक्ष्मदृष्टि से दिखाई देता है। उसीप्रकार आत्मद्रव्य एक-रूप ज्ञायकपने से वर्तमान में पूर्ण है, उस ध्रुवस्वभाव की जो दृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है।

आत्मा को अभेद गुणदृष्टि के द्वारा जानने पर वर्तमान पर्याय गौण हो जाती है, भेदरूप लक्ष भूल जाता है। वहाँ वर्तमान पर्याय नही है ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु वह है और उसे गौण करके सपूर्ण द्रव्यस्वभाव को लक्ष में लेना सो सम्यग्दृष्टि है।

किसी मनुष्य ने बालक को छोटी अवस्था मे देखा हो, फिर बारह वर्ष की आयु में उसे देखे तो कहता है कि यह तो एकदम बडा हो गया है, किन्तु वह एकदम बडा नही हुआ है, लेकिन जन्म से प्रति-क्षण बढता बढता बडा हुआ है। प्रत्येक समय मे बदलती हुई अवस्था में रहनेवाला वही पुरुष है। वर्तमान, भूत, भविष्य की अवस्था के भेद से न जानकर उस पुरुष को वर्तमान में ही अखण्डरूप से जानना सो वास्तविक स्वरूप को जानना कहलाता है।

प्रश्न—ऐसी अखण्ड वस्तु ध्यान में न आये तो क्या होता है ?

उत्तर—जैसे एक मनुष्य सौ वर्ष का है उसे ५० वर्ष का कहें अथवा बीचके एक क्षण को निकाल दें तो अखण्डके दो टुकड़े हो जायेंगे और इसप्रकार मनुष्य का संपूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। यदि उस मनुष्य का सारा स्वरूप जानना हो तो सौ के सौ वर्ष लक्ष में लेना चाहिये, बीच में कोई समयभेद नहीं लेना चाहिये।

जैसे एक पुरुष एक वर्ष धनिक अवस्था में था फिर दो वर्ष निर्धन अवस्था में हो और फिर पीछे सधनता को प्राप्त होता है। इन सब अवस्थाओं में रहनेवाले पुरुष को अखण्डरूप से नहीं मानकर वर्तमान निर्धन दशा जितना ही माने तो कहना होगा कि उस पुरुष को सच्ची पहिचान नहीं की। *इसीप्रकार आत्मा त्रिकाली सर्व अवस्था का* पूर्ण पिंड होने से वर्तमान अवस्था में भी त्रिकाली जितना ही पूर्ण है। है इतना ही न मानकर वर्तमान अवस्था जितना ही माने तो कहना होगा कि उसने उसका सच्चा स्वरूप ही नहीं जाना।

जो अनादि—अनन्त आत्मा को एकरूप अखण्ड अभेद ज्ञायकरूप में जानता है वही उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। आत्मा का अखण्ड स्वरूप जिसके ध्यान में नहीं है उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनादि—अनन्त कहने से काल पर लक्ष न देकर अनंत गुण का अखण्ड पिण्डस्वरूप है त्रिकाल रहनेवाला वर्तमान में पूर्ण अविकल्प ध्रुव है तीनों काल की अनन्तशक्ति वर्तमान में अभेदरूप में भरी हुई है ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

एक समय में एक वस्तु की दो अवस्थायें नहीं होतीं। सोना जिस समय कुण्डल अवस्था में होता है उस समय दूसरी अवस्था नहीं होती और जब कड़े की अवस्था होती है तब कुण्डल की नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा के ज्ञान गुण में एक समय में एक अवस्था प्रगट होती है। उदाहरण रूप में जब मति या श्रुतज्ञान होता है तब केवलज्ञान

नही होता, और जब केवलज्ञान होता है तब मति या श्रुत नहीं होता, किन्तु ज्ञानगुण सदा विद्यमान रहता है। वर्तमान में त्रिकाल रहनेवाले समस्त गुण एकरूप—सामान्य शक्तिरूप मे विद्यमान हैं। आत्मा मे वर्तमान एक अवस्था प्रगट होती है और दूसरी सभी त्रिकाल शक्तिरूप से होती है। यहाँ सामान्य—अखण्ड द्रव्यस्वरूप का कथन करना है, इसलिये वर्तमान पर्यायके भेद गौण करके पर—निमित्त की अपेक्षा न लेकर वर्तमान एक समय मे त्रिकाल रहनेवाला एकरूप पूर्ण ज्ञायक तत्व लिया है, वही मेरा स्वरूप है। इसप्रकार त्रिकाली आत्मा को ही लक्ष मे लेना चाहिये। अखण्ड—सामान्य वस्तु को लक्ष में लेना द्रव्यदृष्टि है।

वर्तमान सयोग की अपेक्षा और अवस्था के भेदो को गौण करके वर्तमान अवस्था के पीछे जो सामान्य त्रिकाली शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और आनन्दरूप अनन्तगुण भरपूर अखण्डस्वरूप है उसका लक्ष करके जो अखण्डज्ञायकरूप मे ज्ञात होता है वही परमार्थस्वरूप आत्मा है। जो ज्ञायकरूप से मालूम हुआ है वही मैं हूँ, इसप्रकार अन्तरग से मानना सो सम्यग्दर्शन है। मैं अखण्ड ज्ञायकज्योति एकरूप हूँ, ऐसा प्रगट शुद्ध ज्ञायक भाव लक्ष मे लेकर, मैं अनन्तकाल रहनेवाला वर्तमान में परिपूर्ण हूँ ऐसा अन्तरग मे अनुभव से जानना सो सम्यग्दर्शन है। इसमें जो भी गूढरहस्य था वह बहुत स्पष्ट करके कहा है, किन्तु वह हाथ में लेकर तो बताया नही जा सकता। स्वय तैयारहोकर ग्रहण करके और धीरे धीरे जुगाली करके उसे पचाये तो अवश्य लाभ हो।

इस वस्तु को समझना ही वास्तव में महत्व की बात है। निरपेक्ष—अभेद पूर्णस्वभाव वर्तमान साक्षात् शुद्धरूप से जिसप्रकार है। उसीप्रकार अनादि से लक्ष में नही लिया, पर से भिन्न एकत्व की बात कभी नही सुनी, "इसलिये वह कठिन मालूम पड़ती है। किन्तु समझके बाद सब सरल है।" सम्यग्दर्शन होने से पहले प्रारंभ में ही समझने की यह बात है। वर्तमान में प्रतिसमय में आत्मा पूर्ण स्वरूप है, इसलिये उसे ही विषय (लक्ष—ध्येय) बनाकर शुद्ध अखण्डरूप से लक्ष में लेना चाहिये। वह शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है।

वर्तमान विकारी अवस्था तथा अपूर्ण निर्मल पर्यायके क्षणिक भेद को गौण करके एक समय की वर्तमान अवस्था के अतिरिक्त वर्तमान में विद्यमान प्रत्येक अवस्थाके साथ ही प्रतिसमय में अनन्त चैतन्य शक्तिरूप से जो समस्त सामान्य-ध्रुवस्वभाव है। उसे लक्ष में लेना द्रव्यदृष्टि का विषय है।

ज्ञान का उपयोग प्रत्येक समय में होता है उसमें वर्तमान भव का ध्यान है। मत अनन्तभवों में भी उस समयके वर्तमान रहने वाले भाव से विचार करता था। इसप्रकार अनन्तभव में स्वयं वस्तु, उसका क्षेत्र उसका काल और उसके भाव को ज्ञानसामर्थ्य से ज्ञायकरूप से जानता था। अब इसके बाद जितने भव करेगा उनमें भी वर्तमान में रहनेवाला ज्ञान करेगा। ऐसी सारी शक्ति पहले प्रत्येक समय में थी। जब जब जिस जिस भव में रहा तब तब ज्ञान में उसको उस उस भाव से जानता था तो भी उस भव के लिये-उस अवस्थाके लिये ही सामर्थ्य न था किन्तु दूसरे अनन्त कालका ज्ञान करने का अनन्त सामर्थ्य था। यह तो एक ज्ञानगुण की बात कही। ऐसे ही एक साथ वस्तुरूप में त्रिकाल रहनेवाले अनन्तगुण पूर्ण-अभेदरूप में समझना चाहिये। वर्तमान पर्याय के भेद को न देखकर त्रैकालिक अखंड स्वरूप को देखें तो आत्मा द्रव्य से गुण से और पर्याय से शुद्ध ही है उसमें पुण्य-पापरूप उपाधि का भेद नहीं है मन के सम्बन्ध का विकल्प भी नहीं है। मैं तीनों काल एकरूप रहने वाला, ज्ञायक पूर्ण स्वभाव की शक्ति का पिण्ड हूँ मात्र एकसमय की अवस्था के लिये नहीं किन्तु नित्य निरालम्बी निरपेक्ष अनन्तगुणरूप से रहनेवाला पूर्ण हूँ ऐसा निर्मल स्वभाव जबतक लक्ष में नहीं आता तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता और सच्चा ज्ञान भी नहीं होता तथा अन्तरंग में ज्ञान की स्थिरता रूप चारित्र नहीं होता। जहाँ निश्चय से सम्यग्दर्शन नहीं होता वहाँ ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते इसलिये सबसे पहले इसे समझना चाहिये। धर्म तो मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। आत्मा की पहिचान कैसे करना चाहिये उसका यहाँ से प्रारम्भ होता है।

जो बात होती है सो वह भाषा से होती है। भाषा स्वभाव से भिन्न है। जड़रूप वाणी के द्वारा चेतनरूप आत्मा, पूर्णरूप से भली-भांति कैसे कहा जा सकता है ? वाणी तो जडरूपी है और आत्मा चेतन, अरूपी है। वाणीरूपी शत्रु के द्वारा सज्जन की प्रशसा कितनी कराई जा सकती है ?

कोई कहता है कि यदि तुम हमे समझा सको तो सच्चे हो। किन्तु ऐसा हो नही सकता। सत्य ऐसा नही है कि जब कोई सत्य को माने तभी उसका मूल्य होता है। तुम पृथक् स्वतत्र हो, तुम्हारी तैयारी के बिना कोई निमित्त हो नही सकता, यदि कोई समझे तो समझने मे निमित्त कहलाता है और न समझे तो निमित्त भी नही कहलाता। जगत् समझे या न समझे, किन्तु जो सत्य है वह बदल नही सकता।

लोगो को अन्तरग का सूक्ष्मतत्व कठिन मालूम होता है, क्योकि उसकी बात कभी नही सुनी, इसलिये वे बाहर की बातो की धूमधाम करते हैं। कितने ही बुलक्कड ऐसी बकवाद किया करते है कि जिसका कही मेल ही नही बैठता !

अनन्तकाल मे तुझे सम्यक् वस्तुस्थिति की खबर नही पडी और न कभी सत् को सुना है। पहले अनन्तकाल मे कभी नही प्राप्त हुई यह अपूर्व वस्तु है। उस शुद्धात्मा की बात छट्ठी गाथा मे करते है और कहते हैं कि यह छट्ठी का लिखा लेख टाले नही टलता।

भगवान आत्मा मन, वाणी, देह और इन्द्रियो से भिन्न है, पुण्य-पाप के विकल्पो से रहित है, वर्तमान मन के अवलबन से ज्ञात हो उतना ही यह नही है, किन्तु प्रत्येक समय मे अनतगुण का पिण्ड—ध्रुवस्वभावी है। उसमें वर्तमान पर्याय प्रथक् नही है, फिर भी वर्तमान पर्यायभेद का लक्ष छोडकर सामान्य रहनेवाला ध्रुवशक्तिरूप सपूर्ण तत्व है, वही आत्मा का पूर्णस्वरूप है। ऐसा पूर्ण द्रव्यस्वभाव ज्ञायक रूप मे मालूम हुआ सो तो वही है।

प्रश्न—आत्मा को ज्ञायक कहने से पर की उपाधि की अपेक्षा होती है ?

उत्तर—नहीं पर को जानने के लिये उसके पास जाना नहीं पड़ता, किन्तु स्व को जानने पर वह सहज ही ज्ञात हो जाता है अर्थात् पर को जानने की उपाधि नहीं है। पर्याय को न देखकर निरपेक्ष—एकरूप ध्रुवस्वभाव को देखना सम्यग्दर्शन है ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

प्रत्येक पदार्थ सत् है जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता और जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता। हाँ ध्रुवस्वभावरूप रहकर रूपान्तर होता है। *जो पदार्थ है उसका नाश नहीं होता फिर भी यदि* उसमें कोई अवस्थान्तर न होता हो तो कभी भी विकार दूर होकर अविकारीपन नहीं होगा। जैसे दूध की अवस्था बदलकर दहीरूप न होती हो तो कोई कार्य विशेष न हो सकेगा। और यदि पदार्थ केवल नित्य ही हो कूटस्थरूप त्रिकाली एकरूप ही रहे तो अशुद्ध अवस्था बदल कर शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं हो सकेगी।

आत्मा नित्य है और उसका ज्ञायकत्व स्थिर रहता है। उस ओर की दृष्टि करने पर आत्मा अकेला ज्ञायक निर्मल नित्य, अखण्ड पिंड है वह ज्ञात होता है। आत्मामें अनन्त गुणरूप शक्ति त्रिकाल भरी हुई है। शक्तिरूप से तो गुण शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान एक अवस्थामें अशुद्ध है। अवस्था में विकार होता है किन्तु पूर्ण गुण विकारी नहीं होता। यदि निर्विकारी—त्रिकाल पूर्ण को लक्ष में न ले तो अशुद्ध क्षणिक विकारभाव को नाश करने का पुरुषार्थ नहीं होता। विकारको नाश करने का सामर्थ्य त्रिकाल आत्मा में विद्यमान है।

मुझे अवगुण नहीं चाहिये ऐसा कहनेवाला अव्यक्तरूप से यह स्वीकार कर रहा है कि मैं अवगुण को रखनेवाला—करनेवाला नहीं किन्तु उसका नाशक हूँ। पूर्णगुण मुझमें हैं इसका भान भैसा कहनेवाले को भले न हो किन्तु उसके ही बल से वह यह कहता है कि मुझे अवगुण नहीं चाहिये।

जबतक विकार के ऊपर दृष्टि रखे किन्तु अखण्ड पूर्ण शुद्ध द्रव्य को लक्ष में न ले तबतक निरपेक्ष पूर्ण तत्त्वस्वभाव जैसा है वैसा

पहचानने में नही आता। जहाँ मुक्तस्वरूप, एकरूप स्वाधीन तत्व नहीं जाना वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नही है। अविकारी पूर्ण स्वरूप लक्ष में आये विना पुण्य–पाप, विकार का अल्प भी नाश नहीं हो सकता। मेरा स्वरूप पर की उपाधि से रहित, पर मे कर्ता–भोक्तापन से रहित, ज्ञानानन्दरूप से पूर्ण पवित्र है, उसको लक्ष मे लेकर उस एकत्व मे एकाग्र होना चारित्र है। सम्यग्दृष्टि के विना जो कुछ भाव जीव करता है वे सब इकाई–रहित शून्य के समान हैं।

धर्म तो अरूपी आत्मा मे ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप है, उसे भूलकर लोग वाह्य क्रियाकाण्ड मे, मन, वाणी, देह की प्रवृत्ति मे आत्मा का धर्म मानते हैं; यही अज्ञान है।

मैं रागी हूँ, राग–द्वेष का कर्ता–भोक्ता हूँ, वह मेरा कर्तव्य है,–यह वन्धनभाव की दृष्टि है। रागादि सर्व विकार का नाशक मेरा स्वभाव है, ऐसी दृष्टि अनन्त पुरुपार्थ के द्वारा प्रगट होती है। अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध एकरूप स्वभावके लक्ष से स्वभाव की समझ और स्वाभाविक शुद्धता प्रगट होती है।

आचार्य महाराज अपनी अन्तर स्थिरता मे–छट्ठे सातवें गुणस्थान मे प्रवर्तमान हैं। मैं अखण्ड एकरूप ज्ञायक हूँ, उसमे यह अप्रमत्त–प्रमत्तभाव के दो भेद क्यो ? इसप्रकार भेदका नकार करके, भेदरूप पर्याय को गोण करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को ही लक्ष मे लेते हैं।

टीका—आत्मा स्वय–स्वत.सिद्ध है, उसका कोई कर्ता नही, वह सयोगी वस्तु नहीं है। तथा वह भूतकाल में नही था, सो बात नही है। वह अनादि–अनन्त सत्स्वरूप है–अस्तिरूप है। वह किसी से उत्पन्न नही हुआ है, इसलिये उसे किसी के आधार की आवश्यक्ता नही है, तथा उसकी कोई सहायता करनेवाला नही है, और वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिये क्षणिक नहीं है, किन्तु ध्रुव है, वस्तुरूप मे रहकर पर्यायों को बदलनेवाला है। अपनी वर्तमान अवस्था

का स्वयं कर्ता होने से त्रैकालिक समस्त अवस्थाओं का स्वयं ही कर्ता है, दूसरा कोई नहीं। अपना कर्तृत्व स्वतंत्र होने से उसके धर्मके लिये किसी पुण्य-पाप-विकार आदि की आवश्यकता नहीं है।

वह कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है। अनन्त अर्थात् क्षेत्र से अनन्त नहीं किन्तु स्वयं पूर्णशक्ति से अनन्त है और अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से अखण्ड है।

वह नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है किन्तु प्रत्येक क्षण में चैतन्यमूर्ति स्पष्ट प्रकाशमान ज्ञानज्योति है। ऐसा अखण्ड निर्मलस्वरूप समझे बिना जन्म-मरण दूर करने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो नित्य अविकारी ध्रुवस्वभाव को लक्ष में न ले उस जीव के धर्म नहीं होता भव नहीं घटता वह जीव मन वाणी देह की प्रवृत्ति में अथवा पुण्य में धर्म मानकर अटक जाता है जिसका फल बंधनरूप संसार है। इस बात का जिसे ध्यान नहीं है उसने बाह्य प्रवृत्ति में ही कृत-कृत्यता मान रखी है इसलिये जब वह अपनी मान्यता से विरुद्ध बात सुनता है तब वह सत्य तत्त्व का विरोध करता है। बालक को पेड़ा देने के लिये जब उसकी लकड़ी की चूसनी छीनी जाती है तब वह रोने-चिल्लाने लगता है इसीप्रकार मुक्तिरूपी पेड़ेका स्वाद चखाने के लिये बाल-अज्ञानी जीवों के पास से उनकी विपरीत मान्यतारूपी पकड़ (चूसनी) छुड़ाई जाती है तब वे चिल्लाने लगते हैं।

अहो! परम सत्य की बात कान में पड़ना भी बड़ा दुर्लभ है। अनन्तकाल में यह अमूल्य अवसर मिला है तब भी अपूर्व सत्य नहीं समझे स्वतंत्र वस्तुस्वभाव के सामर्थ्य को न समझे तो चौरासी का परिभ्रमण नहीं मिट सकेगा।

मैं पर से भिन्न साक्षात् चैतन्यज्योति अनंतआनन्द की मूर्ति हूँ यह समझे बिना जितने शुभभाव करता है वे सब मुक्तिके लिये व्यर्थ हैं। यह सुनकर कोई विरोध करता है कि अरे रे! मेरा तो सर्वस्व ही उड़ जाता है। किन्तु प्रभु! तेरी प्रभुता तुझे समझाई जा रही है तेरा अनन्त महिमामय स्वभाव तुझे समझा रहे हैं तब तू

उसका विरोध करके असत्य का आदर करे तो यह कैसे चल सकता है ?

जैसे किसी कुलीन परिवार का पुत्र नीच की सगति करता हो तो उसे उसका पिता ताना मारता है कि अरे भाई ! उच्चकुल वाले को ऐसा नही करना चाहिये। इससे अपने कुलको लज्जित होना पड़ता है ? इसीप्रकार जो आत्मविरोधी पुण्य–पापकी प्रवृत्तिरूप कुसगति में पडता है उससे तीर्थंकरदेव कहते हैं कि यह कुसगति तुझे शोभा नही देती, इससे तेरी प्रभुता लज्जित होती है, तेरी जाति सिद्ध परमात्मा के समान है। इसप्रकार कहकर उसे पुण्य–पापादि से रहित उसका ज्ञान–स्वभाव बताते हैं।

जो पुण्य–पाप और पर की क्रिया से धर्म माननेवाले हैं और जो यह मानते हैं कि पुण्य (विकार) करते करते धीरे धीरे आत्मशुद्धि हो जायगी, उनसे कहते हैं कि इस विपरीत मान्यतारूप लकडी की चूसनी से स्वाद नही आयगा, इसलिये इसे छोड और एकबार अपने स्वाधीन स्वभाव को अन्तरग से स्वीकार कर।

स्पष्ट प्रकाशमान ज्योतिरूप जो ज्ञायक 'एक' भाव है उसमे पर की अपेक्षा नही होती। आत्मा ज्ञायक स्वरूप से निरपेक्ष, त्रिकाली पूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव ससार अवस्था में कषाय चक्र में पडकर पुण्य–पाप के अनेक भावो को अपना मानकर उनका कर्ता होता है। मन, वाणी, देह मे ससार नही है, जड मे ससार नही है, किन्तु देहादि तथा राग–द्वेष मेरे हैं ऐसी विपरीत मान्यतारूप अज्ञानभाव ही ससार है।

यद्यपि स्वभावरूप से ज्ञायकमूर्ति आत्मा अनादि–अनन्त–अरूपी शुद्धस्वभाव मे स्थित है तथापि वर्तमान प्रत्येक अवस्थारूप से अशुद्धता करके अनादि से बध पर्यायरूप से विकारी होता है। विकार में दूसरा निमित्त होता है। यदि पर के अवलम्बन के बिना विकार सभव हो तो विकार स्वभाव हो जाय और जो स्वभाव होता है वह

दूर नहीं हो सकता। किन्तु विकार दूर हो सकता है इसलिये प्रत्येक आत्मा द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल शुद्ध ही है।

यदि कोई यह माने कि आत्मा जड़-पुद्गल कर्मों के साथ एकमेक है सो यह वास्तव में ठीक नहीं है। यदि द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो वर्तमान अशुद्ध अवस्था के समय भी वह स्वभाव से तो शुद्ध ही है। जैसे सोने में तांबा मिला हुआ हो तो भी सोना अनेक रूप में शुद्ध ही है। इसीप्रकार चैतन्यधातु, ज्ञानमूर्ति आत्मा त्रिकाल शक्तिरूप से पर से भिन्न शुद्ध ही है। संसार अवस्था में वह कर्म के निमित्त की ओर लगा हुआ दिखाई देता है फिर भी उसका अपनत्व मिट नहीं जाता। *आत्मप्रतीति होने पर उसमें एकाग्रता बढ़ने से स्वभाव* पर्याय दृढ़ होती जाती है और क्रमशः मोक्ष पर्याय प्रगट होती है तथा कर्म संयोग दूर हो जाता है। अनादिकाल से स्वभाव की अपेक्षा से पर से पृथक था, इसलिये पृथक हो जाता है तथा आत्मा का अपनत्व कदापि नहीं मिटता।

दूध का स्वभाव सफेद और मीठा है पानीका स्वभाव पतला है और भाप बनकर उड़ जानेवाला है। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञानानन्दमय नित्य एकरूप स्थिररूप है और जड़कर्म के संयोग का स्वभाव क्षणिक है स्वयं उसके निमित्ताधीन होने पर जो विकारीभाव होता है वह भी क्षणिक है।

संसारी अवस्था में अनादि बन्ध पर्याय की अपेक्षा से दूध और पानी की भांति कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा एकरूप होनेपर भी यदि द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो जिसका दूर होना कठिन है ऐसे कषायचक्र के उदय की विचित्रता से प्रवर्तमान जो पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभ-अशुभभाव हैं उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता। अर्थात् वह ज्ञायकस्वभाव को छोड़कर जड़रूप नहीं होता क्योंकि पुण्य-पापादि परवस्तु ज्ञेय है और आत्मा उसको जाननेवाला भिन्न है।

विष्टा और मिष्टान्न दोनो परमाणुओ की क्षणिक अवस्था है। यद्यपि ज्ञान की दृष्टिसे उनमे कोई अच्छा या बुरा नही है, तथापि ज्ञात परवस्तु मे अच्छा या बुरा मानना सो विपरीतता है और वह भाव बध-भाव है। मैं ज्ञाता हूँ और प्रस्तुत पदार्थ ज्ञेय है, मै एकरूप—ज्ञातारूप हूँ, उसमे अच्छे—बुरे का द्वित्व नही आता।

प्रश्न—शुभाशुभभाव कैसे है ?

उत्तर—पुण्य—पाप को उत्पन्न करने वाले हैं, वे आत्मा की शुद्धता को उत्पन्न करने वाले नही हैं। शुभभाव पुण्यबध के भाव हैं, और अशुभभाव पापबन्ध के। दोनो विकार हैं, इसलिये वे आत्मा के गुण मे सहायक नही हैं।

कषाय=(कष=ससार,+आय=लाभ) का अर्थ है जो ससार का लाभ दे और आत्मा के गुण की हानि करे। आत्मा प्रति-समय नये विकार करता आरहा है। इसप्रकार प्रवाहरूप से कषायभाव में युक्त होते होते अनन्तकाल बीतगया, फिर भी आत्मा कषायरूप नही हुआ, किन्तु अखण्ड—चैतन्यज्योतिरूप ही बना हुआ है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की मूर्च्छा, इत्यादि अशुभभाव हैं, उनसे पापबन्ध होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सेवा, पूजा, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव हैं, उनसे पुण्यबन्ध होता है। अविकारी आत्मधर्म उन दोनो से पृथक् है। आत्मा मे परको ग्रहण करने या छोडने का कोई स्वभाव नही है। इसीप्रकार शुभाशुभवृत्ति भी परमार्थ से उसका स्वरूप नही है, प्रमत्त और अप्रमत्त का भेद भी उसमे नही है। वही समस्त अन्य द्रव्यो के भाव से भिन्नरूप मे उपा-सित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

एक चील मास का टुकडा लेकर जा रही हो, यदि उस समय दूसरी चील आकर उसे छीन ले तो वह दूसरे टुकडे को ढूढने के लिये जाती है किन्तु यदि उसे मिष्टान्नका थाल मिल जाय तो वह सडे हुये मास को ढूढने के लिये न जाय, लेकिन यदि उसे मिष्टान्न का महत्त्व

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांस को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दस्वरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य–पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम सुख भरा है यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभावको छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निबलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य–पाप होजाता है किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता कर्ता नहीं होता उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है उसके पास से यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी खोखा देता है क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव वह धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है तथा पुण्य–पाप के भाव से रहित अन्तरंग में स्थिर होना सम्यग्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन वाणी देह पुण्य–पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन सुखरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूप में है उसे वैसा जानना–मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखे तो वह उष्ण दिखाई देता है फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखें तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव में विकार नही है। क्षणिक, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व में स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नही चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नही है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है, इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा मे एकाग्र होना चाहिये ? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्व समझ में आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमे कुछ न जाने ऐसा नही होता, क्रम क्रम से जानना नही होता। उसमे एकसाथ सबको (स्व–पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय में ही होता है। केवलज्ञान में तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायों सहित एक समय में एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य मे प्रत्येक समय मे शक्तिरूप से है। केवलज्ञान मे भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भांति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमे वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान में रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत–भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूप से जानता है, किन्तु उन्हें वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनोलोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्त-मान द्रव्य मे विद्यमान उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में लिया है।

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांस को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य-पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम सुख भरा है यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभावको छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निर्बलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य-पाप होजाता है, किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता कर्ता नहीं होता उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है उसके पास से यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है उसे अपनी निर्मलता कसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वसंमस्वभाव वह धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है तथा पुण्य-पाप के भाव से रहित अन्तरंग में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन वाणी देह पुण्य-पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन गुणरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूप में है उसे वैसा जानना-मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखे तो वह उष्ण दिखाई देता है फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखें तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव मे विकार नही है। क्षणिक, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व मे स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नही चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नही है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है, इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा मे एकाग्र होना चाहिये ? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्त्व समझ मे आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें कुछ न जाने ऐसा नही होता, क्रम क्रम से जानना नही होता। उसमे एकसाथ सबको (स्व—पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय में ही होता है। केवलज्ञान में तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायो सहित एक समय में एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रत्येक समय मे शक्तिरूप से है। केवलज्ञान मे भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भाति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमे वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान मे रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत—भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूप से जानता है, किन्तु उन्हे वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनोलोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्त-मान द्रव्य मे विद्यमान उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति मे लिया है।

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांस को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य–पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम सुख भरा है यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभावको छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निबलता से वसमान क्षणिक पुण्य–पाप होजाता है किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता कर्ता नहीं होता उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है उसके पास से यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है क्योंकि उसकी दृष्टि यह है किपैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव वह धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है तथा पुण्य–पाप के भाव से रहित अन्तरंग में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन वाणी देह पुण्य–पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन गुणरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं किसरूप में है उसे यथा जानना–मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखें तो वह उष्ण दिखाई देता है फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखें तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव मे विकार नही है। क्षणिक, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व में स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नही चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नही है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है, इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा में एकाग्र होना चाहिये ? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्त्व समझ मे आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमे कुछ न जाने ऐसा नही होता, क्रम क्रम से जानना नही होता। उसमे एकसाथ सबको (स्व–पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय मे ही होता है। केवलज्ञान में तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायो सहित एक समय में एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य मे प्रत्येक समय में शक्तिरूप से है। केवलज्ञान मे भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भाति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमे वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान मे रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत–भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूप से जानता है, किन्तु उन्हे वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनोलोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्तमान द्रव्य मे विद्यमान उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में लिया है।

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांस को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य-पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम सुख भरा है यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभावको छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निर्बलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य-पाप होजाता है किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता कर्ता नहीं होता उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है उसके पास से यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वसंवेदस्वभाव वह धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है तथा पुण्य-पाप के भाव से रहित स्वरूप में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन वाणी देह पुण्य-पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन गुणरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं किसरूप में है उसे वैसा जानना-मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखें तो वह उष्ण दिखाई देता है फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखें तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव मे विकार नही है। क्षणिक, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व मे स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नही चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नही है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है, इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा मे एकाग्र होना चाहिये ? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्त्व समझ मे आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें कुछ न जाने ऐसा नही होता, क्रम क्रम से जानना नही होता। उसमे एकसाथ सबको (स्व–पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय मे ही होता है। केवलज्ञान मे तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायो सहित एक समय मे एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रत्येक समय मे शक्तिरूप से है। केवलज्ञान मे भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भांति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमे वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान में रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत–भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूप से जानता है, किन्तु उन्हे वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनोलोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्त-मान द्रव्य में विद्यमान उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति में लिया है।

केवलज्ञान में भूत–भविष्य की अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष जानी जाती है, तब सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञान में वह भूत–भविष्य की पर्यायें परोक्षरूप से जानी जाती हैं, किन्तु केवलज्ञानी जैसा जानता है वैसा ही वह जानता है मात्र प्रत्यक्ष–परोक्षका भेद है। जैसे केवलज्ञानी स्व–पर की पर्याय को प्रत्यक्ष जानता है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में भी स्व–पर की पर्याय परोक्षरूप से जानी जाती है।

ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान स्व को जानता है और जो रागद्वेष पुण्य–पाप की वृत्ति होती है उसे भी जानता है। इसप्रकार स्व को और पर को जानने का ज्ञान का दुगुना सामर्थ्य है। ज्ञानगुण स्व–पर को जानने वाला है किसी में अच्छा–बुरा मानकर अटकने वाला नहीं है। जो यह जानता है कि मैं रागी हूँ मैं देहादि परका काम करनेवाला हूँ पर मुझे सहायता पहुँचाता है उसने अपने को परके साथ एकमेक माना है अर्थात् वह यह नहीं मानता कि उसमें पर से भिन्न धर्म की शक्ति है। जो पर से पृथक्त्व है सो स्व में एकत्व है। पर से पृथक्त्व की श्रद्धा में पर से पृथक करने की पूर्ण शक्ति है। ऐसा अनंत काल से नहीं समझा इसीलिये भवभ्रमण कर रहा है। वस्तु की महाधर्मता बताकर स्वभाव की महिमा दर्शाई है। आत्मा का पर से भिन्न स्वतत्रस्प जैसा है वैसा ही यहाँ कहा जाता है। यह धर्मके प्रारंभ की सब से पहली बात है ऊँचे–तेरहवें गुणस्थान की बात नहीं है। जिसने शुद्ध–ज्ञायक भाव को लक्ष में लिया उसके मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा जो नहीं समझता उसका भव–भ्रमण दूर नहीं होता इसलिये प्रथम सत्समागम से यथार्थ समझकर एकबार सत्य को स्वीकार करे कि मैं विकार रहित निर्मल हूँ तो उसे पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव की निर्मलता प्रगट होती है।

सूक्ष्म और यथार्थ विषय को समझने के लिये अत्यन्त तीव्र और सत्पुरुषार्थ चाहिये।

यदि निश्चयरूप से स्व को लक्ष में ले तो शान्ति अवश्य प्राप्त हो। यदि पर–वस्तु में राग–द्वेष इष्ट–अनिष्ट बुद्धि करे तो अशांति हो। जो यह मानता है कि पर में सुख है वह पर को और स्व को एक

मानता है। जो ज्ञायकमात्र, निर्मल स्वभावी अपने स्वरूप को भिन्न नही मानता वह पर में अच्छा या बुरा मानकर अटक जाता है। विषय–शब्द, रूप, रसादि तथा विकार को अपना माननेवाला भिन्न ज्ञायकमात्र आत्मा को नही मानता। उस मिथ्यादृष्टि का विषय 'पर' है और सम्यग्दृष्टि का विषय (लक्ष) 'स्व' है। वर्तमान क्षणिक विकार मात्र के लिये मैं नही हूँ, मै तो विकार का नाशक, अखण्डानद, चैतन्य-मात्र, निर्विकारी हूँ ऐसा त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को अपना मानना सो सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी को यह खबर नही है।

भव से छूटना हो, पुण्य–पाप की पराधीनता से मुक्त होना हो, पूर्ण स्वतत्र, सहजात्मस्वभाव, अखण्डानन्द आत्मभाव प्रगट करना हो तो इसे समझे बिना नही चल सकता, खूब मनन और माहात्म्य करना चाहिये।

पर से मुझे लाभ है, मै पर का कुछ कर सकता हूँ, पर मेरे आधीन है, ऐसी बुद्धि जबतक रहती है तबतक पर में इष्ट–अनिष्ट का भाव दूर नही होता। इसप्रकार की मान्यता की लीक को छोड़कर निरालम्बी स्वाधीन आत्मस्वभावको मानना ही होगा। मनके अवलंबन से धर्म नही है, जो शुभ विकल्प उठता है वह भी आत्मगुणरोधक है। पुण्य–पापरूप विकार से आत्मगुण को सहाय होती है, ऐसा माननेवाला गुण और विकार को एक मानता है, उससे विपरीत स्वतत्र–निर्विकारी आत्मस्वभाव को जिसने जाना है उसने मुक्त होने का उपाय, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता इत्यादि सब जान लिया है।

शुभाशुभभाव से पुण्य–पाप की उत्पत्ति होती है, फिर भी सारा आत्मा उस क्षणिक विकार में एकमेक नहीं होता, इसलिये पर से भिन्न, स्वभावत नित्य, शुद्ध आत्मा की निरन्तर उपासना करना चाहिए, यही सम्यग्दर्शन है, स्व–पर की पृथक्ता का जो विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मशुद्धि में स्थिरता है सो सम्यक्चारित्र है। इसका बारंबार मनन–मथन करना चाहिये और स्वभाव में स्थिर रहना चाहिये।

लोगों को स्वरूप की रुचि नहीं है किन्तु पुण्य–पाप विकार, बन्ध–परकी रुचि है। धर्मके नाम पर जैसा अनन्तबार माना है वहाँ पर उससे भिन्न कहा जाता है। आत्मा देहादि से पर है, मन, वाणी देहादि परवस्तु की एक भी क्रिया वह नहीं कर सकता। विकार को अपना मानता है किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता। पर से लाभ–हानि होती है ऐसी विपरीत मान्यता बना रखी है उसे सम्यक–मान्यता के द्वारा नष्ट करना पड़ेगा।

अब आत्मा के एकत्वस्वभाव का वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञायक है, स्वपरप्रकाशक है फिर भी उसका ज्ञान पर के अवलम्बन से रहित है। आत्मा के सहज स्वभाव को समझे बिना जीव नववें ग्रैवेयक में अनन्तबार हो आया शुभभाव के द्वारा जो व्रतादि पुण्यक्रिया हुई उसमें अटक गया, मात्र बाह्यक्रिया के ऊपर लक्ष रखा बहुत ऊँचा पुण्य बाँधकर अनन्तबार देव हुआ किंतु मैं निरालम्बी ज्ञायकमात्र हूँ पर का कर्ता–भोक्ता नहीं, अखण्ड स्वतंत्र ध्रुवस्वभावी हूँ इसप्रकार नहीं माना। वर्तमान में भी शक्तिरूप से पूर्ण हूँ निरपेक्ष हूँ कृतकृत्य हूँ, ऐसा नहीं माना। बाह्य शुभप्रवृत्ति के ऊपर लक्ष रहा परलक्ष से कषाय कम की पुण्य बाँधकर देवलोक में गया किन्तु भव कम नहीं हुए। मैं विकारी अवस्थामात्र नहीं हूँ मैं तो अनन्त ज्ञानानन्द की मूर्ति हूँ ऐसा विश्वास नहीं हुआ स्वलक्ष को भूलकर मात्र शुभभाव किया उसके फलस्वरूप नाशवान संयोगों की प्राप्ति हुई वह अल्पकाल में छूट जाती है। पर से भिन्न आत्मस्वभावको अन्तरंग से न तो विचारा है और गुरुज्ञान से समझा है। पर का थोड़ा सा आश्रय चाहिये जिसने ऐसा माना उसने आत्मा में स्वतंत्र गुण नहीं है ऐसा माना है। किन्तु यदि आत्मामें गुण न हो तो आयगा कहाँ से ? प्रत्येक जीव में ज्ञान आनन्दस्वभावसे विद्यमान है उसपर लोग लक्ष नहीं देते मात्र शुभाशुभ प्रवृत्ति को ही देखते हैं। द्रव्यस्वभाव पूर्ण है पर में सर्वथा अक्रिय है इसकी महिमा को नहीं जानते। जीव खूँटे से बँधी हुई भैंस को जो खूँटेके इधर–उधर घूमा करती है उसकी क्रिया की शक्ति को देखता है किन्तु दृढ़तापूर्वक

विष्टा और मिष्टान्न दोनो परमाणुओ की क्षणिक अवस्था है। यद्यपि ज्ञान की दृष्टिसे उनमे कोई अच्छा या बुरा नही है, तथापि ज्ञात परवस्तु मे अच्छा या बुरा मानना सो विपरीतता है और वह भाव बंध-भाव है। मैं ज्ञाता हूँ और प्रस्तुत पदार्थ ज्ञेय है, मैं एकरूप—ज्ञातारूप हूँ, उसमे अच्छे—बुरे का द्वित्व नही आता।

प्रश्न—शुभाशुभभाव कैसे है ?

उत्तर—पुण्य—पाप को उत्पन्न करने वाले हैं, वे आत्मा की शुद्धता को उत्पन्न करने वाले नही हैं। शुभभाव पुण्यबध के भाव हैं, और अशुभभाव पापवन्त के। दोनो विकार हैं, इसलिये वे आत्मा के गुण मे सहायक नही हैं।

कषाय=(कष=ससार,+आय=लाभ) का अर्थ है जो ससार का लाभ दे और आत्मा के गुण की हानि करे। आत्मा प्रति-समय नये विकार करता आरहा है। इसप्रकार प्रवाहरूप से कषायभाव में युक्त होते होते अनन्तकाल वीतगया, फिर भी आत्मा कषायरूप नही हुआ, किन्तु अखण्ड—चैतन्यज्योतिरूप ही बना हुआ है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की मूर्च्छा, इत्यादि अशुभभाव हैं, उनसे पापवन्ध होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सेवा, पूजा, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव हैं, उनसे पुण्यवन्ध होता है। अविकारी आत्मधर्म उन दोनो से पृथक् है। आत्मा मे परको ग्रहण करने या छोडने का कोई स्वभाव नही है। इसीप्रकार शुभाशुभवृत्ति भी परमार्थ से उसका स्वरूप नही है, प्रमत्त और अप्रमत्त का भेद भी उसमे नही है। वही समस्त अन्य द्रव्यो के भाव से भिन्नरूप मे उपा-सित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

एक चील मास का टुकडा लेकर जा रही हो, यदि उस समय दूसरी चील आकर उसे छीन ले तो वह दूसरे टुकडे को ढूढने के लिये जाती है किन्तु यदि उसे मिष्टान्नका थाल मिल जाय तो वह सडे हुये मास को ढूढ़ने के लिये न जाय, लेकिन यदि उसे मिष्टान्न का महत्त्व

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांस को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य–पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम सुख भरा है यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभावको छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निबलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य–पाप होजाता है किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता कर्ता नहीं होता उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है उसके पास से यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है क्योंकि उसकी दृष्टि यह है किपैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव वह धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है तथा पुण्य–पाप के भाव से रहित अन्तरंग में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन वाणी देह पुण्य–पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन गुणरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूप में है उसे वैसा जानना–मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखे तो वह उष्ण दिखाई देता है फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखे तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव मे विकार नही है। क्षणिक, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व मे स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नही चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नही है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है, इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा में एकाग्र होना चाहिये ? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्त्व समझ में आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमे कुछ न जाने ऐसा नही होता, क्रम क्रम से जानना नही होता। उसमे एकसाथ सबको (स्व—पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय मे ही होता है। केवलज्ञान में तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायो सहित एक समय मे एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य मे प्रत्येक समय मे शक्तिरूप से है। केवलज्ञान में भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भाति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमे वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान में रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत—भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूप से जानता है, किन्तु उन्हे वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनोलोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्त-मान द्रव्य में विद्यमान उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति मे लिया है।

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांस को ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्मा के परम आनन्दरूप का माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य–पापरूप भाव को अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम सुख भरा है यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारीभावको छोड़ देता है।

अज्ञानी के शुभाशुभभाव का स्वामित्व है अर्थात् उसके अभिप्राय में रागद्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है और ज्ञानी के जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थ की निर्बलता से वर्तमान क्षणिक पुण्य–पाप होजाता है किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता कर्ता नहीं होता उसके अन्तरंग से आत्मस्वरूप की रुचि होने से संसार का माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धन को प्राप्त करने का महालोभी है उसके पास से यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभ के वश होकर वह उसे भी धोखा देता है क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसीप्रकार से भी एकत्रित किया जाय उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम है उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्मा के धर्म का अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव वह धर्म आत्मा से पृथक नहीं हो सकता। आत्मा की जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है तथा पुण्य–पाप के भाव से रहित अन्तरंग में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा का चारित्र नहीं है। मन वाणी देह पुण्य–पापादि आत्मा का स्वरूप नहीं है जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन सुखरूप शुद्ध आत्मा का धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूप में है उसे वैसा जानना–मानना आवश्यक है।

यदि पानी को वर्तमान अवस्था में अग्नि के संयोगाधीन दृष्टि से देखे तो वह उष्ण दिखाई देता है फिर भी उस अवस्था के समय पानी में शीतलस्वभाव भरा है यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्मा को निमित्ताधीन दृष्टि से देखें तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभाव मे विकार नही है। क्षणिक, विकारी अवस्था के अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्व मे स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकार से कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नही चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमा का भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकाल से बारम्बार रोटी इत्यादि के खाने से जीव उकताता नही है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है, इसीप्रकार आत्मा को समझना चाहिये और उसीकी महिमा मे एकाग्र होना चाहिये ? यही सुख का उपाय है। उस उपाय को प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रेम से उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करने से ही यह तत्त्व समझ में आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञान की अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमे कुछ न जाने ऐसा नही होता, क्रम क्रम से जानना नही होता। उसमे एकसाथ सबको (स्व—पर को) जानने का सामर्थ्य एक समय में ही होता है। केवलज्ञान में तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायो सहित एक समय में एक साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञान का स्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रत्येक समय मे शक्तिरूप से है। केवलज्ञान में भूतकाल की अनन्त पर्यायें और भविष्य की अनन्त पर्यायें वर्तमान की ही भांति प्रत्यक्षरूप से जानी जाती हैं। उसमे वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमान मे रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत—भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूप से जानता है, किन्तु उन्हें वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीव ने भी तीनोलोक की पर्याय का सामर्थ्य वर्तमान द्रव्य मे विद्यमान उस सम्पूर्ण द्रव्य को प्रतीति मे लिया है।

केवलज्ञान में भूत-भविष्य की समस्त पर्यायें प्रत्यक्ष जानी जाती हैं तब सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञान में वह भूत-भविष्य की पर्यायें परोक्षरूप से जानी जाती हैं किन्तु केवलज्ञानी जैसा जानता है वैसा ही वह जानता है मात्र प्रत्यक्ष-परोक्षका भेद है। जैसे केवलज्ञानी स्व-पर की पर्याय को प्रत्यक्ष जानता है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान में भी स्व-पर की पर्याय परोक्षरूप से जानी जाती है।

ज्ञान का ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान स्व को जानता है और जो रागद्वेष, पुण्य-पाप की वृत्ति होती है उसे भी जानता है। इसप्रकार स्व को और पर को जानने का ज्ञान का दुगुना सामर्थ्य है। ज्ञानगुण स्व-पर को जानने वाला है किसी में अच्छा-बुरा मानकर अटकने वाला नहीं है। जो यह जानता है कि मैं रागी हूं मैं देहादि परका काम करनेवाला हूं पर मुझे सहायता पहुंचाता है उसने अपने को परके साथ एकमेक माना है अर्थात् वह यह नहीं मानता कि उसमें पर से भिन्न धर्म की शक्ति है। जो पर से पृथक्त्व है सो स्व में एकत्व है। पर से पृथक्त्व की श्रद्धा में पर से पृथक करने की पूर्ण शक्ति है। ऐसा अनंत काल से नहीं समझा इसीलिये भवभ्रमण कर रहा है। वस्तु की महात्म्यता बताकर स्वभाव की महिमा दर्शाई है। आत्मा का पर से भिन्न स्वतंत्ररूप जैसा है वैसा ही यहाँ कहा जाता है। यह धर्मके प्रारंभ को सब से पहली बात है ऊंचे-तेरहवें गुणस्थान की बात नहीं है। जिसने शुद्ध-ज्ञायक भाव को लक्ष में लिया उसके मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा जो नहीं समझता उसका भव-भ्रमण दूर नहीं होता इसलिये प्रथम सत्समागम से यथार्थ समझकर एकबार सत्य को स्वीकार करे कि मैं विकार रहित निर्मल हूं तो उसे पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव की निर्मलता प्रगट होती है।

सूक्ष्म और यथार्थ विषय को समझने के लिये अत्यन्त तीव्र और सत्पुरुषार्थ चाहिये।

यदि निश्चयरूप से स्व को लक्ष में ले तो शान्ति अवश्य प्राप्त हो। यदि पर-वस्तु में राग-द्वेष इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करे तो अशांति हो। जो यह मानता है कि पर में सुख है वह पर को और स्व को एक

मानता है। जो ज्ञायकमात्र, निर्मल स्वभावी अपने स्वरूप को भिन्न नही मानता वह पर में अच्छा या बुरा मानकर अटक जाता है। विषय–शब्द, रूप, रसादि तथा विकार को अपना माननेवाला भिन्न ज्ञायकमात्र आत्मा को नही मानता। उस मिथ्यादृष्टि का विषय 'पर' है और सम्यग्दृष्टि का विषय (लक्ष) 'स्व' है। वर्तमान क्षणिक विकार मात्र के लिये मैं नही हूं, मै तो विकार का नाशक, अखण्डानद, चैतन्य-मात्र, निर्विकारी हूं ऐसा त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को अपना मानना सो सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानी को यह खबर नही है।

भव से छूटना हो, पुण्य–पाप की पराधीनता से मुक्त होना हो, पूर्ण स्वतत्र, सहजात्मस्वभाव, अखण्डानन्द आत्मभाव प्रगट करना हो तो इसे समझे बिना नही चल सकता, खूब मनन और माहात्म्य करना चाहिये।

पर से मुझे लाभ है, मैं पर का कुछ कर सकता हूं, पर मेरे आधीन है; ऐसी बुद्धि जबतक रहती है तबतक पर मे इष्ट–अनिष्ट का भाव दूर नही होता। इसप्रकार की मान्यता की लीक को छोडकर निरालम्बी स्वाधीन आत्मस्वभावको मानना ही होगा। मनके अवलंबन से धर्म नही है, जो शुभ विकल्प उठता है वह भी आत्मगुणरोधक है। पुण्य–पापरूप विकार से आत्मगुण को सहाय होती है, ऐसा माननेवाला गुण और विकार को एक मानता है, उससे विपरीत स्वतत्र–निर्विकारी आत्मस्वभाव को जिसने जाना है उसने मुक्त होने का उपाय, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता इत्यादि सब जान लिया है।

शुभाशुभभाव से पुण्य–पाप की उत्पत्ति होती है, फिर भी सारा आत्मा उस क्षणिक विकार में एकमेक नही होता, इसलिये पर से भिन्न, स्वभावत नित्य, शुद्ध आत्मा की निरन्तर उपासना करना चाहिए, यही सम्यग्दर्शन है, स्व–पर की पृथक्ता का जो विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मशुद्धि में स्थिरता है सो सम्यक्चारित्र है। इसका बारंबार मनन–मथन करना चाहिये और स्वभाव में स्थिर रहना चाहिये।

लोगों को स्वरूप की रुचि नहीं है किन्तु पुण्य–पाप विकार, बन्ध–परकी रुचि है। धर्मके नाम पर जैसा अनन्तबार माना है वहीं पर उससे भिन्न कहा जाता है। आत्मा देहादि से पर है मन, वाणी देहादि परवस्तु की एक भी क्रिया वह नहीं कर सकता। विकार को अपना मानता है किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता। पर से लाभ–हानि होती है ऐसी विपरीत मान्यता बना रखी है उसे सम्यक–मान्यता के द्वारा नष्ट करना पड़ेगा।

अब आत्मा के एकत्वस्वभाव का वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञायक है, स्वपरप्रकाशक है फिर भी उसका ज्ञान पर के अवलम्बन से रहित है। आत्मा के सहज स्वभाव को समझे बिना जीव नवमें ग्रैवेयक में अनन्तबार हो आया शुभभाव के द्वारा जो व्रतादि पुण्यक्रिया हुई उसमें अटक गया मात्र बाह्यक्रिया के ऊपर लक्ष रखा बहुत ऊँचा पुण्य बांधकर अनन्तबार देव हुआ किंतु मैं निरालंबी ज्ञायकभाव हूं पर का कर्ता–भोक्ता नहीं अखण्ड स्वतंत्र ध्रुवस्वभावी हूं इसप्रकार नहीं माना। वर्तमान में भी शक्तिरूप से पूर्ण हूं निरपेक्ष हूं कृतकृत्य हूं ऐसा नहीं माना। बाह्य शुभप्रवृत्ति के ऊपर लक्ष रहा परलक्ष से कषाय कम की पुण्य बांधकर देवलोक में गया किन्तु भव कम नहीं हुए। मैं विकारी अवस्थामात्र नहीं हूं, मैं तो अनन्त ज्ञानानन्द की मूर्ति हूं ऐसा विश्वास नहीं हुआ स्वलक्ष को भूलकर मात्र शुभभाव किया उसके फलस्वरूप नाशवान संयोगों की प्राप्ति हुई वह अल्पकाल में छूट जाती है। पर से भिन्न आत्मस्वभावको अन्तरंग से न तो विचारा है और गुरुज्ञान से समझा है। पर का थोड़ा सा आश्रय चाहिये जिसने ऐसा माना उसने आत्मा में स्वतंत्र गुण नहीं है ऐसा माना है। किन्तु यदि आत्मामें गुण न हो तो आयगा कहां से ? प्रत्येक जीव में ज्ञान आनन्दस्वभावसे विद्यमान है उसपर लोग लक्ष नहीं देते मात्र शुभाशुभ प्रवृत्ति को ही देखते हैं। द्रव्यस्वभाव पूर्ण है, पर में सर्वथा अक्रिय है इसकी महिमा को नहीं जानते। जीव खूंटे से बँधी हुई भैंस को जो खूंटेके इधर–उधर घूमा करती है उसकी क्रिया की शक्ति को देखता है किन्तु दृढ़तापूर्वक

जो खूंटा गढा है वह अक्रिय दिखाई देता है, फिर भी उसमें जो शक्ति विद्यमान है उसे नही देखता। इसीप्रकार आत्मा त्रिकाल शक्ति से परिपूर्ण है, उसपर लोगो की दृष्टि नही है, मात्र क्षणिक अवस्था मे होनेवाले विकार पर ही दृष्टि है, नित्य, ध्रुव, अखडानन्द, चिन्मूर्ति, शाश्वत् सुदृढ खूंटा (आत्मा) निश्चलरूप में विद्यमान है, सो लोग उसे नही देखते। जो यह मानता है कि मै मन, वाणी और देह की प्रवृत्ति करता हूँ तो होती है, पर से लाभ–हानि होती है, निमित्त से मेरा काम होता है, मानो वह यह मानता है कि मैं निर्माल्य हूँ।

यदि उपादान तैयार हो, श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप अन्तरग का प्रयत्न हो तो उसके अनुकूल ऐसे निमित्त उपस्थित होते ही हैं। निमित्त से स्वकार्य की सिद्धि नही होती। यदि निमित्त सहायक हो तो निमित्त का और अपना एकत्व होजाय। अपने स्वभाव मे कोई भी शक्ति नही है ऐसा मानने वाला यह मानता है कि यदि अन्य का अवलवन मिले तो मेरा गुण प्रगट होजाय, इसका यह अर्थ हुआ कि उसे निरावलवी, निरपेक्ष आत्मतत्त्व पर विश्वास नही है। जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नही हुई और पुरुषार्थ की कमी से निज मे अखण्डरूप में स्थिर नही रह सकता, तबतक धर्मात्मा के अशुभभाव से बचने के लिये सच्चे देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति, पूजा, प्रभावना व्रतादि के शुभभाव होते हैं, किन्तु वह उस शुभभाव को कभी सच्चा धर्म नही मानता, वह अरागी स्वभाव को सन्मुख रखकर जब शुद्ध मे नही रह सकता तब शुभमे रहता है। किन्तु व्रतादि का शुभभाव भी राग है, उससे बधन है, अविकारी आत्मस्वभाव को उससे कुछ लाभ नही है, इसप्रकार उसके सम्यक्–समझ है। शुभभाव से पुण्यबन्ध होता है उसपर ज्ञानी का आश्रय नही है, मात्र निर्मल, अबन्ध स्वभाव पर ही आश्रय है लक्ष है। जब जीव निरावलम्बी अरागीस्वभाव की श्रद्धा करता है तब तत्क्षण ही समस्त राग दूर नही हो जाता। दृष्टि अविकारी–ध्रुव-स्वभाव पर पडी है उसके बल से अवशिष्ट अल्पराग को तोडकर अल्पकाल मे केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसी प्रतीति धर्मात्मा के पहले से

ही होती है। गुण आत्मा में है, ऐसा न मानकर पर की सहायता के द्वारा गुण प्रगट होता है, जो ऐसा मानता है वह निमित्ताधीन दृष्टिवाला है और वही अनादि की स्व-हिंसा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसा है ? क्या उसे जानना ही चाहिये ? क्या उसे जाने बिना मुक्ति नहीं होती ?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि हे भाई ! सुनो तुम प्रभु हो सिद्ध परमात्मा के समान हो, शक्ति से मुझमें और तुममें सिद्धत्व स्थापित करता हूँ। किन्तु जिसके अभिप्राय में यह बात है कि मैं रंक हूँ कोई मेरी सहायता करे तो उसके अन्तरंग में यह महिमा कहाँ से आ सकती है कि परमात्मत्व मुझमें विद्यमान है ? तू वर्तमान में भी परिपूर्ण है विकार का नाशक है ऐसी प्रतीति तो कर। उसके बाद यदि पर के ऊपर लक्ष जाने से अल्पराग हो जाय और यदि उस समय देव शास्त्र गुरु की उपस्थिति हो तो उसपर शुभभाव का निमित्तारोपण किया जाता है। अपने भाव के अनुसार संयोग में निमित्त का आरोप होता है। स्वयं पापभाव करे तो, धन देहादि पर राग रखे तब उन वस्तुओं को अशुभभाव का निमित्त कहा जाता है किन्तु निमित्त पर का कुछ करता कराता नहीं है। धर्मात्मा की दृष्टि शुभभाव पर नहीं है फिर वह शुभभाव चाहे देव गुरु शास्त्र की भक्ति का हो या व्रतादि का हो, किन्तु वह उसे परमार्थ से तो हेय ही मानता है। शुभभाव का निमित्त आत्मस्वभाव में सहायक नहीं है, अपना निर्मल स्वभाव ही सहायक है इसप्रकार की मान्यता का बल मोक्ष का मूल है। निर्मलस्वभाव की प्रथम अन्तरंग समझ से हाँ कह फिर विशेषदृढ़ता के लिये बारंबार उसका ही श्रवण-मनन और सत्समागम से उसी की रटन होनी चाहिये।

संसार में भी जब पहले बालक स्कूल में पढ़ने के लिये बैठता है तब अध्यापक पर ही विश्वास किया जाता है। एक के अंक को अनेकबार लिखनेपर बहुत परिश्रमके बाद उसकी ठीक बनावट आ पाती है किन्तु हाथ जम जाने के बाद फिर दूसरे अंकों के सीखने में बहुत

देर नही लगती। ऐसा त्रैराशिक हिसाव नही लगाया जाता कि एक का अक सीखने मे इतना समय लगा है तो मैट्रिक, वी. ए. या एम ए. होने में कितना समय लगेगा। इसीप्रकार आत्मा का अनादि से पर के ऊपर रुचि का–अज्ञानभाव का लक्ष है, उस ससार की ओर के लक्ष को हटाकर आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने के लिये पहले सद्गुरु पर विश्वास करना चाहिये, उनका उपदेश बारम्बार अन्तरगमें पचाना चाहिये। प्रारभ में यह कठिन मालूम होता है, किन्तु वास्तव मे उसे कठिन नही मानना चाहिये।

यथार्थ समझ पूर्वक आत्माके अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभाव को एकवार स्वीकार करले और फिर उसीका अभ्यास हो जाय तो उसरूप अवस्था होजाती है अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था होजाती है। जो सत्यस्वरूप है वह त्रिकाल परनिमित्तके आश्रय से रहित है, पूर्ण परमात्म-स्वरूप है। आत्मा पर का कर्ता–भोक्ता नही है, सदा ज्ञातास्वरूप ही है। इसे स्वीकार करनेपर अन्तरग से अनन्त अनुकूलपुरुषार्थ प्रगट होजाता है।

अनादि से जो अत्यत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है उसे त्रैकालिक सत्यस्वरूप को समझने लिये यह समयसारशास्त्र है। तू शुद्ध परमात्मा है यह वात सर्वप्रथम ही सुनाई जाती है। तू विकाररूप नही है, मन, वाणी देहादिरूप नही है, निमित्ताधीन होनेवाला वर्तमान क्षणिक विकार तेरा स्वरूप नही है, परनिमित्त तुझे सहायता नही करते, क्योकि तू निमित्तरूप नही है और निमित्त तुझमें नहीं हैं। परवस्तु स्वभाव में नही है, इसलिये वह लाभ या हानि नही कर सकती। तू स्वतत्र है, निर्मल आनन्दघन है, ऐसा यथार्थ स्वरूप समझे विना चारित्र भी यथार्थ नही होता।

यथार्थस्वरूप को समझने के बाद तुरत ही रागद्वेष सर्वथा दूर नही होजाते। ज्ञानीके अल्पराग रहता है, किंतु उसका स्वामित्व नही होता। दृष्टि में से रागद्वेष का नाश करनेपर सपूर्ण ससारपक्ष का माहात्म्य छूट जाता है।

जैसे बठक में कांच का बड़ा सुन्दर झूमर लटक रहा हो और सेठजी (उसके मालिक) उसकी शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे हों, इतने में अचानक झूमर टूटकर नीचे गिर पड़े और उसके टुकड़े होजायें तथा उस समय घर में कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित न हो तब सेठजी विचार करते हैं कि इन टुकड़ों को जल्दी बाहर फेंक देना चाहिये नहीं तो बच्चों को लग जायेंगे। यों विचार कर स्वयं कांच के टुकड़े हाथ में लेते हैं और उन्हें बाहर फेंकने जाते हैं किन्तु सेठजी का मकान बहुत बड़ा है इसलिये बाहर तक पहुँचने में काफी समय लग जाता है उतने समय के लिये वह उन कांच के टुकड़ों को अपने हाथ में लिये रहते हैं फिर भी उन्हें अपने पास रखने का भाव नहीं है अर्थात् उन्हें पकड़े रखने में उत्साह या चाह नहीं है जिस झूमर की शोभा को देखकर वह स्वयं प्रसन्न होते थे उसके प्रत्येक टुकड़े को अब बाहर फेंक देना चाहते हैं। यह तो मात्र दृष्टांत है इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि अज्ञानदशा में जीव विकार को-पुण्य के संयोग को अपना मानकर उसमें फूलाफूला फिरता था-आनन्द मानता था किन्तु जब उसे भान हुआ कि विकार मेरा स्वरूप नहीं है पुण्य के संयोग में मेरी *आत्मशोभा नहीं है मैं तो अनन्तआनन्द का रसकन्द हूं* तब उसे शुभभाव का-पुण्य का भाव नहीं होता। पुरुषार्थ की हीनता से रागद्वेष पुण्यपाप के निकालने में समय लगता है तथापि वह अल्प रागादि में लगा हुआ दिखाई देनेपर भी उनमें उसका स्वामित्व नहीं होता। उसकी तुच्छता उसे मालूम होती है इसलिये वह उसे रखनेकी इच्छा नहीं करता। तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थों को जानने का मेरा स्वभाव है इसप्रकार स्वभाव की महत्ता प्रतीत होने पर-परका कर्तृत्व और स्वामित्व दूर होजाता है। स्वभाव का बल आने के बाद राग का भाव अल्पकाल रहता है किन्तु वह रखनेके लिये नहीं निकालने-दूर करने के लिये ही है। यद्यपि राग दूर करने में विलम्ब होता है फिर भी एक-दो भव में तीव्र पुरुषार्थ उत्पन्न करके पूर्ण मायदशा प्रगट कर ही लेगा। वस्तु का निमसत्वभाव जाना कि

तत्काल ही त्यागी हो जाय, ऐसा सभी के नही बनता, किन्तु दृष्टि अखड शुद्धस्वभाव पर गई है, उस दृष्टि के बल से तीव्र स्थिरता करके, अल्प-काल मे समस्त विकार दूर करके पूर्ण शुद्ध हो जायगा।

अज्ञानी बाह्य सयोग से, पुण्यादि से अपनी शोभा मानता है और विकार को अपना करना चाहता है, किन्तु विकारके शोथ से कुछ मोटा दिखाई देता हो तो वह वास्तव मे निरोगता से पुष्ट हुआ नही माना जाता, इसीप्रकार पुण्यबन्ध और विकार के शोथ से आत्मपुष्टि नही होती, पुण्यबध और विकार के शोथ से रहित आत्माकी निरोगता ही सच्ची निरोगता है।

इस गाथा मे आत्माको शुद्ध, ज्ञायक कहकर मोक्षका माणिक-स्थम्भ स्थापित किया है। जैसे विवाह से पूर्व माणिकस्तभ रोपा जाता है, उसीप्रकार जिसे मोक्ष की लगन लगी है उसे इस गाथा में आत्मा का जैसा यथार्थ स्वरूप बताया है वैसा ही प्रारम्भ में जानना चाहिये।

समयसार में कहा है कि आत्मा की महत्ता ज्ञात होनेसे पर की महत्ता चली जाती है।

आत्माकी जो स्वतत्र, शुद्ध, पूर्णदशा प्रगट होती है, वही मोक्ष है। वह मोक्ष बाहर से नहीं आता, किन्तु स्वभाव मे ही वह पूर्ण, निर्मलदशा शक्तिरूप से विद्यमान है। उसका मूल एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है। उसके बिना जीव धर्म के नामपर व्रत, क्रिया, तपश्चर्या इत्यादि सभी कुछ अनन्तबार कर चुका है। बाह्यप्रवृत्ति के द्वारा आत्मा में गुण प्रगट होगा, शुभविकल्प की सहायता से गुण होगा, ऐसा मानकर इस जीव ने अनन्तकाल मे जितना जो कुछ किया है उसका फल ससारभ्रमण ही हुआ है।

कोई अज्ञानी प्रश्न करता है कि—"क्या हमारे व्रत तपादिक का कुछ भी फल नही है?" उसका उत्तर यह है कि—व्रत–तपादि में यदि कषाय मन्द हो, दया, दान, भक्ति में राग–तृष्णा घटाये तो पुण्य बँधता है, किन्तु वह विकार है, इसलिये अविकारी आत्मा का धर्म नहीं है, और इसीलिये उससे मोक्षमार्ग प्रगट नही होता।

प्रश्न—प्रभो ! उस शुद्धात्माका स्वरूप समझाइये कि जिसकी रुचि होने से ही पुण्य–पापबंध की सहजरूप तुच्छता ज्ञात हो ?

उत्तर—खीर का स्वाद चखने के बाद बासी खिचड़ी के स्वाद लेने की वृत्ति छूट जाती है, उसकी तुच्छता मालूम होनेपर उसमें रस नहीं रहता। इसीप्रकार आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनुभव होनेपर आत्मिक सुखका संवेदन होकर सांसारिक विषय सुखों की तथा पुण्य–पाप की तुच्छता प्रतिभासित होने लगती है इसलिये उसमें रस नहीं पड़ता।

अशुभ को छोड़कर शुभभाव करने का निषेध नहीं है किन्तु उस शुभभाव को भी अभिप्राय में आदरणीय न माने तो वह सहज ही मालूम होजाय और उसकी महिमा अन्तरंग से छूट जाय। वह हठ से नहीं छूटती।

प्रश्न—आत्माको ज्ञायक कहने में जैसे ज्ञातृत्व आता है उसमें परवस्तु के जानने का स्वभाव है तब क्या पर के अवलम्बन से उसका ज्ञान होता है ?

उत्तर—जैसे दाह्य जो सोना है तदाकार होने से अग्नि को दाहक कहा जाता है किन्तु अग्नि सोने के रूप में (सोने के आकार में) परिणत नहीं होजाती—सोना अलग पड़ा रहता है और अग्नि निकल जाती है इसीप्रकार ज्ञायकआत्मा में परवस्तु का आकार ज्ञात होता है सो वह तो अपनी ज्ञान की ही निर्मलता दिखाई देती है। जैसे दर्पण की स्वच्छता में परवस्तु की उपस्थिति जैसी है वैसी स्वच्छ झलकती तो है किन्तु उसमें परवस्तु का आश्रयत्व नहीं है। इसीप्रकार ज्ञान में शब्द रस रूप गन्ध स्पर्श इत्यादि मालूम होते हैं उन्हें जानते समय भी ज्ञान ज्ञान को ही जानता है पर को नहीं जानता क्योंकि ज्ञान ज्ञेयों में नहीं जाता किन्तु वह सतत ज्ञायकरूप में रहता है। पर (ज्ञेय) सहज जाना जाता है ज्ञान का ऐसा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। *ज्ञान ज्ञान में रहकर अनेक ज्ञेयों का ज्ञान करता है।* यह ज्ञान की स्वच्छता का वैभव है।

ऊपर के दृष्टात मे अग्नि के साथ लकडी को न लेकर सोना लेने का कारण यह है कि सोना अग्नि से नाश को प्राप्त नही होता, लकडी नाश को प्राप्त होजाती है। ज्ञान मे जाने जाने से ज्ञेय पदार्थ कही नाश को प्राप्त नही होते, किन्तु वे ज्यो के त्यो बने रहते हैं। इसीप्रकार सोना भी ज्यो का त्यो बना रहता है, इसलिये उसे दृष्टात में लिया है।

जैसे सोने की अशुद्धता अग्नि मे नही आती, उसीप्रकार पर-ज्ञेयो को जानने से वे परज्ञेय स्वभाव मे नही आते। जैसा निमित्त उपस्थित होता है वैसा ही ज्ञान होता है, इसलिये पर के अवलम्बन से ज्ञान हुआ मालूम होता है, परन्तु उस समय भी ज्ञान तो ज्ञान से ही हुआ है। निमित्त से ज्ञान होता हो तो सबको एक सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता, इसलिये ज्ञान परावलम्बी नही है। ज्ञान मे जब ज्ञेय जाना जाता है तब ज्ञान अखण्ड—भिन्न ही रहता है और प्रस्तुत ज्ञेयपदार्थ भी उसके अपने भिन्नस्वरूपसे अखड रहता है। यथा:—

(१) ज्ञेय पदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, किन्तु इससे ज्ञान खट्टा नही हो जाता।

(२) पच्चीस हाथ का वृक्ष ज्ञान मे आने से ज्ञान उतना लम्बा नही हो जाता।

(३) ज्ञान पुण्य—पाप और राग को जानता तो है, किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता।

ऊपर मात्र थोडे दृष्टांत दिये हैं, इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

यद्यपि ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ कहलाता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नही है। ज्ञान ज्ञेय कि आकाररूप होता है ऐसा अर्थ ज्ञेयाकार का नही है, किंतु जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है, इस-लिये उसे ज्ञेयाकार कहा है। ज्ञान सदा ज्ञानगुण से ही होता है और वह ज्ञातास्वरूप से ही प्रवृत्ति करता है।

अज्ञानी की मान्यता पर के ऊपर है, इसलिये वह मानता है

कि मुझे पर के अवलम्बन से ज्ञान होता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीनसत्ता का नाश करता है और यही अनादि संसार का मूल है। वह मानता है कि अक्षर पुस्तक और उपदेश के शब्दों से मेरा ज्ञान होता है। यह उसकी अनादि की विपरीत मान्यता है। शब्दके अक्षर तो एक के बाद दूसरे क्रमशः उत्पन्न होते हैं उसके संयोग में भी क्रम है किन्तु ज्ञान सबका अक्रम होता है इसलिये शब्दादि से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान शब्द में से नहीं आता किन्तु शब्दादि जैसे निमित्त हों वैसा ज्ञान जान लेता है। ऐसा उसका सहजस्वभाव है। जानने की शक्ति आत्मा की है। पुस्तक पृष्ठ शब्द आत्माके सहायक नहीं हैं। पुस्तकों के बहुत से पृष्ठ पढ़ जाऊं तो ज्ञान अधिक बढ़े पौष्टिक भोजन करूं तो मस्तिष्क तर रहे और फिर ज्ञान भलीभांति विकसित हो बहुत से ज्ञेयों को जानलूं तो मेरे ज्ञान का विकास हो खूब देशाटन करूं दर्शनीय स्थानों को देखूं तो ज्ञान का विकास हो अनेकों के समागम में आऊं अनेक भाषाएं जानूं कई उपन्यास पढ़ूं तो बुद्धि खूब विकसित हो इसप्रकार परनिमित्त के कारण से ज्ञान का विकास माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। उस अपने आत्मा के सामर्थ्य की प्रतीति नहीं है पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा नहीं है। निमित्त से मुझे गुण होगा ऐसा माननेवाला यह मानता है कि अनन्त पर-पदार्थ राग करने योग्य हैं उसे रागरहित आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा नहीं है। जैसे मिठास गुड़ का स्वभाव है गुड़ और मिठास अभिन्न है गुड़में मिठास बाहर से नहीं आती इसीप्रकार ज्ञान आत्मा का स्वरूप है अर्थात् ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं इसलिये ज्ञान परपदार्थ से नहीं होता अथवा परपदार्थमें नहीं जाता। गुण गुणी से कभी भी भिन्न नहीं होता ऐसा कहने से प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता घोषित की जाती है। तू सदा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप पूर्ण प्रभु है यों कहकर सर्वज्ञदेव तेरी स्वतंत्रता घोषित करते हैं। जो ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भी कर्तव्य अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जानना गुण है जानने में रागद्वेष नहीं है। शुभाशुभ राग भी

ज्ञान का ज्ञेय है, इसलिये वह ज्ञान से भिन्न है। जिसने पर से भिन्न अखण्ड-ज्ञायकस्वभाव निज मे एकरूप से जाना उसे कदाचित् अल्पराग-द्वेष हो तो वह भी वास्तव मे उस ज्ञानमूर्ति का ज्ञेय है।

शब्द के द्वारा ज्ञान होता है, पर को जानते जानते ज्ञान प्रगट होता है, यह बात तीनकाल और तीनलोक मे मिथ्या है। आत्मा में जाननेरूप क्रिया के अतिरिक्त जो भी कुछ विरोधभाव मालूम होता है वह सब पर है। यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञान पर को जानता है, इसलिये परावलम्बी है, तो केवलज्ञान सबको जानता है इसलिये उसे भी पराधीन मानना पडेगा। ज्ञान पराधीन नही है, ज्ञान स्वय ही ज्ञेय को जानने पर ज्ञायकरूप मे मालूम होता है। जब शब्द मालूम होते है, तब भी स्वय ज्ञायकरूप मालूम होता है। ज्ञान तो प्रगट ज्ञानरूप में ही रहता है।

प्रश्न—क्या आत्मा के आकार है ?

उत्तर—हां, प्रत्येक वस्तु के अपना अपना आकार होता है, और आत्मा भी एकवस्तु है, इसलिये उसके भी आकार है ही। प्रत्येक वस्तु अपने आकाररूप है, पर के आकाररूप नही है। आत्मा के चैतन्य-स्वरूप अरूपी आकार है। जहां आत्मा को निराकार कहा गया है वहां ऐसा समझना चाहिये कि उसमें रूप, रस, गध, स्पर्शयुक्त जडवस्तु की तरह रूपी आकार नही है, अर्थात् रूपी पुद्गल की अपेक्षा से निराकार है। वस्तु अरूपी है, इसलिये उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी अरूपी हैं, तथापि वह वस्तु अपने आकारवाली है। आत्मा चैतन्य आनद की मूर्ति है। वह अभी वर्तमान शरीराकार से शरीर के बराबर क्षेत्र में विद्यमान है, फिर भी शरीर से भिन्न अपने गुण के आकार है।

कस्तूरीवाला मृग जैसे कस्तूरी की सुगधि को बाहर ढूंढता फिरता है, क्योकि वह ऐसा मानता है कि मैं तुच्छ डरपोक प्राणी हूं, मुझमें ऐसी सुगन्ध कैसे हो सकती है ? इसप्रकार अपनी महत्ताको भूलने से बाह्य मे भटकता है। इसप्रकार आत्मा मे पूर्ण ज्ञानगुण भरे पडे हैं, उन्हे बाहर ढूंढने वाला यह मानता है कि मुझमें कुछ शक्ति नही है।

यदि मैं पर के ऊपर लक्ष्य होने से कुछ करूँ तो गुण प्रगट हो क्योंकि वह ऐसा मानता है कि ऐसी महत्ता उसे प्रगट नहीं होती कि मैं पूर्ण प्रभु हूँ और ऐसा नहीं मानने से परमें महत्ता मानकर उसमें ही भटकता रहता है । मैं शुद्ध हूँ पूर्ण हूँ अकेला हूँ ऐसी श्रद्धा स्वतंत्रता का उपाय है ।

यह वस्तु अचिन्त्य है । तीर्थंकर भगवान ने जगत् के समक्ष अपूर्व वस्तु स्पष्टरूप में रखी है उसे कुन्दकुन्दाचार्य ने अमृतके पात्र में भरकर समयसार में प्रवाहित किया है । यदि वस्तुतत्त्व अभी समझ में न आये तो उसका पुन पुन परिचय करना चाहिये । समझनेवाला अपने को बराबर समझ सकता है । मन–इन्द्रियों से परे, अरूपी ज्ञाता होने से आत्मा सूक्ष्म है वह वाणी से नहीं पकड़ा जाता–अरूपी ज्ञान के द्वारा ही पकड़ा जाता है । जिसका स्वभाव अरूपी है जिसके गुण–पर्याय अरूपी हैं जिसका सर्वस्व अरूपी है उसे रूपी के द्वारा जानना चाहे तो सत्यस्वरूप नहीं जाना जा सकता । मन वाणी देहादिक रूपी की प्रवृत्ति से अरूपी ज्ञानमय आत्मा नहीं जाना जा सकता ।

रागादि पर विकार को जानने से आत्मा रागरूप पररूप, पर के गुणरूप पर की किसी अवस्थारूप नहीं हो जाता । परवस्तु की उपस्थिति ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हुई कि अज्ञानी यह मानता है कि मैं पुरुष हूँ मैं स्त्री हूँ मैं देह इन्द्रिय–जड़ की क्रिया करनेवाला हूँ पर मेरे आधार से है, मैं पर के आधार से हूँ किन्तु परमार्थ से वह रूप कभी भी नहीं होता । जैसे दीपक घटपट इत्यादि पर को प्रकाशित करते समय भी प्रकाश से अभिन्न और घटपटादि से भिन्न दीपक ही रहता है उसी प्रकार आत्मा पर को जानते समय भी ज्ञान से अभिन्न और पर से भिन्न ज्ञायक ही रहता है । दीपक को ज्ञान नहीं है जब कि आत्मा को ज्ञान है । अज्ञानी आत्मा अपनेको भूलकर यह मानता है कि अपना ज्ञान पर से आता है किन्तु दीपक की तरह ज्ञायक का कर्ता–कर्म ज्ञायक से अभिन्न होने से और परभावों से भिन्न होनेके कारण शरीर, मन वाणी तथा रागद्वेष की जितनी अवस्था होती है

उसके ज्ञायकरूप में आत्मा सदा उससे भिन्न ही रहता है।

जो स्वतंत्ररूप से रहकर करे सो कर्ता है। ज्ञायकस्वभाव से शरीरादिक भिन्न हैं, जहाँ ऐसा जाना कि जाननेवाला स्वयं कर्ता है और ज्ञायकरूप में अपने को जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है तथा कर्ता की ज्ञायकभाव की परिणति ज्ञाता की क्रिया है। वे तीनों (कर्ता–कर्म–क्रिया) ज्ञायकरूप से अभिन्न है।

सम्यग्दृष्टि जानने की क्रिया निज में करता है। अज्ञानी मानता है कि मैं पर से जानता हूँ, किन्तु मात्र ज्ञान में ही कर्ता का कार्य है, पर में नहीं, तथा पर के आधार से भी नहीं है। परवस्तु के कार्य आत्मा के आधीन नहीं हैं। पर का बहुत ध्यान रखूँ तो ऐसा हो, इस-प्रकार अज्ञानी मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यदि पुण्य के संयोग से कभी अपना इच्छित होता हुआ देखता है तो उसका वह अभिमान करने लगता है।

आत्मा का कर्ता कर्मपन दीपक के प्रकाश की भाँति अनन्य है। जैसे दीपक घटपट आदि परवस्तु को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, और अपनेको–अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है उसीप्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

ये तो सूत्र हैं, इनमें गूढरहस्य भरा हुआ है। जैसे खुले हुये पत्र में दो पंक्तियों में लिखा हो कि वैशाख सुदी द्वितीया के वायदे की ४५०) से ४७५) तक में एक लाख गाँठ रुई की लेना है ? यद्यपि यह बहुत संक्षेप में लिखा है तथापि उसमें खरीद देने वाले और उसकी प्रतीति रखनेवाले आढतिया की हिम्मत, विश्वास, रकम और प्रतिष्ठा कैसी और कितनी है यह सब उसका जाननेवाला समझ लेता है। शब्दों में यह सब नहीं लिखा है, किन्तु जाननेवाला दोनों व्यापारी का भाव, वैभव और उनकी प्रतिष्ठा इत्यादि को जान लेता है, इसीप्रकार आत्मा के पूर्ण केवलज्ञान स्वभाव से कहे गए शास्त्रों का गूढरहस्य डेढ पंक्ति में सूत्र–रूप में लिखा हो तथापि उसे जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी उतने में से

सब भाव समझ लेता है। इसप्रकार इस छट्ठी गाथा में धर्म की बहुत गम्भीरता भरी हुई है।

परनिमित्त से रहित ज्ञान की अवस्थारूप से होनेवाला जो है सो कर्ता और ज्ञायकरूप में जो अवस्था निज में हुई सो-कर्म है। इसी प्रकार स्व से एकत्व और पर से भिन्न ध्रुवस्वभावी हूँ ऐसा अन्तरंग में निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार निज को निज में ही देखना सो धर्म का अंश है।

भावार्थ —जैसे एकसे स्वर्ण में अशुद्धता नहीं कही जा सकती किन्तु किसी दूसरी धातु का संयोग हो तो उसके आरोप से अशुद्धता कही जाती है इसीप्रकार जीव में जो अशुद्धता अर्थात् विकार होता है वह परद्रव्य के संयोग से होता है। जैसे तांबे के संयोग में रहने पर भी सोना सोनेरूप से बदल कर तांबे के रूप में नहीं हो जाता इसीप्रकार वर्तमान अवस्था में पर के संयोग से विकारी होनेपर भी आत्मा सम्पूर्ण विकाररूप नहीं हो जाता। मूल ज्ञायकस्वभाव से निरपेक्ष, अविकारी शुद्ध ही रहता है।

जैसे—यदि सुवर्ण को पर के संयोग के समय सर्वथा अशुद्ध ही मानें तो वह शुद्ध नहीं हो सकेगा। वर्तमान में भी मूल स्वरूप तो सोंऽयो शुद्ध ही है ऐसे लक्ष से सोना शुद्ध हो सकता है इसीप्रकार चैतन्यभगवान आत्मा में वर्तमान में कर्माधीनता से होनेवाली मलिनता दिखाई देती है तथापि वर्तमान अवस्था में भी मूलस्वभाव अखण्ड ज्ञायकरूप से शुद्ध ही है। इसप्रकार वर्तमान में पूर्णवस्तुस्वभाव रूप से देखने से और उसमें एकाग्रता करने से चैतन्यभगवान आत्मा को पूर्ण निर्मलता प्रगट होती है।

प्रश्न—भगवान आत्मा का लक्ष करने के लिये किससे कहा जाता है ?

उत्तर—जो भगवान हो गये हैं उन्हें तो कुछ करना शेष है नहीं इसलिये उनके लिए यह कथन नहीं है किन्तु जो भगवान होना चाहते हैं वैसे साधकों के लिए यह कथन है। पूर्णदशा होने से पूर्व

पूर्ण शुद्ध की पहचान करना आवश्यक है। जिसे स्वाधीन होना है उसे पूर्ण स्वाधीनता के उपाय की शुद्धदृष्टि बताई जाती है, और यही सर्व प्रथम धर्म का उपाय है।

जैसे सफेद वस्त्र मलिन अवस्था वाला दिखाई देता है, उस समय बालक भी जानता है कि जो मैल का भाग है सो वह वस्त्र का नही, किन्तु पर का सयोग है। वस्त्र का मूल स्वरूप वर्तमान मे भी सफेद है, ऐसी दृष्टि पहले से रखकर मैल दूर करने का उपाय करता है, इसीप्रकार आत्मा में वर्तमान मे जो मलिनता मालूम होती है वह क्षणिक और निमित्ताधीन है, स्वभाव से तो वह निर्मल ही है। इसप्रकार नित्य-अविकारी के लक्ष से क्षणिक विकार दूर किया जा सकता है, इसलिये भेदज्ञान वाली शुद्धज्ञानदृष्टि सर्वप्रथम प्रगट करना चाहिए।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निजगुण चीर॥
(बनारसी कृत समयसार नाटक)

मै राग अथवा विकाररूप नही हूँ, ऐसी निर्मलता की दृष्टि के द्वारा ध्रुवस्वभाव के ऊपर अभेदलक्ष करने पर स्थिरता प्रगट होती है। भगवान आत्मा ऐसा निर्मल, आनन्दघन है।

आत्मा में होनेवाली वर्तमान क्षणिक अवस्था को गौण करके आत्मा का जैसा शुद्धस्वभाव है वैसा अखण्डरूप से लक्ष में लेना सो सम्यग्दर्शन है।

जो निर्मल, एकरूप-ज्ञायकरूप में रहे वही मेरा स्वभाव है, क्षणिक मलिनता मेरा स्वभाव नही है। इसप्रकार मानना ही प्रारंभिक धर्म है।

पुण्य-पाप विकार से भिन्न, अनन्त ज्ञानानन्दमूर्ति प्रत्येक क्षण में पवित्र है, ऐसे भगवान आत्मा को सत्समागम के द्वारा अन्तरग में समझे बिना धर्म का प्रारम्भ भी नही होता और आत्मा

की शुद्ध प्रतीति के बिना स्वतन्त्रता की प्राप्ति और बन्धन का नाश नहीं होता।

आत्मा के शुद्धस्वरूप को समझने की तैयारी करने के लिये पात्रता की बात कई बार हो चुकी है। मुमुक्षु को तृष्णा की कमी, दान, करुणा सत्य ब्रह्मचर्य का रंग, धर्म का प्रेम प्रभावना, भक्ति तीव्र आसक्ति का ह्रास और मानादि के मंद पड़ जाने की अभ्यासरूप लौकिक व्यवहारनीति तो होनी ही चाहिये किन्तु वह अपूर्व नहीं है। यहाँ प्रारम्भ तो आत्मा में लोकोत्तर नीति से ही होता है। अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यभव मिला है फिर भी जैसा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं वैसे स्वतंत्र आत्मतत्त्व को तूने नहीं जाना तो फिर तेरा मनुष्यत्व किस काम का ? तेरी अपनी महिमा जाने बिना तृष्णा–ममता वास्तव में मंद नहीं पड़ती इसलिये कहा है कि समझने से पूर्व यदि आसक्ति कम हो तो थोड़ी घटती है किन्तु यदि समझ गया तो सहज ही अनन्ती ममता और तृष्णा दूर हो जाती है। मूल समझ के ऊपर ही भार दिया है। निरपेक्षस्वरूप को समझे बिना मात्र व्यवहार में शुभभाव करके अनन्तबार नवग्रैवेयक पर्यंतके देवभव में हो आया किन्तु भव कम नहीं हुए, इसलिये वीतरागदेव कहते हैं कि पहले अविकारी आत्मा को पहिचान। वर्तमान में साक्षात् श्री सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्र में परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हैं वे भी इसीप्रकार से स्पष्ट मार्ग बतलाते हैं।

संसार की रुचि छोड़कर मोक्ष की सीढ़ी (सम्यग्दर्शन) पर आकर देखे तो आत्मा का समस्त वैभव जैसा है वैसा दिखाई दे। नीचे–ऊपर के कमरे में वैभव भरा है उसे देखने के लिये सीढ़ी पर चढ़ना चाहिये तब ही ऊपर क्या है सो दिखाई देता है किन्तु नीचे के कमरे में खड़ा रहकर वैभव के अस्तित्व से इन्कार करे तो उसे वह कैसे दिखाई दे सकता है ? इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान् साक्षात् ज्ञान से आत्मा की पूर्णसमृद्धि के सम्बन्ध में क्या कहना चाहते हैं उसकी प्राप्ति कैसे हो और उस प्राप्ति का उपाय क्या है, वह

जानना हो तो मोक्ष की सीढी पर (चौथे गुणस्थान से सम्यग्दृष्टि होकर) चढना चाहिये।

मजिल पर जानेवाला पूर्ण सामग्री का साक्षात् अनुभव करे और मजिल पर चढते हुये ऊपर को गर्दन उठाकर देखे तो यह सब ज्ञात होजाय कि ऊपर मजिल मे क्या है। इसीप्रकार पूर्ण साध्य के लक्ष से—राग से भिन्न होकर, भीतर गुण मे जो अखण्ड ज्ञायक है वही मैं हूँ, इसप्रकार अनुभव करे तो पूर्ण साक्षात् ज्ञानी की भांति अशत देखकर पूर्ण त्रैकालिक स्वभाव को जैसा का तैसा पहिचान लेता है। परमात्मा कैसा होता है, उसका साधन कैसा होता है, बीच में विकार (बाधक भाव) कितना होता है, वह सब स्वय ज्ञायक होने से, स्व—पर का विवेक करने से जान लेता है। जिसप्रकार मजिल पर जाने के लिये जीने पर चढते हुए सब सीधा दिखाई देता है, उसीप्रकार मोक्ष की सीढी पर चढने के प्रारम्भ में ही स्वभाव क्या है, पुण्य—पाप विकार क्या हैं, नित्यता—अनित्यता, सयोगी—असयोगी तत्त्व कौन हैं, इत्यादि सब जान जाता है। अविरोधी न्याय के द्वारा एक आत्मा के जानने से सब जाना जाता है, किन्तु उसे जाने बिना बहुत शास्त्र पढ़े, बहुत पुण्य की क्रिया की, अनन्तवार नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भव—भ्रमण नही मिटा। जो नवमें ग्रैवेयक के देव का उच्च पुण्य बांधता है उसका बाह्य—व्यवहार बहुत ऊँचा होता है। जैसे कि नग्न-दिगम्बर मुनि हो पांचमहाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि भलीभांति पालन करता हो और यदि कोई शरीर पर कांटे रखकर आग लगा दे तो भी क्रोध न करे। ऐसा अनन्तबार किया, किन्तु निरपेक्ष, निरालम्बी ज्ञायक आत्मा को पृथक् नही जाना, इसलिये भव—भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जो जीव मनुष्यत्व प्राप्त करने पर भी स्वतत्र आत्मतत्त्व को परमार्थ से श्रवण नही करता, समझने की चिन्ता नही करता उसके त्रस की स्थिति का काल पूर्ण होने आया है। सत्स्वरूप को सुनने का अमूल्य अवसर छोडकर वह अनन्तानन्त काल तक एकेन्द्रिय,

निगोद में जाने की तैयारी कर रहा है। फिर अनन्तकाल में भी वह मनुष्य तो क्या लट (दो इन्द्रिय जीव) इत्यादि त्रस पर्याय को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

आत्मा का स्वभाव ज्ञायकमात्र है और उसकी अवस्था पु कर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है वह पर्याय है। पर्याय की दृष्टि से देखा जाय तो वह मलिन ही दिखाई देता है और यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकत्व ही है वह कहीं जड़रूप नहीं हो गया है। यहाँ द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कथन है। त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव आत्मा पर से भिन्न ही है ऐसी निर्मल गुणदृष्टिमें वर्तमान क्षणिक अवस्था मुख्य नहीं गिनी गई है इसलिये जो प्रमत्त–अप्रमत्तका भेद है वह तो परद्रव्य के संयोगजनित पर्यायरूप से है। वह क्षणिक अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है।

एक वस्तु में दो प्रकार होते हैं एक क्षणिक निमित्ताधीन भाव और दूसरा ध्रुव सामान्य स्वभाव है। उस सामान्य स्वभाव को देखें तो जो त्रिकाल ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है पररूप में तथा क्षणिक विकाररूप में वह नहीं होता इसलिये शुद्ध है।

किसी बड़ी लकड़ी के थोड़े से भाग में अच्छी कारीगरी की गई हो और उसका शेष सम्पूर्ण भाग सादा हो तो उस सादा भाग को देखते समय कारीगरी का थोड़ा सा भाग मुख्य नहीं होता इसीप्रकार आत्मा में वर्तमान अवस्था प्रत्येक समय की स्थितिरूप से पर–निमित्ताधीन अनादि से विद्यमान है वह पुण्य–पाप का क्षणिक विकार वर्तमान मात्र का है। उसे गौण करके पर–निमित्त से रहित एकरूप सामान्य त्रिकाल निर्मल दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा पहले शुद्ध ज्ञायकरूप था वर्तमान में है और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा।

जैसे पहाड़ पर चढ़ते समय ऊपर का ध्यान मुख्य होता है और तलहटी का ध्यान गौण होता है उसीप्रकार साध्य जो शुद्ध आत्मा है उसे मुख्य ज्ञायकस्वभावरूप से लक्ष में लेने से, ऊर्ध्व सामान्यस्वभाव को देखने से वर्तमान मलिनता गौण हो जाती है।

आत्मा का स्वभाव जड से, विकार से, रजकण के स्वभाव से तथा अन्य सब से पृथक् ही है। विकार क्षणिक अवस्थामात्र को ही होता है। विकार के दो क्षण कभी इकट्ठे नही हुए। प्रथम समय मे विकार किया, उसे दूसरे समय मे नवीन विपरीत पुरुषार्थ से ग्रहण करके दूसरे समय में दूसरा नया विकार करता है। इसप्रकार जीव परपरा से प्रत्येक समय का भिन्न-भिन्न विकार करता चला आ रहा है, उसे नित्य-अविकारी स्वभाव के लक्ष से तोडा जा सकता है।

लोगो ने यह बात नही सुनी, मुझमे क्या हो रहा है, स्वभाव क्या है विभाव क्या है, इसकी कुछ खबर नही है। जिससे हित होता है उसकी खबर न रखे और जिससे अपना कुछ भी हित नही होता ऐसे पर पदार्थोंकी (जैसे कि घरमें कितना पैसा है, घरकी खिडकीमे कितनी छडें हैं, फर्नीचर कितना है, इत्यादि पर की) खबर रखता है।

स्फटिकमणि पर के सयोग से रगीन दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमान मे स्वभाव से स्वच्छ देखा जा सकता है। सफेद वस्त्र भी परनिमित्त से मैला दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमान में स्वच्छ देख सकते हैं। यह तो दृष्टान्त है। उसमे देखनेवाला दूसरा है, वह यों कहता है, किन्तु आत्मा में जो वर्तमान मलिन अवस्था है। वह मूल स्वभाव नहीं है, इसलिये वर्तमान मे मलिन अवस्थावाला जीव भी उसका निर्मल स्वभाव देख सकता है।

प्रश्न—अशुद्ध अवस्था मे स्थित जीव को शुद्ध अवस्थामे स्थित जीव मूल शुद्धस्वरूप से देख सकता है यह तो सभव है, किन्तु निचली (अशुद्ध) अवस्था मे स्थित जीव को शुद्ध स्वभाव कैसे ज्ञात हो सकता है ?

उत्तर—आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण हे। उसमें चारित्र और श्रद्धा गुण मलिन परिणमित होता है, किन्तु ज्ञानगुण त्रिकाल ज्ञानरूप से रहता है, रागरूप से नही। इसलिये ज्ञान ज्ञायक-स्वभाव से स्व-पर को जानता है। इससे अशुद्ध अवस्था के समय भी पूर्ण शुद्धस्वभाव कैसा है, उसे आत्मा जान लेता है। अज्ञानी के भी

ज्ञान अस्तिरूप से है। राग को भिन्नरूप मानने से उसका ज्ञान नास्ति रूप हुआ दिखाई देता है। इसप्रकार ज्ञानगुण और वीर्यगुण में विपरीतता नहीं है किन्तु कमी हो जाती है। अज्ञानदशा में भी ज्ञान गुण की प्रगटता तो होती ही है उस प्रगटता को स्वाभिमुख करे तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हो सकता है और जीव उसके द्वारा त्रैकालिक निर्मल स्वभाव को जान लेता है।

श्रद्धा और चारित्र गुण के कार्य की अपेक्षा ज्ञानगुणका कार्य भिन्न है क्योंकि वह ज्ञानगुण है अर्थात् वह जानने का कार्य करता है। ज्ञानगुण निर्मलता को प्रथम बतलाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान हुआ और उसमें जो ज्ञायकरूप से प्रथम ज्ञात हुआ सो वह पहले ज्ञायक ही था वर्तमान में ज्ञायक है और भविष्य में ज्ञायकरूप ही रहेगा। सदा ज्ञायकरूप होने से चारित्रगुण में जो कुछ अशुद्ध अवस्था रह जाती है उसे ज्ञान जान लेता है। वह अशुद्धता यहाँ गौण है। इसप्रकार साधक भाव में गुण के कार्य का भेद होता है।

प्रश्न—अशुद्ध अवस्था गौण कैसे है ?

उत्तर—श्रद्धा और ज्ञानगुण का लक्ष अखण्ड–ज्ञायक तत्त्व पर है। उस श्रद्धा के बल से निर्मलता बढ़ती है और इसलिये वर्तमान क्षणिक मलिनता गौण हो जाती है। आत्मा में अशुद्ध अवस्था क्षणिक वर्तमान एक समयमात्र की नई होती है उसके नाश की प्रतीति का यहाँ बल है। अखण्ड ध्रुव की दृष्टि के लक्ष्य में शुद्ध द्रव्यस्वभाव की मुख्यता रहती है वह द्रव्यदृष्टि है और उस द्रव्यदृष्टि से बदलनेवाला क्षणिक विकार को लक्ष में नहीं लेता।

जैसे शरीर के किसी एक अंग पर फोड़ा हुआ हो तो कुछ ही उपचार के बाद उसे ऊपर से ठीक होता देखकर और यह जानकर कि भीतर से सड़ा नहीं है सम्पूर्ण निरोग शरीर के लक्ष्य से *वर्तमान में भी डाक्टर कह देता है कि थोड़ी कसर रह गई है* किन्तु रोग मिट गया है चार–छह दिन में पूर्ण निरोग हो जाओगे इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप से संपूर्ण निरोगी है।

वर्तमान में होनेवाले क्षणिक पुण्य-पापादि विकार जितना ही मैं हूँ, इसप्रकार जो जीव अपने को विकार-रोगरूप मानता है, उसका विकार-रोग नही मिटता, किन्तु वर्तमान क्षणिक अवस्था ही मलिन है तो भी भीतर से अर्थात् शक्तिरूप से वर्तमान मे त्रिकाल पूर्ण निर्मल हूँ, ऐसे पूर्ण निरोगस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसके क्षणिक रागरूपी रोग का नाश होजाता है।

जैसा कि ऊपर कहा है वैसे तत्त्व की प्रतीति के विना जिसका जीवन यो ही पूरा होगया उसका जीवन कीड़ी मकोडे के समान है। जिसने इस अपूर्व तत्त्व को जान लिया है उसका जीवन मोक्ष-निवास के योग्य होगया है।

मै पर से सर्वथा भिन्न, पूर्ण स्वतन्त्र हूँ, मैं ऐसा पराधीन नही हूँ कि जिसे अन्य की सहायता की आवश्यकता हो। ऐसी प्रतीति के विना कोई भले ही सम्पत्तिशाली हो तो भी वह गरीब और पराधीन है। जो अधिक मांगता है वह बड़ा मंगता (भिखारी) है और जो थोड़ा मांगता है वह छोटा मंगता (भिखारी) है।

आत्मा की समृद्धि की प्रतीति के विना सभी रक-भिखारी हैं। वर्तमान मलिनता का लक्ष्य गौण करके, निरोग निर्मल ज्ञायकस्वरूप को देखने की श्रद्धा ही पूर्ण निरोग-मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। अन्तरग मे यथार्थ समझ हुई कि तत्क्षण ही समस्त राग या अस्थिरतारूप अशक्ति दूर नही हो जाती, किन्तु जिसप्रकार रोग उपशान्त हो रहा हो और यह मालूम हो जाय कि रोग अब दो-चार दिन मे बिल्कुल मिट जायगा अथवा रोग के दूर हो जाने के बाद मनुष्य के थोडी सी कमजोरी रह जाती है वह भी अब निरोगता को ध्यान में रखते हुये खुराक लेने से थोडे ही समय में दूर होजायगी और शरीर पुष्ट होजायगा। (यदि रोग के रहते हुये पुष्टि कारक खुराक ले तो रोग बढता है) इसीप्रकार अन्तर में प्रतीति होनेपर पूर्ण निरोग होने की आन्तरिक स्थिरतारूप आनन्द की खुराक लेकर पूर्ण

पुष्ट (सर्वज्ञत्व) अल्पकाल में हो जायगा किन्तु अविकारी निरोगी तत्त्व की समझ के बिना राग बढ़ जायगा । मैं वर्तमान मलिन अवस्था मात्र हो नहीं हूँ किन्तु वर्तमान में पूर्ण ध्रुवस्वभाव निर्मल हूँ ऐसे बल से आंशिक निर्मलता –निरोगता तो प्रगट हुई और उसी स्वभाव के बल से अल्पकाल में साक्षात् मोक्षदशा प्रगट होगी है इसप्रकार वर्तमान निर्मल अंश से सम्पूर्ण निर्मल मोक्ष को जानता है । किन्तु जिसके आत्मा में भव की भ्रान्तिरूप परमें स्वामित्व कर्तृत्व मानने का रोग दूर नहीं हुआ उसे पुण्य के शोध से निरोगीपन प्राप्त नहीं होता ।

आत्मभ्रांति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान ।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान ॥
(आत्मसिद्धि)

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी सबसे पहले भावनिद्रा और भावरोग को दूर करने का उपाय करने को कहा है । अपने को ज्ञाता–साक्षीरूपसे भूलकर परको अपना माननेरूप आत्मभ्रांति के समान जगत् में कोई रोग नहीं है । पुण्य–पाप मेरे हैं मैं पर का काम कर सकता हूँ पर मुझे सहायता करता है देहादि की क्रिया मेरे आधीन है इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यतारूप रोग अनादि का है उसे दूर करने के लिये *सद्गुरु चतुरवैद्य हैं अर्थात् सुज्ञानी गुरु होना चाहिये और गुरु* आज्ञा सम पथ्य नहिं औषध विचार ध्यान । औषधि में पथ्य की विशेषता है सर्वज्ञ के कहे हुये आशय के अनुसार अपना हित–अहित क्या है इसका विवेक अन्तरंग में लाना चाहिये यही सच्चा पथ्य है उस पथ्य सहित औषधिरूपी सुविचार को लेकर ध्यान करते करते स्वरूप की महिमा में स्थिर होना सो चारित्र है । सम्यक्चारित्र के होनेपर पूर्ण वीतरागता होकर निर्मल मोक्षदशा अवश्य प्राप्त होगी ।

ज्ञान और ज्ञान की क्रिया निश्चय–व्यवहार निज में होता है । अशुद्धि द्रव्यदृष्टि में गौण है व्यवहार (पराश्रितभाव) है अभूतार्थ (जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणिकभाव) है असत्यार्थ (त्रिकाल रहने वाले स्वरूप से विपरीत) है उपचार (जो पर निमित्त से होता है) है । द्रव्यदृष्टि शुद्ध है अभेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये समस्त

गुण निज में एक साथ अभेद) है, निश्चय (परनिमित्त की अपेक्षा से रहित, स्वाश्रित) है, भूतार्थ (त्रिकाल रहनेवाला) है, सत्यार्थ (निर्मल स्वतन्त्ररूप से अपना अस्तित्वभाव) है, परमार्थ है, इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है, उसमे भेद नही है, इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नही है।

उसे 'ज्ञायक' नाम ज्ञेय को जानने से दिया गया है। सामने जैसा पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान ज्ञानमें होता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धि नही है।

ज्ञान के द्वारा श्रद्धा का लक्ष होता है, श्रद्धा स्वभाव के ऊपर लक्ष्य करने से प्रगट होती है और श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्व को लेकर ज्ञान मे भी सम्यक्पना आता है।

शुद्धनय (सम्यक् श्रुतज्ञान के अश) के द्वारा आत्मा को परसे निराला, अखण्ड ज्ञायकरूप से लक्ष में लेना और ऐसा मानना कि इसी स्वरूप में त्रिकाल रहता है सो सम्यक्श्रद्धा है।

जो त्रिकाल एकरूप निर्मल रहे उसे सामान्यद्रव्यस्वभाव कहा जाता है। जो आत्मा का स्वभाव हो वह दूर नही हो सकता और जो दूर हो जाता है वह (पुण्य-पाप-विकार) उसका स्वरूप नही है।

शरीर, मन, वाणी को हटाना नही पड़ता क्योकि वे अलग ही हैं, वे अपने कारण से अपने में रहते हैं, आत्मा में नही रहते। वर्तमान अवस्था में कर्म के निमित्त से शुभ-अशुभ विकारी भाव होता है सो वह भगवान आत्मा का स्वरूप नही है। जो भाव नाश होता है उसे अपना मानना सो मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप का आदर अविकारी का अनादर है। पूर्णकृतकृत्य आनन्दस्वरूप में त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकरूप में रहना ही आत्मा का शुद्धस्वरूप है। यह शुद्धनय के आश्रय का फल है।

जैसे पानी के प्रवाह में परवस्तु (पुल, नाला) के निमित्त से खण्ड (भेद) होता है, किन्तु वह पानी के सीधे प्रवाह का स्वरूप

नहीं है, उसीप्रकार परसंयोग से उत्पन्न शुभाशुभभाव के द्वारा आत्मा में जो भेद होजाता है वह शुद्ध आत्मा का स्वरूप नहीं है वे सर्व भेद अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।

आत्मा में क्या हो रहा है वह क्यों मान रहा है और उपादेय क्या है ? यह यहाँ कहा जाता है। जगत् जैसा मान रहा है वैसा ही कर रहा है किन्तु वह सब वृथा है। तत्त्व के समझे बिना जन्म–मरण का अन्त नहीं होता। अनादिकाल से जिस भाव से जीव भ्रमण कर रहा है उस बन्धभाव का यदि आत्मप्रतीति के द्वारा नाश न करे तो मिथ्याश्रद्धा में अनन्तभव कराने की शक्ति है।

यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बातें हमारे समझमें नहीं आतीं तो उसके उत्तर में यों कहना चाहिये कि इसके समझे बिना नहीं चल सकता। सच्चा सुख चाहिये हो तो पर से भिन्नरूप में धर्म को समझना चाहिये। आत्मा अरूपी है उसका भाव अरूपी है इसलिये समझ में नहीं आता ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्माको यथार्थ जानकर पुण्य–पाप की प्रवृत्ति से छूटकर निज में स्थिर होकर अनन्तजीव मोक्ष गये हैं। जितना प्रत्येक आत्मा में सामर्थ्य है उतना ही कहा जाता है। प्रत्येक आत्मा की जाति एक ही है इसलिये सर्वज्ञ भगवान ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा जो प्रगट करना चाहे वह उसे समझकर प्रगट कर सकता है। कोई एक ही आत्मा ऐसी प्रतीति कर सकता है दूसरा नहीं कर सकता ऐसी बात नहीं है।

आत्मस्वभाव तो सदा शुद्ध ही है, उसमें से विकार या अशुद्धता नहीं आती। आत्मा पर के निमित्त से रहित अनन्तगुणों की खान है। परसंयोग के वश से पर में अच्छा–बुरा मानने से वर्तमान अवस्था में पुण्य–पाप होता है।

लोग कहते हैं कि हमें आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। आचार्य उनसे पूछते हैं कि जगत के जड़ पदार्थों में सुख है यह आँखों से प्रत्यक्ष देखकर किसने निश्चय किया है ? सुख पर में है ऐसी कल्पना किसने की और कहाँ की है ? इसकी कोई भी खबर नहीं है।

इसका कारण ज्ञानकी मूढता है। चैतन्य भगवान पर से भिन्न, पर के आश्रय से रहित है। उसकी प्रतीति के बिना जीव भले ही बहुत सम्पत्तिशाली हो, विशाल भवनमे रहता हो, फिर भी वह वैसा ही है, जैसे पर्वतो की गुफाओ मे अजगर आदि पडे रहते हैं, क्योकि जिसे हित–अहित का परमार्थत. भान नही है वह मूढ ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड में कहा है कि जिन्हे आत्मा की खबर नही है वे मानो चलते–फिरते मुर्दे हैं।

जो जड आदि जाना जाता है वह जड मे नही जाना जाता, किन्तु ज्ञान से ज्ञान मे जाना जाता है, ज्ञान ज्ञान की अवस्थामे रहकर जानता है। ज्ञान मे अपनी ज्ञानरूप अवस्था दिखाई देती है।

अज्ञानी जडमे–देह, इन्द्रिय, स्त्री, धन आदि मे सुख मानता है, किंतु यह कल्पना मात्र है। यदि जड़ के टुकडे करके उसमे देखे तो सुख कही भी दिखाई नही देगा, फिर भी अज्ञानी मूढता के कारण पर में सुख मानता है। वर्ण, गन्ध, रस अथवा स्पर्श में किंचित्मात्र सुख नही है। अज्ञानी ने बिना देखे ऊपर से कल्पना करके उनमें सुख मान रखा है। मैंने किस स्थान से सुख का निश्चय किया है, इसकी भी उसे खबर नही है, फिर भी अज्ञानी उस कल्पना में ऐसा नि.शक लीन हो गया है कि वह उससे भिन्न कुछ भी निश्चित करने के लिये तैयार नही होता। शरीर, इन्द्रिय, धन, मकान आदि जड को यह खबर नही है कि हम कौन हैं। खबर करने वाला तो स्वय है, फिर भी कीमत दूसरे की आकता है। सम्यग्दर्शनगुण की विपरीत अवस्था के द्वारा पर का कर्ता–भोक्ता है, पर में सुख–दु.ख है ऐसा मानकर पर में नि सदेह प्रवृत्ति कर रहा है जहाँ भूल होती है वहाँ यदि सुधार करने के लिये झुलट जाये तो यह स्पष्ट दिखाई देने लगे कि निराकुल, अतीन्द्रिय सुख–स्वभाव अपने मे ही है, उसमें कल्पना नही करनी पडती। अज्ञान अर्थात् अपने निर्मलस्वभाव की असमझ से उस अज्ञान के द्वारा पर में सुख की कल्पना कर रखी है। जिसमें सुख नही है उसमें सुख की कल्पना करके अज्ञानी जीव मद

आकुलता को सुख मान लेता है ।

आत्मा में शुभ अशुभ विकल्प क्षणिक भेदरूप ज्ञात होता है वह उपचार है अर्थात् परमार्थ से वह मिथ्या है । शरीर मन वाणी के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है आत्मा तो ज्ञान शान्ति निर्मलस्वभाव एकरूप है । उसमें पर के लक्ष से जो पुण्य–पापभाव का भेद होता है वह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय है ।

सच्चे आत्मतत्व की दृष्टि में विकार नहीं है क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है इसलिये वह पर्यायार्थिक है वह पराश्रित है इस लिये व्यवहार है जो व्यवहार है वह संयोगाधीन भाव है वह छोड़ने योग्य है जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि–अज्ञानी है ।

आत्मा ने अनन्तकाल में यह बात कभी नहीं सुनी तब फिर वह सच्चा मनन कहाँ से करेगा ? व्रत तप दया आदि के शुभभाव हो अथवा चोरी हिंसा आदि के अशुभभाव हों सो वे दोनों विकार हैं बन्धन हैं (मात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभभाव ठीक है किन्तु उससे धर्म नहीं होता) इसप्रकार जबतक नहीं समझता तबतक जीव पर के कर्तव्य का अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है ।

जो अविकारी शुद्धस्वभाव को अपना समझता है उसके परवस्तु की तृष्णा कम हुये बिना नहीं रहती । अज्ञानी जितना कर सकता है उससे अनन्तगुना शुभभाव ज्ञानी की भूमिका में हो जाता है। जबतक ज्ञानी के पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो तबतक निम्न भूमिका में अशुभ से बचने के लिये उसके शुभभाव होता तो है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता ।

रजकण देहादि की प्रवृत्ति और पुण्य–पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है ऐसी प्रथम श्रद्धा होने पर ही ज्ञानी के पर में अनन्ती आसक्ति का प्रेम दूर हो जाता है, फिर विवेक सहित अशुभ राग घटाने के लिये दानादि के द्वारा वह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता । अज्ञानी के द्वारा स्वामी बनकर किये गये पुण्य की अपेक्षा ज्ञानी के पुण्य का प्रकार पृथक होता है । देह की अमुक क्रिया हुई इसलिये पुण्य नहीं

होता, किन्तु उस समय अपने परिणाम शुभ करे तो पुण्य होता है। अज्ञानी स्वामीपने से पुण्य का शुभभाव करता है तो उसके फल से कभी देव या मनुष्य हो जाता है, किन्तु फिर मरकर तिर्यंच, नारकी, निगोद आदि चारो गतियो में परिभ्रमण करता है।

जिस भाव से बध होता है उस भाव से धर्म नही होता। मैं भिन्न निर्विकारी हूँ, कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार से भिन्न हूँ, ऐसी समझ जिसके नही है वह धर्म के नाम से जहाँ–तहाँ कर्तृत्व का अभिमान करेगा। वह शुभभाव करता है उसका अल्पपुण्य बँधेगा, किन्तु साथ ही मिथ्यादृष्टि का महान् पाप भी बँधेगा। यहाँ यह कहने का मतलब नही है कि पुण्य को छोडकर पाप करे, किन्तु तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के विकारी भाव का कर्तृत्व या स्वामित्व नही है। ज्ञानी लाखो का दान करता है फिर भी किसी शुभभाव में उसके स्वामित्व नही है, वह मेरा कर्तव्य नही है, देहादि की तथा दानादि की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ, किन्तु मै मात्र ज्ञानस्वभावका ही स्वामी हूँ, ऐसी दृष्टि अन्तरग में हुए बिना किसी को आत्मधर्म का अश भी प्रगट नही होता।

यहाँ यह बताना है कि जिनमत का कथन स्याद्वाद है। इसलिये अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिये, अशुद्ध अवस्था नही है यह नही मानना चाहिये। अशुद्धता अज्ञानभाव से है, द्रव्यस्वभाव में नही, यह जानना चाहिये।

आत्मा स्वभाव से निर्मल है। किन्तु वर्तमान अवस्था मे साक्षात् निर्मल नही है। यदि अवस्थासे निर्मल हो तो पुरुषार्थ करके राग दूर करने की आवश्यकता न रहे। यदि निर्मल अवस्था प्रगट हो तो प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त हो, किन्तु प्रत्यक्ष आनन्द नही है इसलिये अवस्था में अशुद्धता है। उसे दूर करने के लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

नित्यस्वभाव में रागद्वेष नही है, इसप्रकार निर्मलस्वभाव की श्रद्धा करने के लिये और निर्मलस्वभाव को उपादेय मानने के लिये कहा जाता है। पुण्य–पाप का विकारी भाव जीव की अवस्था में होता

है कुछ जड़–देह में शुभ–अशुभ विकल्प नहीं होता ? अशुद्धता पर द्रव्य के आश्रय से आत्मा में होती है पर में नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि शरीर का धर्म शरीर में होता है रोगादि की अवस्था देह में होती है यह सच है किन्तु आत्मा जो रोग देखकर द्वेष और निरोगता देखकर राग करता है वह आत्मा में होता है, संयोग से रागद्वेष–सुख–दुःख नहीं होता। फिर भी संयोग में ठीक–अठीक मानकर मैं रागी हूँ मैं द्वेषी हूँ इसप्रकार जीव विकार करता है और इसी से पर में सुख–दुःख की कल्पना करता है। उस अशुद्ध *अवस्था को अपनी मानने के रूपमें जो अशुद्धनय का पक्ष है वह त्याज्य* कहा गया है क्योंकि आत्मा में पर के आश्रय से जो पुण्य–पाप विकार होता है वह मेरा है ऐसी अशुद्धदृष्टिरूप व्यवहार का फल चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना है।

कोई कहता है कि अभी पाप को छोड़कर पुण्य करते हैं फिर बाद में धर्म करने लगेंगे। उससे कहते हैं कि अभी ही धर्म समझना चाहिये वर्तमानमें ही सच्ची समझ नहीं करके वह यदि स्वर्गमें जायगा तो वहाँ भी आकुलता का अनुभव करेगा अज्ञानी वहाँ भी इन्द्रियों के विषय की आकुलता से भीतर ही भीतर जल रहे हैं।

वीतरागदेव कहते हैं कि भगवान आत्मा के लक्ष्य को चूककर जो पुण्य–पाप के क्षणिक विकार को अपना मानता है उसे जन्म–मरण के दुःख फलते रहते हैं। जितना परलक्ष से पर में कल्पना से सुख माना वह सुख नहीं है। ज्ञानी के आत्मा के सुख के सामने इन्द्र का पद भी सड़े हुए तिनके के समान है। ज्ञानी के पुण्य की महिमा नहीं है आदर नहीं है वह तो गुण के जलने का फल है। पर को विकार को अपना माननेरूप व्यवहार का फल संसार है। जो विकार है वही मेरा कर्तव्य है ऐसा माननेवाला आत्मा संसार में दुःख भोगता है।

भगवान आत्मा निर्विकार पवित्र ज्ञानस्वरूप है उसे श्रद्धा में नहीं लिया और पुण्य–पाप के गीत गाता रहा तथा विकार और बंध

का आदर किया, उसे जन्म, जरा, मरण से रहित की श्रद्धा की खबर नही है, इसलिये वह पराश्रय से अच्छा–बुरा माननेरूप अज्ञान का फल–दुःख भोगता है।

पुण्य–पाप विकार मेरा स्वरूप नही है, मैं पूर्ण शुद्धस्वरूपी हूँ, इसप्रकार माने तो दुःख दूर होता है। इस दुःख को दूर करने के लिये शुद्धनय का उपदेश मुख्य है। जब शुद्धनय के द्वारा शुद्धस्वरूप जानकर निर्विकारीदशा प्रगट करता है तब जीव सुखी होता है, इसलिये शुद्धनय का उपदेश प्रथम से ही उपयोगी है। शुद्धस्वभाव को बताने वाला उपदेश खूब सुनना चाहिये।

आत्मा द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल निर्मल है, किन्तु वर्तमान अवस्था मे भी पुण्य–पाप का विकार उसे नही होता इसप्रकार सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है इसलिये सम्यक् अपेक्षाके भावको बराबर समझकर जो क्षणिक विकार है उस ओर का लक्ष छोडकर, मैं अविकारी अनन्त ज्ञानानन्द की मूर्ति हूँ, इसप्रकार अपने पूर्ण ध्रुव-स्वभाव को लक्ष में लेने वाली शुद्ध दृष्टिका अवलम्बन लेना चाहिये। पूर्णस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद अर्थात् पूर्ण वीतराग होने के बाद शुद्धनय का भी अवलम्बन नही रहता।

जैसे कोई राजपुत्र राजा होने योग्य हो, किन्तु जबतक वह वर्तमान मे संपूर्ण राज्य का स्वामी नही हुआ तबतक उसके विकल्प रहता है, किन्तु जब वह साक्षात् राजा होकर गादी पर बैठ जाता है और अपनी आज्ञा चलने लगती है तब फिर यह विकल्प नही रहता कि मैं राजा हूँ, और उसकी भावना भी नही रहती। इसीप्रकार प्रारम्भ में जो इतनी अवस्था मलिन है वह मैं नही हूँ किन्तु मैं तो पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ, इसप्रकार निर्मल पक्ष की ओर जाने के लिये झुकता है—उसकी भावना करता है, किन्तु जब वस्तु की प्रतीति करके निःशंक हो जाता है तब फिर स्वरूपका निर्णय करने का विकल्प नही रहता। निर्णय होने पर सम्यक्–श्रद्धा संबंधी विकल्प नही रहता।

प्रमाण का फल वीतरागता है। मैं द्रव्यस्वभाव से पवित्र हूँ, अवस्था से थोड़ी मलिनता है, स्वरूप में स्थिर होने पर वह मलिनता दूर होकर निर्विकल्पता आती है और उसका फल वीतरागता है इस प्रकार निश्चय करना योग्य है। गुणस्थान की परिपाटी में छट्ठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहा जाता है परन्तु इन सर्व गुणस्थानों में कर्म के निमित्त की अपेक्षा होती है यह अशुद्धनय के कथन की अपेक्षा से है शुद्धनय से आत्मा निपेक्ष ज्ञायक ही है।

प्रश्न—आत्मा अनन्त ज्ञानमूर्ति अपने अनन्तगुण से अभिन्न निर्मल पूर्ण और पर से भिन्न बताया गया है उसकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। उस पूर्णस्वरूप को पुण्य-पापादि पर से पृथक जानने वाला ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप चारित्र, इन तीनों को आत्मा का धर्म कहा गया है। यह तो तीन भेद हुए। इन भेदरूप भावों से आत्मा के अशुद्धत्व आता है या नहीं?

उत्तर—वस्तु अभेद है उसमें भेदरूप लक्ष करने पर राग (विकल्प) होता है और विकल्प में पर की अपेक्षा से जितनी जितनी अवस्था के प्रकार होते हैं उतनी अशुद्धता होती है। एक में अपेक्षा भेद नहीं होता। जब दूसरी वस्तु, पास में रखी जाती है तब इसकी अपेक्षा से छोटा और इसकी अपेक्षा से बड़ा ऐसा कहा जाता है और जब दूसरे की दृष्टि से देखने पर परकी अपेक्षा होती है। इसप्रकार चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प है उसमें राग-द्वेष पुण्य-पाप-विकार प्रमत्त-अप्रमत्त बंध-मोक्ष इत्यादि भेद परसंयोग की अपेक्षा से होते हैं। यदि आत्मा को अकेला सामान्यरूप से लक्षमें लें तो वह ज्ञायक चिदानन्द त्रिकाल निर्मल है, और ऐसे उसका एक ही प्रकार होता है।

यहाँ पर एक ही निरपेक्षस्वभावभावरूप से आत्मा कैसा है उसकी पहिचान करने की बात चल रही है। जो यह मानता है कि यह कठिन मालूम पड़ रहा है, हमारी समझ में नहीं आ सकता, वह

उसका पात्र होने पर भी अपात्रता की बातें करता है। आत्मा का स्वरूप समझना सहज है, क्योकि उसमे कष्ट नही है। जबकि दो घडी में मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है तब उसे कठिन कैसे कहा जाय ? पांच लाख का बँगला दो घड़ी मे नही बँध सकता, क्योंकि वह परवस्तु है और परवस्तु आत्मा के आधीन नही है, किन्तु आत्मा चिदानन्दमूर्ति है, ऐसी प्रतीति करके जो स्वभाव में स्थिर होता है उसे अन्तर्मुहूर्त मे पूर्ण निर्मल केवलज्ञानदशा प्राप्त हो जाती है इसलिये जो आत्मा की सत्ता की बात है वह सरल है।

प्रश्न—यदि आत्मा का ज्ञान सरल है तो जीव उसे समझकर शीघ्र स्थिर क्यो नही हो जाता ?

उत्तर—यहां प्रथम अपनी स्वाधीनता की निर्मल श्रद्धा करने की बात है। सच्ची आन्तरिक पहिचान होने के बाद उस निर्मल श्रद्धा के बल से जीव स्थिर हो जायगा और आत्मा के सम्पूर्ण शुद्धस्वरूप की श्रद्धा होने से वह अल्पकाल मे मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, इसलिये प्रथम सत्य का आदर करके उसकी रुचि बढानी चाहिये।

जो यह कहता है कि "अभी नही," वह मूर्ख है। जहाँ बारह महिनो में पांच लाख रुपये मिलते हो वहाँ यदि एक महिने में उतने मिल जायें तो उससे कौन इन्कार करेगा ? रुचिकर वस्तु अल्पकाल में मिल जाय तो लोग उसमें आनन्द मानते हैं। एक घन्टे में पांच लाख रुपये कमा लिये यह सुनते ही हृदय—उमग से भर जाता है। जिसे जिसकी रुचि होती है उसे उसकी प्राप्ति हुई जानकर हर्ष का पार नहीं रहता, उसे उसके प्रति बहुमान आये बिना नही रहता। किन्तु यह तो मात्र ससार के अनुकूल सयोग की बात हुई, जिसका फल शून्य है। क्योकि उससे आत्मलाभ कुछ नहीं होता। आत्मा की अपूर्व बात अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त कर लेने का सुयोग और उसकी महिमा को सुनकर जो हर्ष से उछल पडे और कहे कि मैं भी दो घडी में केवलज्ञान प्राप्त करने की पूर्ण शक्तिवाला हूं, वही सच्चा जिज्ञासु है। किन्तु यदि कोई यह मानले कि हम भी हां कहदें,

आचार्यदेव ने भी कहा है कि दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त हो जायगा किन्तु समझका कोई मेल नहीं बैठता, तथा यह न समझना चाहता हो कि चैतन्य की निर्मलता क्या है और मलिनता क्या है फिर भी केवल ज्ञान चाहिये हो तो यह कैसे हो सकता है ?

जैसे किसी को सिपाही होना है किन्तु उसने बन्दूक पकड़ने की कला प्राप्त नहीं की तो अभ्यास के बिना शत्रु को कैसे मार सकेगा ? इसीप्रकार स्वभाव परभाव हित–अहित क्या है यह जाने बिना तथा उसकी श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान के विवेक की कला को प्राप्त किये बिना राग–द्वेष को कैसे दूर कर सकेगा ? शास्त्रों में कहा है कि ४८ मिनट में आत्मा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह आत्मा की अनन्तशक्ति की महिमा के लिये कहा है। अनन्त आत्माएँ पूर्णपुरुषार्थ करके ४८ मिनट में केवलज्ञान को प्राप्त हो चुकी हैं, मैं भी वैसा ही हूँ ऐसा निर्णय करके वैसी भावना करना चाहिये।

आत्मा के परवस्तु का स्वामित्व त्रिकाल में भी नहीं है इस लिये परवस्तु में वह प्रवेश नहीं कर सकता। कदाचित् पूर्वपुण्य के निमित्त से उसे अपनी इच्छानुसार संयोग मिलता है किन्तु उसमें वर्तमान पुरुषार्थ किंचित्मात्र भी कार्यकारी नहीं है तब आत्मा में तो पुरुषार्थ ही कार्यकारी है। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये अनंतपुरुषार्थ करना चाहिये।

जैसे सोना एक है उसमें पीलापन चिकनापन और भारीपन ऐसे तीन भेदों को लक्ष में लेने से एकरूप सोना लक्ष में नहीं आता किन्तु भेद को गौण करके एकाकार सामान्य सुवर्ण को देखने से उसमें पीलापन चिकनापन इत्यादि का भेद दिखाई नहीं देता उसीप्रकार आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र, इन तीन गुणों से देखने पर एकत्व आत्मस्वरूप लक्ष में नहीं आता किन्तु विकल्प होकर भेद लक्ष में आता है। उसे वर्तमान पर्याय का भेदरूप लक्ष गौण कैसे है ? श्रद्धा ज्ञान चारित्र तीनों आत्मा में एकसाथ हैं ऐसे अभेद की श्रद्धा कैसे होगी ? इसप्रकार शिष्य प्रश्न करता है।

समाधान—आत्मा मे दर्शन–ज्ञान–चारित्र है, इसप्रकार तीनो का विचार करने पर राग की रेखा आजाती है इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र को पृथक् पृथक् भेदरूप लक्ष मे नही लेना चाहिये, किन्तु अविकारी, निरपेक्ष, पूर्ण अभेदरूपको लक्षमे लेना चाहिये, यह सातवी गाथा में कहेगे ।

अनादि के अज्ञानी को समझाने के लिये यह 'समयसार' शास्त्र है, इसलिये सबसे पहले यह समझने की आवश्यकता है । यदि कोई ऊपर ही ऊपर से प्राप्त कर लेना चाहे तो नही मिलेगा । यदि दुःख को जाने तो उसे दूर करने का उपाय भी समझ मे आ सकता है ।

इस सातवी गाथा को समझते समय बहुतो के विपरीत तर्क उठते हैं । कितने ही लोग कहते हैं कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के नही हैं', ऐसा कहा है ! किन्तु क्यो नही है ? यह वे नही समझते । वास्तव में तो यहाँ यह कहा है कि इन तीनो का विकल्प (भेद) आत्मा में नही है । इसलिये आचार्यदेव का जो कथन है वह बराबर समझना चाहिये । 'यथार्थ ज्ञान हुए विना आगम अनर्थकारक होजाता है ।'

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं न चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान–ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से ज्ञान भी नही है, चारित्र भी नही है और दर्शन भी नही है, ज्ञानी तो एक शुद्ध–ज्ञायक ही है ।

मैं पर से भिन्न तथा स्व से एक अभेदस्वरूप, निरपेक्ष, निरावलम्बी हूँ, यह न समझना मिथ्यात्व है और अनन्त ससार का मूल है ।

धर्मी जीव को निम्नदशा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र ये तीन भेद व्यवहार से–परनिमित्त की अपेक्षा से कहे जाते हैं एक ही वस्तु में ये तीन गुण हैं, भिन्न–भिन्न–विभक्त नहीं हैं। जैसे कि स्वर्ण में पीलापन चिकनापन और भारीपन है परन्तु उसको जो पीला है सो सोना है उसमें चिकनापन है भारीपन है इसप्रकार एक साथ रहे गुणों को भिन्न–भिन्न कहना भेद बतलाकर समझाना सो व्यवहार है। इसीप्रकार आत्मामें सत्=विकाश होना चिद्=ज्ञान आनन्द=स्वरूप–रमणता–स्थिरता इन एक साथ रहनेवाले गुणों को भिन्न–भिन्न भेद करके कहना सो व्यवहार है।

तीनों भागों में तीन गुणोंके भिन्न–भिन्न तीन भाग नहीं हैं। जैसे एक खाने में धनियां दूसरे में जीरा और तीसरे में हल्दी अलग अलग है, उसीप्रकार आत्मा में तीन गुण भिन्न–भिन्न नहीं हैं तथापि भेद करके कहना सो व्यवहार है तीनों का जो एकरूप है सो आत्मा का स्वरूप है यही निश्चय है।

यदि कोई कहे कि आपने आत्मा में से दर्शन ज्ञान चारित्र तो बाहर निकाल दिये और मात्र बातें करने का धर्म रखा है तो उसे कहा जायगा कि तुमने अपेक्षा को नहीं समझा। यह तो मोक्ष पाने की समझ है। जो यथार्थरूप से समझ जाय वह अल्पकाल में ही मोक्ष दशा को प्रगट कर सकता है। जो अपूर्वभाव से सुने और समझे उसकी अनन्तभव की धूल भग जाय ऐसी यह अद्भुत बात है। भगवान आत्मा की महिमा को बताने वाले इस समयसार की अलौकिक रचना हुई है। इसमें तीनों काल और तीनों लोक के सब समाधान हैं। जिसके भाग्य हों उसे यह सुनने को मिलता है। और जिसे सत् का प्रेम हो और पुरुषार्थ हो उसके अन्तरंग में यह बात अवश्य बैठ जाती है।

पहले ही पूर्ण ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्परूप है उसकी वास्तविक श्रद्धा करके गुण के भेद करने का यहाँ निषेध किया गया है। विकल्प (राग का अंश) मेरा नहीं है। शुभ अशुभ राग के भेद हैं उससे

भिन्न का विवेक करके अखण्ड ज्ञायक का एकरूप निश्चय करे तो वहाँ भेदरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र नही हैं, परन्तु अनतगुणो का पिण्ड आत्मा है। इसप्रकार अभेद निश्चयरूप से आत्मा को लक्ष मे लेना चाहिये, ऐसी श्रद्धा मे और निर्विकल्प स्थिरता मे भेद का निषेध होजाता है; परन्तु गुण का निषेध नही होता।

चन्दन की लकडी में कोमलता, सुगधि और भारीपन तीन प्रकार हैं, उसकी अन्य पदार्थों से भिन्न पहचान करने के लिये गुणो का भेद किया है। चन्दन की लकडी में अपनेपन से जो होना है सो 'अस्ति' धर्म है, पर की अपेक्षा से न होना सो 'नास्ति' धर्म है। इस-प्रकार उसमे अनेक गुण हैं। इन समस्त गुणो के एकत्रित होते हुए भी 'चदन सुगन्धित है' इसप्रकार एक गुण को भिन्न करके पहचान कराना, सो व्यवहार है।

जिन्हे निश्चय-व्यवहार का ज्ञान नही है, वे इस सातवी गाथा का अर्थ अन्यथा करते हैं, उनकी इस भूल को दूर करने के लिये इस गाथा का यहाँ विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। चन्दन की लकडी को अन्य से भिन्न दिखाने के लिये उसके गुणो को भिन्न करके दिखाते हैं, तो भी उसमे भेद नही होता। इसीप्रकार आत्मा को पर से भिन्न पूर्णस्वरूप से पहचान कराने के लिए उसके अनन्त धर्मों में से कुछ धर्मों के द्वारा समझाया जाता है। जैसे—श्रद्धा करे सो आत्मा, स्व-पर को जाने सो आत्मा, जो अन्तरग स्थिरतारूप चारित्रगुण है सो आत्मा है।" यह तीनो गुण प्रतिसमय आत्मा में एक साथ-अभिन्न रहते हैं। परन्तु जो अज्ञानी समझता नही है उसे एक-एक गुण पृथक् करके समझाना सो व्यवहार है। उसे समझाते हैं कि जैसे पर का विश्वास करता है उसीप्रकार पुण्य-पाप विकाररहित अपना विश्वास करे, ऐसा गुण आत्मा का है। अपना ज्ञान स्व-परका जाननेवाला है। पुण्य-पाप तथा पर के आश्रय से रहित आत्मा मे एकाग्रता का होना सो चारित्र है। परन्तु इसप्रकार तीनो गुण पृथक् नही हो जाते। निश्चय से समस्त गुणो का एकत्रित पिण्ड जो ज्ञायक है उसे अभेदरूप से देखें तो

'दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं' अर्थात् ये गुण पृथक्-पृथकरूप से विद्यमान नहीं हैं परन्तु अनन्तगुण अभिन्न हैं। भेदरूप से लक्ष करने पर मन के सम्बन्ध से विकाररूप भेद पड़ जाते हैं। उस विकल्प के लक्षद्वारा अन्तरंग में स्थिरता नहीं हो पाती और अभेद स्थिरस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं होता।

जो एक साथ सर्वगुणों के अभेद पिण्ड को अखण्ड निर्मल दृष्टि से देखा जाय तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेदरूप विकल्प नहीं उठते। एक समय में ध्रुवस्वभावी अनन्तगुणस्वरूप अखण्ड पिण्ड आत्मा है ऐसा निश्चयस्वरूप यहाँ बतलाते हैं। आत्मा अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है इसलिये उसमें गुण के भेद का निषेध इस सातवीं गाथा में किया है।

एक गुण को पृथक् करने की ओर लक्ष करे तो मन के सम्बन्ध से विकल्प होने पर आत्मा में निर्विकल्परूप अभेद नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न गुणों का विकल्प छोड़कर निर्मल सम्पूर्ण तत्त्व पर लक्ष करे तो मैं दर्शन हूँ ज्ञान हूँ चारित्र हूँ ऐसा एक-एक गुण भेदरूप लक्ष में नहीं आता अर्थात् दर्शन ज्ञान चारित्र का विकल्परूप राग उत्पन्न नहीं होता। "मैं स्थिर होना चाहता हूँ" ऐसी वृत्ति शुभराग है। 'मैं एकाकी-भेदरहित अखण्ड वस्तु हूँ' इसप्रकार एकत्व का अनुभव करते समय दर्शन ज्ञान चारित्रका भेद करने वाला विकल्प विद्यमान नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद है। और वहाँ निर्विकल्प दशा है।

यह जौहरी बनने के लिये प्रथम उम्मेदवारी के समान है। आत्मा की परीक्षा करने के लिये और पराधीनता को दूर करनेके लिये पर से शुभ-अशुभरूप विकल्प से किसप्रकार भिन्न है, इस बात को सावधानीपूर्वक सुनने में और समझने में तत्पर रहना सो यह जौहरी की दुकान पर पानी भरते-भरते (पानी भरने की नौकरी करते-करते) जवाहरात का व्यापार सीख जाने के समान है।

जो अभेदस्वरूप में दर्शन ज्ञान चारित्र के भेद करके विकल्प

करने में व्यस्त हो गया उसे अभेद अनन्तगुणो के पिण्ड निर्विकल्प आत्मा का लक्ष नही होता, और ऐसा लक्ष हुए बिना निर्मल श्रद्धा नही हो सकती। यहा चौथा गुणस्थान प्राप्त करने की बात कह रहे हैं। जिसे निर्विकल्प अभेद की श्रद्धा नही है उसी के लिये यह बात कही जा रही है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद किये जाते हैं, यह व्यवहाररूप शुभविकल्प है। उस भेद का निषेध करने वाले ज्ञानी को तो निश्चयसे एकत्व है।

ज्ञानी–सम्यग्दृष्टि जीव तो एक ज्ञायक है। अर्थात् तीन गुणो का भेद किये विना, अखड ज्ञायक की ओर लक्ष रखता है। किसी को अच्छी कारीगरी (नक्काशी) किया हुआ सोनेका मुकुट मिल जाय, और वह सुनार के यहाँ वेचने जावे, और तब सुनार उससे कहे कि "इसमें चाहे जितनी वारीक नक्काशी (कारीगरी) हो, हम इसका मूल्य नही देंगे, किन्तु मात्र सोने की ही कीमत देंगे, क्योंकि हमारे लिये कारीगरी की कोई कीमत नही है," इसीप्रकार आत्मा पर से निराला राग–द्वेष, पुण्य–पाप, मन, शरीर, वाणी से भिन्न है, उसमें मैं ज्ञान–दर्शन वाला हूँ, इसप्रकार मन के द्वारा भेदरूप कारीगरी अन्तरग में निर्णय करने के लिये प्रथम आवश्यक थी, परन्तु अभेद लक्ष के समय भेद (कारीगरी) का मूल्य नही है। प्रथम मन के द्वारा भेद करके सम्पूर्ण स्वरूप को पहचानने के बाद गुण के विकल्परूप भेद को दूर करने के लिए अभेद के लक्षद्वारा भेद का निषेध किया गया है।

माल लेते समय विकल्प करता है, उसका मूल्य तय कर लेने पर तौलते समय तक विचार (विकल्प) आते हैं, परन्तु खाते समय उस सबका विचार नहीं किया जाता। इसीप्रकार प्रथम आत्मा को समझने के लिये "ज्ञान है, श्रद्धा है, सामान्य–विशेषरूप से आत्मा ऐसा है," ऐसा ज्ञानद्वारा विचार करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्र के विकल्प होते हैं, परन्तु ज्ञानद्वारा तोल (निश्चय–माप) करने के बाद, अभेद

निर्मल आत्मा की श्रद्धा करते समय और उसमें स्थिर होते समय उसके विकल्प नहीं होते । जैसे कि सोना तोलते समय तराजू और बांट की जरूरतें होती है, परन्तु खाते समय तराजू आदि एक तरफ पड़ी रहती है, इसीप्रकार आत्मा का निश्चय करने के बाद एकाग्र अनुभवके समय चारित्र आदि के विकल्प करने की आवश्यकता नहीं होती । "मैं ज्ञान हूँ, उसमें स्थिर होऊँ" ऐसे गुणभेदोंके विकल्प में अटक जाय तो निर्विकल्प अनुभव नहीं होता । यदि विकल्प के द्वारा ही आत्मा के दर्शन, ज्ञान चारित्र माने तो ऐसे मन के शुभभाव तो आत्मा अनन्तबार कर चुका है । "मैं निर्विकल्प शुद्ध हूँ अनन्त गुणों से अभेद हूँ" ऐसी श्रद्धा का अभ्यास से आत्मा में अनुभव होने पर श्रद्धा ज्ञान चारित्र के भिन्न–भिन्न भेद ज्ञानी के नहीं रहते । प्रथम आत्मा की श्रद्धा के समय एकाग्रता होने पर निर्विकल्प आत्माका अनुभव होता है और आगे बढ़ने पर विशेष चारित्र में इसप्रकार निर्विकल्पता का ही अनुभव होता है । भेद हो तो विकल्प होते हैं । ऐसा समझे बिना कोई एकान्त में एक जगह बैठ जाय तो मात्र इतने से ही आत्मानुभव नहीं हो जाता । प्रथम सत्य–असत्य का निर्णय होने के बाद अनुभव होता है ।

व्यवहार अर्थात् बांट–तराजू के समान गुणभेद आत्मा ने अनन्तबार किये हैं किन्तु पर से भिन्न अविकारी चिदानन्द भगवान आत्मा को सम्यग्ज्ञान के माप में लेकर निर्णय नहीं कर सका ।

एक आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र के भेद करने से मन की अपेक्षा होती है मन में भेद की अपेक्षा होती है इसप्रकार भेदद्वारा एकाकार गुणदृष्टि का अनुभव प्रगट नहीं होता और अन्तरंग में अभेद–एकाग्रता नहीं होती ।

टीका—यह ज्ञायक आत्मा की बंध पर्याय (कर्म के सम्बन्ध की अवस्था) के निमित्त से क्षणिक अशुद्धता होती है वह तो दूर ही रही उसे जो अपना मानता है सो मिथ्यादृष्टि है परन्तु 'दया पालूं व्रत पालूं' आदि जो शुभविकल्प है वह अशुद्धभाव (विकार) है उसे भी जो अपना मानता है अर्थात् हितकर मानता है सो मिथ्यादृष्टि

है । वह अशुद्धता तो दूर रही परन्तु ज्ञायक आत्माके एकत्व मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नही है, अर्थात् एकवस्तु मे तीन भेद नही होते । जो ऐसा नही समझते, उन्हे सन्देह उत्पन्न होता है । यदि अपनी कल्पना से पढे तो आगम भी अनर्थकारक हो जाता है । समयसार परम आगम है, इसमे सर्वसमाधान है । अलौकिक बातें कही हे, परन्तु गुरुगम के बिना समझ मे नही आ सकती । समस्त गुणो का पूर्णपिण्ड आत्मा है, इसीलिये अभेद जानने के लिए कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र भिन्न–भिन्न विद्यमान नही हैं, परन्तु ऐसा किसने कहा है कि वे गुण ही नही है ।

घी, गुड और आटे को मिलाकर लड्डू बनाया हो, और फिर उसमे से घी, गुड, आटे को अलग कर डालो तो लड्डूरूप वस्तु ही न रहेगी, इसीप्रकार आत्मा मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता है । उसके भिन्न–भिन्न भेद करके विचार के द्वारा टुकडे करना ठीक नही है ।

गुण का भेद करके विचार करे तो विकल्प उत्पन्न होता है, अभेद का अनुभव नही होता । जिसे आत्मानुभवरूपी मोदक खाना हो उसे तीन गुणो का भेद करके शुभविकल्प करने मे अटकना नहीं भायेगा । बाह्य–स्थूल आलम्बन की तो बात ही क्या, परन्तु सूक्ष्म विकल्पो का भी यहाँ निषेध है । लोगो को ऐसा उपदेश सुनने को नही मिलता, और अन्तस्तत्व की विचारणा बहुत कम होती है । जिससे आत्मा का गुण प्रगट हो ऐसा श्रवण–मनन प्राप्त नही होता, परन्तु जिस भाव से अनन्तभव बढे ऐसी उल्टी मान्यता और पर में कर्ता–भोक्ता की बातें मानने वाले और मनाने वाले बहुत मिलते हैं ।

आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नही हैं अर्थात् जहाँ अखण्ड निर्विकल्परूप लक्ष करना है वहाँ भिन्न–भिन्न भेद प्रतीत नही होते, अपितु अनन्तगुणों का पिण्ड निर्मल ज्ञायक एकस्वरूप प्रतीत होता है । परमार्थ से एकत्वस्वरूप मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेदरूप नहीं है ।

अनन्तधर्मों वाले एक धर्मी की पहिचान करने में जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य के लिये अनन्तधर्मस्वरूप आत्मा की पहिचान कराने वाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेशकर्ता–आचार्यगण अभेद के लक्ष से–नाम से भेद कर देते हैं कि सत्–चित्–आनन्द (सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र) का धारण करने वाला आत्मा है परन्तु परमार्थ से आत्मा में तीनों गुणों के भिन्न–भिन्न भाग नहीं हैं अत भेद विद्यमान नहीं है।

प्रश्न—आत्मा कैसा है ?

उत्तर—आत्मा अनन्तधर्म अर्थात् अनन्तगुणस्वरूप है। जानना श्रद्धा करना वीर्य अस्तित्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण आत्मा में एक साथ विद्यमान हैं। एक वस्तु अनन्तगुणों का पिंड है। ऐसे आत्मा को जानने में जो शिष्य प्रवीण नहीं है उसे कितने ही गुणों द्वारा नाम से भेद करके व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश देते हैं कि ज्ञानी के दर्शन है ज्ञान है चारित्र है। जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्य को अर्थात् जो अज्ञानी समझना चाहता है उसे कहा जाता है जो ज्ञानी है उसे तो खबर है ही।

कोई कहता है कि तेरहवें या सातवें गुणस्थान और उससे ऊपर की यह बात है। किन्तु ऐसा नहीं है। लोगों को सत्य बात मुश्किल से सुनने को मिलती है वहाँ तत्त्वके विरोधी ऐसा असत्य कह कर भड़का देते हैं। *आचार्य तो कहते हैं कि जो शिष्य अनन्तधर्मवाला* आत्मा कैसा है इस बात को नहीं समझा परन्तु निकटवर्ती है अर्थात् पात्र है (समझने के लिए निकट आया हुआ है) उसीसे यह बात कहते हैं। अनन्तकाल से जिस स्वरूप को नहीं समझा कि वह कैसा है किन्तु समझने की उत्सुकता वाला है वह निकटवर्ती है उसे यह बात समझाई जाती है। जो नहीं समझता वह पूछता है उसे 'धु्र एकरूप अभेद आत्मा है ऐसा कहूँ तो वह अनन्तधर्मस्वरूप वस्तु को कभी समझेगा ही नहीं।

परमार्थ से आत्मा निर्विकल्प, निरावलम्बी है, अनन्तगुण का पिण्ड है। उसकी श्रद्धा मे भेद करनेरूप विकल्प का भी अवकाश नही है, तो भी जो समझना चाहता है उसे भेद करके एक-एक गुणद्वारा अभेद आत्मा का लक्ष कराने के लिये व्यवहारमात्र से भेद करना पडता है।

श्रीगुरु कहते हैं कि-अभेदस्वरूप को जीव लक्ष मे ले सके इसलिए भेद का कथन करना पडता है, जैसा हम समझते हैं वैसा निकटवर्ती (सत्य समझने का अभिलाषी) शिष्य पूर्णतया समझ लेगा। इस कथन का यह आशय है कि अध्यात्मशास्त्र का भाव चाहे जिससे सुने अथवा स्वय ही पढे तो स्वच्छन्दरूप से यह अपूर्व आत्मबोध प्रगट नही होता। एकबार साक्षात् ज्ञानी के पास से गुरुगमरूप सत्समागम से साक्षात् सुनना चाहिये। 'दीपक से दीपक जलता है' इस सिद्धान्त के अनुसार उपादान सत् को ग्रहण करने को तैयार हो तो वहा ज्ञानी की उपस्थिति होती ही है।

"बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत;
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित ॥"

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जिस मनुष्य को अधिक प्यास लगी हो और वह जल पीने जावे तो जल प्राप्त कर लेता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कैसा कहा है, उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है, इसकी जिसे प्रबल जिज्ञासा है, वह सत्समागम प्राप्त कर लेता है, परन्तु स्वय अकेला ही शास्त्र पढे तो उससे वह समझ नही सकता। ये तो सूत्र हैं।

जैसे अभ्रक के पटल में से परत में से परत निकलते चले जाते हैं वैसे ही एक शब्द में से कई कई अर्थ निकलते जाते हैं।

निकटवर्ती का अर्थ "ज्ञानी के पास आकर उपस्थित" होता

है। निकट दो प्रकार से होता है–(१) क्षेत्र से निकट, (२) भाव से निकट। बाह्य में जो साक्षात् ज्ञानी के पास आया है वह क्षेत्र से निकट है और अन्तरंग से समझने की जिसकी तैयारी है वह भाव से निकट है। एकबार ज्ञानी के समीप पहुँचना चाहिये। इस कथन में दूसरों से भिन्न ज्ञानी की पहिचान कराने वाला अपना विवेक है। ज्ञानी की प्राप्ति होनी चाहिये यह कहने में पराधीनता नहीं है। जो स्वयं पात्र बन गया है उसे ज्ञानी का योग न मिले ऐसा कभी नहीं होता। इसीलिये श्रीमद् राजचन्द्र ने सत्समागम पर बारम्बार भार दिया है।

'मैं स्वयं ही तत्त्व समझ लूंगा' ऐसा नहीं मानना चाहिये तथा तेरी शक्ति के बिना किसी निमित्त से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जायगी ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। यदि तू समझे तो निमित्त में आरोप हो और तेरी पात्रता हो तो मुझे समझाने में सद्गुरु निमित्त हुए ऐसा व्यवहार से कहा जायगा।

बहुत से जीवों को सत् के समझने की प्रबल आकांक्षा अंतरंग से पैदा होती है, तब वे संसार में से क्रमशः क्रम से आगे बढ़ हुए ज्ञानी तीर्थंकररूप से जन्म लेते हैं। उनके निमित्त से जो योग्य जीव होते हैं, वे सत्य को समझें ऐसा मेल हो ही जाता है। तीर्थंकर किसी के लिए अवतार नहीं लेते तथा कोई ईश्वर अवतार नहीं लेता।

कितने ही कहते हैं कि समयसार में बहुत सूक्ष्म अधिकार है परन्तु अनंतकाल बीतने पर भी जिसकी प्रतीति के बिना जीव जन्म-मरण के दुःख भोग रहा है उन दुःखों के दूर करने के लिये ही यह वस्तु कही जाती है। दुनियादारी के लिए चोबीसों घन्टे मजदूरी करता है जिसके फल में सुख नहीं है। अनन्त जन्म-मरण किये उसमें एक क्षण भी आत्मा का भान नहीं किया। यदि कोई व्यवहारिक संसार की कला आजाय तो वह पूर्वजन्म के पुण्य का फल समझना चाहिये वर्तमान पुरुषार्थ का नहीं। पूर्वजन्म में सत्य दान ज्ञान के कुछ शुभभाव किये थे उससे ज्ञान सम्बन्धी आवरण कम हो

गया और पुण्यबन्ध हुआ था, उसीके फलरूप वर्तमान में बुद्धि और पुण्य के सयोग मिले है, इसलिये यदि कोई कहे कि हमने सांसारिक चतुराई बहुत की, इससे पैसा, बुद्धि आदि की प्राप्ति हुई है तो यह बात मिथ्या है।

सयोग मिलने से कोई सुख–सुविधा नहीं होती। परवस्तु आत्मतत्व को किंचित्मात्र लाभकारक या हानिकारक नही है। 'मैंने ऐसा किया इसलिए ऐसा हुआ' यह मान्यता मिथ्या है। संयोग से जो वर्तमान जानकारी हुई है व अनित्य बोध है, वह ज्ञान पाँच इन्द्रियो और मन के क्षणिक सयोग के आधीन होने से इद्रिय आदि सयोग का नाश होनेपर, नाश होजाता है।

प्रश्न—यदि पढने न जाय तो ज्ञान कैसे प्रगट हो ?

उत्तर—जो पूर्व की प्रगटता लेकर आया है उसे पढने की इच्छा हुए बिना नही रहेगी।

पैसा कमाने की इच्छा या सासारिक पढाई (कुशलता) प्राप्त करने की इच्छा नए अशुभभाव हैं। पैसे की प्राप्ति और लौकिक ज्ञान की प्राप्ति वर्तमान पुरुषार्थ का फल नही है, परन्तु पूर्व का फल है। वतमान में स्व की ओर रुचि करके प्रतीति करे यह वर्तमान नये पुरुषार्थ से ही हो सकता है। बाह्य सयोगो की प्राप्ति होना पूर्वपुण्य के आधीन है, परन्तु अतरग मे सच्ची समझ की रुचि का पुरुषार्थ करना पूर्वकर्म के आधीन नही है। ससार के लिये जितना राग करता है, वह विपरीत पुरुषार्थ है, उसका फल नया बध है। यदि बाह्य सामग्री प्राप्त करने के लिये राग, द्वेष, मोह करे तो उस वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ का फल नया बध होता है। राग–द्वेष स्वयमेव नहीं हो जाते या कोई बलात् नही कराता, परन्तु स्वय बुद्धिपूर्वक उसे करता है, इसलिए जो वर्तमान राग–द्वेष होते हैं वे विपरीत पुरुषार्थ से होते है।

इसप्रकार दो बातें हुई–(१) पूर्व कर्म के फलरूप बाह्य सयोग की प्राप्ति और (२) उसके प्रति नई खटपट अर्थात् राग–द्वेष की प्रवृत्ति करनी (जो कि नवीन बध है)।

अब तीसरी बात यह है कि वर्तमान में लौकिक ज्ञान का प्राकट्य अधिक दिखाई देता है वह पहले शुभभावों से जो आवरण कम किये थे उसका फल है। वह पूर्व की प्राप्तिरूप में भीतर विद्यमान था जो कि अमुक काल में बाहर दिखाई देता देता है वह वर्तमान बुद्धिमत्ता का फल नहीं है। डाक्टर बनने की कला सीखने के लिए बंदर के शरीर के अवयवों को काटता है मेंढकों को चीरता है तथापि उसके फलस्वरूप कला प्रगट होती है और पैसा भी मिलता है यह कैसे हो सकता है ?

कसाई हजारों गायों को काटकर पैसा कमाता है और आनन्द करता हुआ दिखाई देता है वकील झूठ बोलकर हजारों की आमदनी करते हैं, व्यापारी धोखा करके कमाई करते हैं तो विचार करो कि वर्तमान में जो यह सब पाप करते हैं तो क्या पाप के फल से सुविधा बुद्धि या पैसा मिल सकता है ? कदापि नहीं। फिर भी मनुष्य "वर्तमान पुरुषार्थ से हमने यह प्राप्त कर लिया या बुद्धिमान बन गये" ऐसा मानते हैं। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है। जिसके कारण में पाप है उसका फल तो पापबन्ध ही होता है। वर्तमान में तो पूर्व के संग्रह किये हुए पुण्य का फल भोगता है।

अनन्तकाल में आत्मा कौन और कैसा है यह नहीं समझा है इसलिये उसका समझना अपूर्व है। उसमें वर्तमान नया पुरुषार्थ काम करता है। उसे समझे बिना अनन्तबार पुण्य-पाप करके उसके फलरूप अनंत भव किये अनंतबार धर्म के नामसे पुण्य किया उसके फल से उच्च देव और राजा हुआ महान् बुद्धिशाली मंत्री हुआ परंतु अपूर्व तत्त्व को नहीं समझा। यथार्थ समझ के लिए एकबार ज्ञानी से सत् का उपदेश सुनना चाहिये।

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥
(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात

भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य भाजन होता है। प्रसन्नचित्त से अर्थात् अतरगके उत्साह से, कि 'अहो ! सत्समागम द्वारा पहले ऐसा कभी नही सुना'। अपने आप पढकर समझले सो बात नही है परन्तु जो साक्षात् ज्ञानी से शुद्ध आत्मा की बात सुनकर अन्तरग में निर्णय करता है वह भावी मुक्ति का भाजन होता है। चारो गति मे फिरते हुए सबसे कम मनुष्यभव किये, (कोई जीव शुभभावो को टिका रखे तो लगातार अधिक से अधिक मनुष्य के आठ भव होते हैं) तो भी जीव अनन्तबार मनुष्य हुआ। मनुष्यभव से असख्यगुने नरक के भव धारण किये। (पचेन्द्रिय का बध, शिकार, गर्भपात इत्यादि तीव्र पापो का फल नरकगति है। यह उक्ति बहुतबार कही जाती है। मनुष्यो को दुःख का भय दिखानेके लिए यह कल्पना नही की है), इन नरक के भवो से भी असख्यगुने स्वर्ग के भव धारण किये, और वे भी अनन्तबार किये। और इन स्वर्ग के भवो से भी पशु तिर्यंचो मे एकेन्द्रिय (वनस्पति इत्यादि) में अनन्तानन्त भव धारण किये हैं, ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। पूर्व में तीव्र कपट, वक्रता इत्यादि की, उसके फलस्वरूप तिर्यंचों के टेढे-मेढ़े शरीर मिले हैं।

प्रश्न—पूर्वभव कैसे माना जाय ?

उत्तर—आत्मा वर्तमान में है। और जबकि है तो उसका आदि नही है तथा अन्त भी नही है। जबकि यह भव है तो पूर्वभव भी था ही। जैसे घी का फिर मक्खन नही बन सकता उसीप्रकार यदि मोक्षदशा प्रगट करली हो तो फिर अवतार नही हो सकता। आत्मा अनादि से ससारदशा मे अशुद्ध है। शुभ-अशुभरूप अशुद्धभाव का फल चार-गति का भ्रमण है। अनन्तकाल से अपने को नही समझा इस-लिए आत्मा संसार में रुलता फिरा है।

जैसे डिबिया में रखा हुआ हीरा डिबिया से अलग है उसी-प्रकार मन, वाणी, देह और पुण्य-पाप विकार आदि से भगवान-चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है, वह देहरूपी डिबिया से अलग है।

यह सातवीं गाथा जिसे बराबर समझ में नहीं आती वह विरोध में कहता है कि इस गाथामें तो कहा है कि दर्शन ज्ञान चारित्र आत्मा के नहीं हैं तो क्या आत्मा दर्शन ज्ञान चारित्र रहित अर्थात् जड़ है ? विकल्प और गुण के भेद उस अभेद आत्मा का स्वरूप नहीं है, यह कहा है ऐसा लक्ष्य में न लेकर वे ऐसा कुतर्क करते हैं कि गुणों को तो उड़ा ही दिया पहला घड़ा उल्टा रखा जावे तो उसके ऊपर जितने घड़े रखे जावेंगे वे सब उलटे ही रखे जावेंगे। इसीप्रकार चैतन्य-भगवान आत्मा पर से भिन्न और अपने अनन्तगुणों से अभिन्न है। इस बात को जो वास्तविकरूप से नहीं समझे तो उसके जितने भी तर्क होंगे वे सब विपरीत ही होंगे।

बाह्य से धर्म होता है ऐसा लोगों ने अनादि से मान रखा है उससे यह जुदी बात है। कोई आत्मा परकी क्रिया नहीं कर सकता। ज्ञानी पुण्य-पाप विकार का स्वामी नहीं है इसलिए वह उसका कर्ता नहीं होता किन्तु वह अपने अविकारी स्वभाव का कर्ता होता है। अविकारी की श्रद्धा द्वारा विकार का निषेध होने पर भी पुरुषार्थ की मन्दता है इसलिये पुण्य-पाप का भाव होता है परन्तु उसका स्वामी या कर्ता ज्ञानी नहीं होता। जो अपने को विकारों का और शरीरादि जड़ की क्रिया का कर्ता मानता है उसे अविकारी-ज्ञायक स्वरूप का भान नहीं है।

यह सच्ची श्रद्धा का विषय है। मुनित्व श्रावकत्व और चारित्र की योग्यता तो सच्ची श्रद्धाके बाद ही आ सकती है। आचार्य कहते हैं कि जिसे सच्ची श्रद्धा नहीं है उसे सच्चा मुनित्व श्रावकत्व या चारित्र नहीं हो सकता।

अविकारी-निरावलम्बी वीतरागस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा और अंशरूप स्थिरता होने पर भी निम्नदशा में पुण्य-पाप का विकार होता तो है परन्तु उसे अखण्ड प्रतीति है कि मेरा ज्ञायकस्वभाव पुण्य-पाप का नाशक है रक्षक नहीं। जबतक पहले ऐसी श्रद्धा न करे

तबतक आत्मस्वभाव समझने की और उसे प्राप्त करने की योग्यता भी नही आती।

यहाँ कहते हैं कि चिदानन्द भगवान आत्मा को क्षणिक–विकारी कहने की बात तो दूर रहो, परन्तु गुण–गुणी के भेद का लक्ष भी छोडो। आत्मा स्वरूप से अनन्तगुणो का अखण्ड पिण्ड है, उसमे अभेद लक्ष न करे, और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के विकल्पो के द्वारा तीन भागो पर दृष्टि रखे तो उसकी दृष्टि सम्यक् नही होती। जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल है, वैसा उसका भान न करे और पुण्य–पाप की प्रवृत्तिमे समय बितादे तो उस जीवनका क्या मूल्य है ? मात्र लोगो मे दिखावट "हास्य और स्पर्धा" करके धर्म मानता है, कोई बाह्य लौकिक नीति द्वारा ही सब कुछ मान लेता है, परन्तु यह कोई अपूर्व बात नही है।

किसी बडे–बूढे के मरने पर लोग कहते है कि बेचारा बूढा हरी–भरी बाटिका (घर–परिवार) छोडकर चला गया है, परन्तु ममता को लेकर और पूर्व–पुण्य को जलाकर आत्मा दुर्गति में गया है, यह कोई नही विचारता। अहो ! जो ऐसे परम–सत्य की महिमा एकबार सुने, अन्तरग से प्रतीति करे, उसके लिए मोक्ष की फसल पक सकती है। अपूर्वश्रद्धा द्वारा जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया उसे बहुमूल्य मनुष्य भव मिला, परन्तु वह व्यर्थ ही गया।

लोग कुनैन पीने से पूर्व ही यह विश्वास कर लेते हैं कि कुनैन पीने से बुखार उतर जाता है, इसीप्रकार पहले से ही यह विश्वास करना चाहिये कि मै राग–द्वेष–अज्ञान से रहित ज्ञायक हूँ।

कोई कहे कि कुनैन से बुखार उतरता है, तब परमाणुओ में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तन को हम नही देख सकते, परन्तु उससे बहुतों का बुखार उतरा है, इसलिये ऐसा मान लेते हैं। उसीप्रकार विकारका सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण निर्विकारी शुद्धस्वरूप अनन्त आत्माओ ने प्रगट किया है, इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा राग–द्वेष, अज्ञान-रहित मात्र ज्ञायक है, ऐसा मानना चाहिये।

व्यवहार से कहा जाता है कि ज्ञानी को दर्शन है ज्ञान है चारित्र है परन्तु परमार्थ से देखा जाय तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य अपने में समा गया है इसलिये एकरूप किंचित् एकमेक मिला हुआ आस्वादस्य अभेद ज्ञायकत्व ही है। आत्मा में से गुण नया प्रगट नहीं होता परन्तु पर्याय प्रगट होती है ज्ञानी का अखण्ड द्रव्य पर लक्ष है सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आत्माकी पर्याय है व्यवहार है उस भेद को गौण करके आत्मा अखण्डानन्द पूर्ण ज्ञान दर्शन चारित्र से अभिन्न है उसे श्रद्धा में (लक्ष में) लेना ही धर्म का मूल है। गुण के भेदरूप विकल्प का राग तोड़कर अन्तरंग में एकाग्रता से स्व को लक्ष में ले तो बुद्धिपूर्वक विकल्प टूटकर परमार्थस्वरूप निर्विकल्प अभेद स्वारूप मालूम होता है। ऐसी बात कभी सुनी भी नहीं है इसलिये मनुष्य को ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन बहुत मँहगा कर दिया। लोगों ने अपनी कल्पना में बाह्य से समकित मान रखा है।

लोग परस्पर एक दूसरे को अभिप्राय देते हैं कि तुम सम्य ग्दृष्टि हो परन्तु सर्वज्ञदेव ने कहा है कि जैसा यथार्थस्वरूप जाने बिना वह श्रद्धा ऐसी है जैसे खरगोश के सींग !

यह तो बीज' रूप बात कही जा रही है उसका 'पोषण' करने के लिए बहुतबार सुने और समझ में उसका मेल बिठाये तभी फल' मिलता है।

यहाँ निर्विकल्प श्रद्धा करने का अभेद विषय क्या है यह बताया है। उसे समझने पर ही छुटकारा मिल सकता है। अद्भुत महिमा को बताने वाला यह समयसार अमृत का कुण्ड है मधुर समुद्र है यदि उसे स्वयं न जाने तो क्या लाभ ? श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अचिन्त्य महिमा स्पष्ट करके बताई है।

जिसे सुनते ही सहज चैतन्य–रत्नाकर भगवान की महिमा उल्लसित होती है। जो अन्तरंग से समझता है उसे अतीन्द्रिय स्वाद आये बिना नहीं रहता। अपनी कल्पना से धारारूपी समुद्र का बिडोलन करके भीतर से मिथ्या तर्क उठाये तो 'पाप की मुट्ठी में तो वह केवल

शास्त्र समायें ।" एकमात्र समयसार शास्त्र को पात्रता धारण करके सत्समागम से सुने और परमार्थ को समझे तो अनन्त भवों की तृष्णा की भूख भाग जाये।

जिसकी महिमा तीनों काल मे अनन्त सर्वज्ञ परमात्माओ ने गाई है, उसकी वार्ता साक्षात् सुनने को मिलने पर भी अविकारी ध्रुव-स्वभाव की श्रद्धा न करे, यह कैसे हो सकता है ?

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है, यह जानकर चने को भून डाले तो फिर वह बोने से नही उगता किन्तु स्वाद देता है, वैसे ही आत्मा मे अखण्ड आनन्द भरा है, वर्तमान अवस्था मे से भूलरूप कचास और अशुद्धता निकाल दे तो उसका प्रगट स्वाद आवे, इसलिये पहले मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, अविकारी हूँ, इस बात की अन्तरग मे श्रद्धा करनी चाहिए। पूर्ण निर्मल स्वभाव की श्रद्धा होते ही राग–द्वेष सब टल नही जाते, परन्तु अखण्ड गुण की प्रतीति के बल से क्रमशः स्थिरता होने पर विकार का नाश होता है।

जैसे चने में स्वाद की उत्पत्ति, कचास का व्यय और उसके मूल स्वरूप की स्थिरतारूप ध्रौव्यत्व विद्यमान है, उसीप्रकार आत्मा मे मैं रागद्वेषरहित निर्मल स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धा के अपूर्व स्वाद का उत्पाद, अज्ञान का व्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है ऐसी श्रद्धा की महिमा सुने और माने तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाये।

ज्ञानमूर्ति आत्मा मे भिन्न–भिन्न अनन्त गुण हैं, परन्तु उनका भिन्न–भिन्न विचार करने से एक अखण्ड वस्तु नही जानी जा सकती। गुण–गुणी के भेद करने मे लगे रहना राग का विषय है, इसलिए उसके द्वारा निर्विकल्प अनुभव नही हो सकता। अखण्ड स्वरूप के लक्ष के बिना निर्मल, निरपेक्ष वस्तु ध्यान मे नहीं आती और यथार्थ प्रतीति के बिना आत्मा में स्थिर नहीं हुआ जाता।

जैसे राजा को उसके योग्य अधिकार और मान से न बुलाएँ तो वह उत्तर नही देता वैसे ही भगवान आत्मा के सर्वज्ञ को न्याय के

अनुसार जानकर अनन्त गुणों से एकत्व पहिचान कर उसका अभेदरूप लक्ष न किया जाय तो वह भी उत्तर नहीं देता अर्थात् साक्षात् निर्विकल्प अनुभव नहीं होता।

मैं विकारी हूँ ऐसा माने अथवा गुण-गुणी के भेद का लक्ष करे तो राग का विषय रहता है।

प्रश्न—जब कि निम्नदशा में राग रहता है तब फिर रागरहित दशा की पहिचान कैसे हो?

उत्तर—वह सम्यग्दर्शन होने पर मालूम होती है। जबतक मन के सम्बन्ध में युक्त था तबतक बुद्धिपूर्वक राग रहता था। उसका लक्ष छोड़कर स्व में अभेद लक्ष होने पर बुद्धिपूर्वक राग छूट जाता है और निर्विकल्पता आ जाती है यही सम्यग्दर्शन है। आत्मसाक्षात्कार सर्व प्रथम चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को होता है। गृहस्थदशा में राग होते हुए भी आत्मा में आनंद का स्वाद आता है। प्रथम अल्पज्ञ दशा में ज्ञान का जो स्थूल व्यापार है उस अपने ज्ञान को सूक्ष्म करके ज्ञान के व्यापार को अन्तरंग में अपनी ओर लगाकर निर्मल अभेद स्वरूप का लक्ष करे तो वहाँ बुद्धिपूर्वक के विकल्प छूट जाते हैं। ऐसी कोई अचिन्त्य महिमा गृहस्थदशा में हो सकती है और वह जन्म-मरण टालने का उपाय है।

यदि कोई कहे कि बहुत सूक्ष्म तत्त्व समझकर क्या करना है? अन्त मे तो ध्यान ही करना है न? इसलिये हम पहले से ही ध्यान में लगें तो? परन्तु समझे बिना ध्यान किसका करोगे?

बहुत से लोग कहते हैं कि "चित्तवृत्ति का निरोध करो" परन्तु उनकी बात दोषपूर्ण है क्योंकि वह बात नास्ति से है। अपनी 'अस्ति' क्या है इसे प्रथम जाने बिना चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता। पहिचान होने के बाद एकाग्रता रूप अन्तरंग व्यापार में लगना सो स्व में स्थिरतारूप ध्यान है। उसमें चित्तवृत्ति सहज ही रुक जाती है उसका निरोध नहीं करना पड़ता। हमें तो मनको बाहर जाते हुए

रोकना है। इसप्रकार पर से मन को दूर हटाने की बात कितने ही लोग करते है, परन्तु स्वय अस्ति क्या है ? ज्ञायकस्वरूप मे स्थिर होना क्या है ? इसकी जिन्हे खबर नही है उनका मन बाह्य की ओर जायगा ही। पर का अभाव विचारे, परन्तु स्व का सद्भाव कैसा है क्या है ? इसके विचार के विना वह अनित्य जागृति है। वह राग-द्वेष को निकालना चाहता है, परन्तु किसको रखना है, और वह कैसा है, कैसा नही, वह क्या कर सकता है और क्या नही, इसकी खबर के विना वह जो कुछ मानता है, जो कुछ जानता है, जो कुछ आचरण करता है वह सब मिथ्या है। यथार्थ स्वरूप को जाने विना अनन्तवार जैन साधु हुआ परन्तु फिर भी ससार में ही रुलता रहा।

आत्मा को समझे विना राग-द्वेष को नही टाला जा सकेगा। यदि वस्तु को यथार्थ समझ ले तो राग-द्वेष सहज ही टलने लगेंगे। प्रथम श्रद्धा में निर्विकारी अखण्ड की उपस्थिति हो जाने पर सर्व बातो को यथार्थरूप से जान लेता है। न समझते हुए भी यदि कोई यह कहे कि हम तो "चित्तवृत्तिनिरोधरूप ध्यान करते हैं" तो उसका ध्यान नीम के वृक्ष के मूढतापूर्ण ध्यान के समान है। "चित्तवृत्तिनिरोधो ध्यानम्" यह तो नास्ति से बात हुई। सर्वज्ञ का कथन तो यह है कि "एकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानम्" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९, सूत्र २७) इसमें अस्ति से बात कही है। एक में चित्त को एकाग्र करना, सो ध्यान है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द स्वरूपी है। उसके लक्ष में स्थिर होने पर राग दूर होकर भीतर स्थिरता हो जाती है और राग का नाश सहज मे ही हो जाता है। इसप्रकार 'अस्ति' और 'नास्ति' दो हो करके अखण्ड स्वरूप है।

अनतकाल तक यह बात सुनने को मिलनी कठिन है, जो इस समयसार में स्पष्टरूप से कही गई है। साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु के मुखकमल से निकली हुई वाणी सुनकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने चारित्र सहित अन्तरगदृष्टि से अनुभव की हुई बात जगत के सामने रख करके साक्षात् सर्वज्ञ के न्याय का अमृत बहाकर धर्म के झरने प्रवाहित

किये हैं। अनन्तकाल की भूल जिसे नाश करनी हो उसे सत्समागम से सुनकर अविकारी आत्मा को अखण्डरूप से लक्ष में लेना चाहिये।

मनके सबंध से किंचित् पृथक होकर गुण–गुणीके भेदका लक्ष छोड़कर अभेदरूप से आत्मा का अनुभव करना चाहिये।

प्रश्न—यदि आँख कान बन्द करलें तो क्या विकल्प रुक सकते हैं?

उत्तर— भीतर कौन है इस बात को समझे और उसमें स्थिर रहे तो नाक–कान के कार्य की ओर लक्ष न जाय और तब वे बंद हुए ही हैं बन्द नहीं करने पड़ते। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों को भी तो इन इन्द्रियों के चिन्ह नहीं हैं तो क्या इससे उन्हें राग–द्वेष नहीं है? उन जीवों के तो अनन्त–मूढ़ता की विकलता विद्यमान है।

आत्मा अपने अनन्त गुण–पर्यायों का पिण्ड है। पहले उसे यथार्थ जाने और जानने के बाद राग से दूर रहकर स्वभाव में एकाग्र हो जाय तो संकल्प–विकल्प की आकुलता सहज ही टल जाती है। सत् के लक्ष से असत् (राग-द्वेषादि) टलता है। आत्मा पर से भिन्न है यह जाने बिना परमार्थतः राग दूर नहीं होता। एकान्त में जाकर अपनी कल्पना से माने कि मुझे संसार का राग नहीं है विकल्प नहीं है परन्तु परमार्थ से आन्तरिक अभिप्राय में राग–द्वेष घटा नहीं है तो इसके परिणामस्वरूप वह जीव मूढ़ हो जायगा।

आत्मा का निर्विकल्प निरावलम्बी सहजस्वरूप समझे बिना जैन साधु होकर कषाय को इतनी मंदता की है कि अगर कोई जला भी दे तो उस पर क्रोध न करे, फिर भी भव कम नहीं हुए धर्म नहीं हुआ। क्योंकि 'मैं सहन करता हूँ' ऐसा जो विकल्प है सो राग है धर्म नहीं। पहले राग–द्वेष पर लक्ष न करते हुए स्वाभाविक अस्ति' वस्तु त्रिकाल में क्या है यह जानना चाहिये। उसको जाने बिना ही रागादि का अभाव चाहता है इसलिये नास्ति पक्ष (रागादि का नाश) नहीं हो सकता।

यह तो बहुत सूक्ष्म है समझ में नहीं आ सकता। ऐसा मत मानो। यह बात सत्य है त्रिकाल में सत्य है अनन्तकाल में कभी नहीं

सुनी थी ऐसी यह बात है। तेरी महिमा बनाकर तेरी लोरिया गाई जारही है। "मेरा पुत्र बड़ा सयाना है, चौकी पर बैठ कर नहा रहा है, मामा के घर जायगा, खाजा, जलेबी खाएगा" ऐसे गीत बालक को सुलाने के लिये माता प्रशसा करती हुई गाती है, किंतु तुझे अनादि की नीद में से जागृत करने के लिये सर्वज्ञ भगवान गीत गाते हैं कि 'तू आत्मा चिदानद प्रभु है, पर के आधीन नही है। तू तीनो काल में स्वाधीन है'। यह तेरे स्वभावरूप धर्म की जागृति के गीत हैं। अनन्तकाल से तू अपने को नही पहचान रहा है। गुण–गुणी के भेद के विचार मे या शुभराग मे अटका हुआ है, तब धर्म कहाँ से हो सकता है।

इसी सातवी गाथा में यह बताया है कि–परमार्थस्वरूप का आत्मा मे अभेद अनुभव कैसा है। उसे नही समझने वाले अनेक कुतर्कों से शका उठाते हैं। जिसे खोटी प्राप्ति हुई है वह उसको (खोटेपन को ही) प्रगट करता है। यहाँ श्री कुदकुदाचार्य ने त्रिलोकनायक तीर्थंकर भगवान के पास से जो सनातन सत्य प्राप्त किया है उसे जगतके समक्ष प्रगट किया है कि प्रत्येक वस्तु पर से भिन्न और स्व से एकरूप है। आत्मा के कोई गुण भिन्न नही हैं, तीनो काल की पर्यायो को अभेद करके अतरग के अनुभवद्वारा कहते हैं कि ज्ञानी को दर्शन, ज्ञान, चारित्र नही हैं, अर्थात् वे भिन्न–भिन्न नही हैं, वे सम्पूर्ण द्रव्यस्वरूपमें समा जाते हैं।

दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व द्रव्यत्व इत्यादि समस्त गुण वस्तुस्वरूप से एक हैं तथापि कार्यरूप से कथचित् भिन्न हैं। जैसे कि श्रद्धा का कार्य प्रतीति करना है, ज्ञान का कार्य जानना है, आनद का कार्य आल्हाद अनुभव करना है, दर्शन का कार्य सामान्य प्रतिभास है, अस्तित्व का कार्य होनेरूप है। ज्ञानद्वारा समस्त गुण भिन्न–भिन्न और किंचित् एकरूप हैं, ऐसा ज्ञात होना है। समस्त गुणो का आनद भिन्न–भिन्न है, तथापि उन सब गुणो का एकरूप कैसे है, यह समझकर एकत्व को लक्ष मे लेने की यह बात है। इस समझने की

विधि के अतिरिक्त तीन काल और तीन लोक में और कोई उपाय नहीं है।

एक होय त्रयकाल में, परमारथ को पंथ।
प्रेरे वह परमार्थ को, सो व्यवहार समंत ॥

(आत्मसिद्धि गाथा ३६)

तत्व में अविरोधरूप समझपूर्वक जो निर्मल ज्ञान है वही पुण्य–पापरहित अविकारी स्वरूप में स्थिर रहने को प्रेरित करता है। वह ज्ञान का स्थिरतारूप व्यवहार ज्ञानी को स्वीकार है। इसप्रकार स्वरूप को समझकर एकबार तो अन्तरंग में लक्ष करो। उसमें विकार तो क्या परन्तु गुण–गुणी की भिन्नता भी नहीं है। वर्तमान में ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव का अनुभव करते हुए वस्तु में जो अनंतगुण हैं वे किंचित् अभिन्न और गुणोंके स्वादभेद से भिन्न हैं। एक स्वभावरूप से अनुभव में आने पर दर्शन ज्ञान चारित्र के भिन्न–भिन्न प्रकार अनुभव में नहीं आवेंगे।

सुख तो आत्मा में ही है। उसको जगह लोग बाह्य पदार्थोंसे सुख मानते हैं किन्तु वह कल्पना मात्र है। यह मकान ठीक है लड़के–बच्चे अच्छे हैं स्त्री अच्छी है प्रतिष्ठा भी अच्छी है इत्यादि कल्पना करके सुख मान रखा है। यद्यपि सुख अन्तरंग में है किन्तु उससे विपरीत पर–निमित्त में सुख मान रखा है। अज्ञानी ने भ्रमके वशीभूत होकर सुख की कल्पना करली है। लोग जैसा कहते हैं वैसा वह मान लेता है, बाह्य अनुकूलता में सुख सुविधा समझकर अज्ञानी सुख मान लेता है। पर विकार के लक्ष को और उसके स्वामित्व को छोड़कर मेरा अनन्त सुख मुझमें है और वह मुझसे ही है मुझमें अनंत गुणों का अनन्त सुख है इसप्रकार ज्ञानी अपने गुण को अखण्ड द्रव्य में समाविष्ट करके अनंत आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि निम्नदशा में प्रगट आनंद अल्प है किन्तु वह लक्ष में पूर्ण है।

श्रद्धा ज्ञान चारित्र वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व प्रदेशत्व विभुत्व स्वच्छत्व प्रकाशत्व अगुरुलघुत्व प्रभुत्व जीवत्व चेतनत्व

इत्यादि समस्त गुणो का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, तथापि वस्तु एकरूप है।

मन के शुभ भाव से कुछ छूटकर स्वभाव का लक्ष करने पर बुद्धिपूर्वक विकल्प नही रहते, उस दशा को अनुभव कहा जाता है। ऐसे एकरूप अनुभव मे दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद नही है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्याय है। उस पर्याय के भेदपर लक्ष जाना सो व्यवहार है। उस (भेद) के लक्ष से निर्मलता नही होती।

समयसार की एक-एक गाथा अपूर्व है। अनन्तकालमे आत्मा इस वस्तुस्वभाव को नही समझ सका, किंतु उसे समझने के लिए अनंत-काल की आवश्यकता नही होती। अज्ञान मे परिभ्रमण करते हुए अनंत-काल व्यतीत कर दिया, किंतु स्वाधीन आत्मप्रतीति करके मुक्त होने मे अधिक काल की आवश्यकता नही होती। अनन्तभव का अन्त करनेवाली बात को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत के समक्ष स्पष्ट प्रगट करते है कि विकार और गुण के प्रकार के भेदसे रहित मात्र ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि के द्वारा अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा करना ही मोक्ष का मूल है। व्यवहार को समझाने के लिए, अन्य पदार्थों से आत्मा को पृथक् दिखाने के लिये कथन की अपेक्षा से गुण-गुणी का भेद करता है, किन्तु वस्तु को अखण्ड ज्ञायकरूप मे देखने पर उसके अनंतगुण एकरूप अनुभव में आते हैं। उसमे विकल्प नही है, बुद्धिपूर्वक विकल्प का ध्यान भी नही है। ऐसी श्रद्धा का बल प्रथम ही धर्म का उपाय है, और वही मुक्ति का कारण है।

भावार्थ —शुद्ध आत्मा को कर्मबंध के निमित्त से अशुद्धता आती है, यह बात तो दूर ही रहे, निमित्तरूप से कर्मबंध का अनादि-काल से सयोग-सम्बन्ध है, उसमे युक्त होने से वर्तमान मे विकार-पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी दूर रहे, उनका सम्यग्दर्शन मे विचार नही करना है। उसमे दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भी भेद नही है, क्योंकि वस्तु अनंत धर्मरूप एक धर्मी है।

आत्मा अनन्त धर्मरूप होने पर भी वस्तुरूप मे एक ही है,

परन्तु अज्ञानी उसे भेदरूप धर्मों से समझ सके इसलिये आत्मा का प्रगट लक्षण जाना जा सके ऐसे असाधारण गुण को दूसरे से लक्षण भेदरूप में बताने के लिये इसप्रकार व्यवहार से भेद करके कहा जाता है कि जो जाननेवाला है सो आत्मा है जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है।

अषाढ़ की अमावस्या की घनघोर रात्रि हो और उस समय अंधकार से परिपूर्ण कमरे में कोई सो रहा हो और ऊपर से तीन-चार रजाइयां ओढ़ रखी हों और आँखें बन्द हों फिर भी वह सोता हुआ कहता है कि घोर अन्धकार है। यहां पर विचार करना चाहिये कि यह किसने जाना ? जिसने जाना है वह स्वयम् जाननेवाला ज्ञातास्वरूप है इसलिये उसने उसीसे जाना है क्योंकि अन्धकार से अन्धकार दिखाई नहीं देता। देह इन्द्रिय और मन जड़ हैं उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता तथा उनके द्वारा आत्मा जानता भी नहीं है। शरीर जड़ है उससे आत्मा भिन्न है। यदि उसे विशिष्ट ज्ञानगुण के द्वारा पहचाने तो जल्दी पहचाना जाता है। आत्मा एक मात्र ज्ञान गुणरूप नहीं है किन्तु आत्मा में ऐसे अनन्तगुण हैं उन सब को अज्ञानी नहीं जानता। इसलिए जो अन्य द्रव्य में न हों ऐसे असाधारण गुणों के द्वारा आत्मा को भेद-कथन से पहिचान करानी पड़ती है।

ज्ञानी के दर्शन है ज्ञान है चारित्र है। इसप्रकार परमार्थको बताने के लिए कथन के द्वारा भेद करना सो व्यवहार है। गुण-गुणी का भेद करके जो समझाने की रीति है सो व्यवहार है। परमार्थ से अर्थात् वास्तव मे देखा जाय तो आत्मा अनंत गुणों का अभेद पिंड रूप है। इसलिए समस्त पर्यायों को पी गया है अर्थात् द्रव्य में त्रिकाल अनन्त पर्यायें और अनन्त गुण परस्पर समाविष्ट हैं इसलिए लक्षण और कार्य भेदरूप में भिन्न होने पर भी वस्तुरूप में कोई गुण भिन्न नहीं है।

यहां कोई प्रश्न करे कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है। जो जानने की क्रिया करता है सो ज्ञान है जो प्रतीति करता है सो श्रद्धा

है, और उसमे स्थिर होना सो चारित्र है। यह सब आत्मा के ही गुण है, अवस्तु नही है, तब फिर उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? अपनी वस्तु के रूप मे अपने गुण अपने आश्रित हैं, उसे निश्चय कहना चाहिये। उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? शरीर मन, वाणी तथा राग–द्वेष को जीव के व्यवहार से कहो तो ठीक है, क्योंकि जो परभाव के आश्रित है, उसे व्यवहार कहा जाता है, किन्तु ज्ञान, श्रद्धा–चारित्र जो कि निजवस्तु के आश्रित है उसे व्यवहार कैसे कहते हो?

समाधानः—यह सच है कि यह गुण आत्मा के हैं, किंतु यहाँ आत्मा को इसप्रकार बताना है कि द्रव्यदृष्टि से अभेद निर्मल एकरूप स्वभाव सामान्य लक्ष में आता है। अभेददृष्टि मे भेद को गौण करने से ही अभेद वस्तुस्वरूप भलीभांति मालूम हो सकता है। अनत गुण से अभेद आत्मा को एकरूप समझाते समय भेदकथन गौण हो जाता है। इसलिये यहां पर गुण–गुणी के भेद को गौण करके उस भेदको व्यवहार कहा है। यहां पर यह अभिप्राय है कि भेद करने वाले के लक्ष मे निर्विकल्पदशा नही होती और सरागी के विकल्प बना रहता है। गुणके विकल्प करते रहने से पुण्य होता है, निर्विकल्प अनुभव नही होता? छद्मस्थ के राग रहता है इसलिये भेद पर लक्ष करने से राग में रुक जाता है, इसलिये जबतक रागादिक न मिट जायें तबतक वर्तमान अवस्था के विकार और उनके भेद को गौण करके अभेदस्वरूप निर्विकल्प अनुभव करने का उपदेश दिया गया है। वीतराग होने के बाद भेदा–भेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है। यदि पराश्रय के विकल्प किया करे तो मन के सम्बन्ध का राग उठता है, यदि उसे हठ से छोडना चाहे तो नही छूटता। यदि समझे बिना एकाग्र होना चाहे तो मूढता बढ जाती है।

अखण्ड निर्मल के लक्ष से निर्मल श्रद्धा–ज्ञान प्रगट होता है और फिर निर्मल चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। अनन्त धर्मस्वरूप अखण्ड वस्तु, उसके गुण तथा अनत पर्याय का ज्ञान एक साथ वीतराग

के होता है उसके ज्ञान में क्रम नहीं होता किन्तु सरागी जीव भेद पर लक्ष करता है तब वहाँ एक पक्ष का राग रहता है। पहले श्रद्धा में निर्विकल्प होने के बाद जब चारित्र में विशेष स्थिर नहीं रह सकता तब अशुभ से बचने के लिए शुभ में लगता है किन्तु दृष्टि तो अखण्ड स्वभाव पर ही रखता है और उस अभेददृष्टि के बल से चारित्रको पूर्ण कर लेता है।

छट्ठी गाथा में क्षणिक वर्तमान अवस्था में विकार का लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूप का लक्ष करने को कहा है और इस सातवीं गाथा में गुण–गुणी के भेद का लक्ष छोड़कर अभेद अखण्ड ज्ञायक-स्वरूप का लक्ष करने को कहा है। इस अभेददृष्टि के बल से क्रमशः राग का नाश और निर्मलता की वृद्धि होकर केवलज्ञान की पूर्णता प्रगट होती है।

प्रश्न:—ज्ञानी के सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र क्यों नहीं है?

उत्तर:—श्रद्धाका विषय त्रिकाल निरपेक्ष द्रव्य है और सामान्य ध्रुवस्वभाव अभेदरूप में निर्मलरूप में लक्ष में लेना है तथा निश्चय का विषय भी अभेद निर्मल है किन्तु निश्चय का विषय श्रद्धा–सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन पर्याय है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र भी पर्याय हैं। एवं पर्याय के जो भेद हैं वह व्यवहार का विषय है। ज्ञानी के दर्शन ज्ञान चारित्र विद्यमान नहीं हैं क्योंकि वह पर्याय है खंड है व्यवहारनय का विषय है और अभेददृष्टि में–निश्चय में बंध–मोक्ष, साध्य–साधक इत्यादि सब पर्यायें गौण हो जाती हैं। सामान्य–विशेष एक ही समय में होते हैं उनमें से निश्चय के विषय पर दृष्टि करने वाला सम्यग्दृष्टि है एक समय में एक पर्याय प्रगट होती है पर्याय का भेद व्यवहार का विषय होने से अभूतार्थ है अर्थात् त्रिकाल विद्यमान नहीं है इसलिए शुद्धनय के द्वारा भेद को गौण किया जाता है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र की पर्याय के ऊपर का जो लक्ष है वह निर्मलता का कारण नहीं है उसमें शुभराग होता है किन्तु रागका अभाव नहीं होता। अखण्ड द्रव्य–सामान्य के ऊपर की जो दृष्टि है,

वह सम्यग्दर्शन, चारित्र और केवलज्ञान का कारण है, सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड निर्मल सामान्य एकरूप है, इसलिये निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्य में मिल जाती है। सामान्य निर्मल के लक्ष से निर्मलता प्रगट होती है और भेद के लक्ष से राग रहता है। अखण्ड के बल से चारित्र प्रगट होता है, वह व्यवहार है, गौण है। व्यवहार मात्र ज्ञान करने के लिए और उपदेश मे समझाने के लिए है। 'पूर्ण निर्मल हूँ' ऐसी अखण्ड की दृष्टि ही मोक्ष देने वाली है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल पर्याय अखण्ड के बल से प्रगट होती है, वह पर्याय सद्भूत व्यवहार है और वह भी दृष्टि मे गौण है। दृष्टि मे साध्य–साधक का भेद नही है। ससार और मोक्ष पर्यायें हैं, वे भी अभूतार्थ के विषय हैं, इसलिये गौण हैं।

सम्यग्दर्शन और शुद्ध आत्मा एक नही हैं, क्योकि शुद्ध आत्मा अनन्तगुणो का अभेद पिण्ड है और सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है, वह निश्चयदृष्टि मे गौण है ? ज्ञानी अभूतार्थ को अर्थात् जो त्रिकाल विद्यमान नही रहता उस भेद को मुख्यतया लक्ष मे नही लेता।

अखण्ड द्रव्यदृष्टि के बल से–निज के अस्तित्व के बल से निर्मल पर्याय अवश्य होती है, ऐसी श्रद्धा का होना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसी श्रद्धा भेद के लक्ष से अथवा विकल्प से नही होती।

यहाँ पुन प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिए, उपदेश मे व्यवहार का आश्रय क्यो लिया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर आठवी गाथा मे बडे ही अद्भुत ढग से दिया गया है।

आठवीं गाथा की भूमिका

छट्ठी गाथा मे विकार से भिन्न अभेद ज्ञायक आत्मा का वर्णन किया गया है। उससे यह लक्ष मे लेने को कहा गया है, कि आत्मा ज्ञानादि गुणो का अखडपिंड है, आत्मा क्षणिक एक अवस्था-मात्र के लिए नही है, इसलिये उस भेद को गौण करके एक आत्मा को

निर्मल, असंयोगी, अविकारीके रूप में लक्ष में लेना चाहिये यही श्रद्धा का विषय है। शरीर आदि का संयोग आत्मा से बहुत दूर है। उस ओर की आसक्ति को पहले से ही कम करना चाहिये मैं किसी देहादि के संयोगरूप नहीं हूँ! उसके कोई कार्य मेरे आधीन नहीं है। आचार्य देव ने यह मान लिया है कि यह सब सुनने वाले के इतनी समझ तो होती ही है।

आत्मा का परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है परवस्तु अपने से (आत्मा से) त्रिकाल नास्तिरूप है। वर्तमान विकारी अवस्था भी आत्मा में नहीं है। देह में आत्मा नहीं है किन्तु निमित्त से कहा जाय तो एक आकाश क्षेत्र में आत्मा और देहादिक जड़पदार्थ सयोगरूप में विद्यमान हैं। तथापि प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा वस्तुकी अपेक्षा से पृथक्–पृथक् है। जो आत्मा से पृथक है वह आत्मा का नहीं हो सकता। ऐसे स्थूल व्यवहारिक मिथ्यात्व का त्याग तो समयसार के जिज्ञासु के होता ही है। कुगुरु कुदेव और कुशास्त्र मेरे लिये किसी भी प्रकार से हितकर नहीं हैं देहादिक मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर व्यवहारिक भूल को छोड़कर ही इस परमार्थस्वरूप को समझने के लिए जिज्ञासु आया है।

आचार्य महाराज ने ऐसी बात कही है कि जिससे भव भ्रमण दूर हो सकता है और इसीलिए उनने अनादिकालीन विपरीत-मान्यता पर प्रहार किया है।

आत्मा का परवस्तु के साथ सबन्ध नहीं है किंतु पराश्रित भाव को लेकर जो विकार होता है वह वर्तमान अवस्था में आत्मा में होता है तथापि जो अपने को उतना ही माने शुभ–अशुभभावों को अपना स्वरूप माने उसके शुद्ध आत्मा की श्रद्धा नहीं है। आत्मा तो अविकारी परमें कर्तृत्व–भोक्तृत्व से रहित चिदानन्द, निर्विकल्प ज्ञायक है।

परवस्तु मेरी नहीं है यह समझाने के बाद छट्ठी गाथा में यह समझाया है कि शुभ–अशुभ विकार भी मेरे नहीं हैं। मैं निर्मल हूँ पर

से भिन्न हूं, एकरूप ज्ञानानन्द हूं, इसमे दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, इस-प्रकार यदि जीव गुण–गुणी के भेद के विचार मे लग जाय तो उसे अपना सम्पूर्ण तत्व एक ही साथ लक्ष मे नही आ सकता, यह बात सातवी गाथा में बताई है।

यहाँ पर भेददृष्टि के विकार और प्रकार की ओर से लक्ष को बदलकर, गुण–गुणी के भेद का लक्ष गौण करके, राग से कुछ अलग होकर, निर्मल अभेद स्वरूप की निर्विकल्प श्रद्धा कराते हैं, सयोगरहित, असयोगी का लक्ष कराते हैं, विकाररहित, अविकारी स्वरूप को बताते हैं, भेददृष्टिरहित, अखण्ड निर्मल वस्तु को बताते है। यदि रागी जीव गुण–गुणो के भेद के विचार मे अटक जाय, तो उसके लक्ष में यह नही आ सकता कि रागरहित, भेदरहित, वीतराग अभेदस्वरूप क्या है।

प्रश्न—तब क्या हमें घर छोडकर निकल भागना चाहिये ?

उत्तर—जिस अज्ञान से छूटना है उसका तो भान नही और घर से छूटने की बातें करता है, यह विपरीतदृष्टि है, महामिथ्यात्व है। जिसकी बुद्धि मे यह बात है कि मैं सयोगी पदाथ को छोडदूँ या अमुक वस्तु का त्याग करदूँ, तो अन्तरग में निवृत्ति आ जायगी यह निमित्ता-धीनदृष्टि, मिथ्यात्व–शल्य है। पर के लक्ष से यदि कदाचित् कषाय मन्द हो जाय तो पुण्य हो सकता है, किन्तु अनादिकालीन भूल दूर नही हो सकती। जो यह मानता है कि यदि सयोग से दूर हो जाऊँ तो गुण उत्पन्न हो जायेंगे, उसे अपने मे जो अनन्तगुण भरे हुए हैं उनकी श्रद्धा नही है। यह मान्यता मिथ्या है कि सयोगो के दूर होनेपर गुण होते है। तथा यह मान्यता भो मिथ्या है कि शुभभावोकी प्रवृत्ति से गुण होते हैं। जो जीव परलक्ष से, परकी अपेक्षा से कुछ करना चाहता है, उसे निरावलम्बी, निरपेक्ष तत्व समझ में नही आ सकते। पहले अपनी ओर दृष्टि करनी होगी कि मुझमे अनन्तगुण भरे हुए हैं, मै अखण्ड, निरपेक्ष, निर्मल हूँ। ऐसे ज्ञायक के लक्ष से पराश्रय की दृष्टि बदल जाती है। सयोग ने मेरे गुण को रोक रक्खा है, इसलिये यदि सयोग को छोड दूँ तो मेरा गुण प्रगट हो जायगा, इसप्रकार मानना सो तीव्र

मिथ्यात्व है । शुभ–अशुभभाव जो कि विकार है वह मुझे गुण करता है इसप्रकार वह विकार और गुण को एक मानता है । तू निर्विकार है तूने अपने परम माहात्म्य की बात को कभी नहीं सुना, अन्तरंग से तुझे महिमा का कभी उद्भव नहीं हुआ । वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने तेरी अनन्त महिमा गाई है परन्तु तूने उसे अन्तरम से परमार्थतः कभी नहीं सुना ।

समयसार की छट्ठी–सातवीं और आठवीं गाथायें आत्मधर्म रूपी वृक्ष की जड़ें हैं । जिसने यह माना है कि आत्मा परवस्तुको ग्रहण कर सकता है अथवा छोड़ सकता है उसने पर को और अपने को एक माना है । परवस्तु मेरे आधीन नहीं है उसका स्वामित्व मेरे नहीं है विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है इसप्रकार एक के साथ दूसरे गुणके भेदका विचार करे तो भी अभेद की श्रद्धा प्रगट नहीं हो सकती । इसलिये अभेद–निर्मल की श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है । जहाँ सम्यग्दर्शनरूपी बीज नहीं है वहाँ व्रतरूपी वृक्ष कहाँ से उग सकता है ? समझे बिना व्रत और तप बालव्रत और बालतप हैं । देह मन वाणी की प्रवृत्ति आत्मा के लिए लाभ या हानिकारक नहीं है । राग की प्रवृत्ति आत्मा के लिए लाभकारक नहीं प्रत्युत हानिकारक है । आत्मा जब अन्तरंग दृष्टि की प्रतीति को प्राप्त होता है तब 'मैं राग का नाशक हूँ' इस प्रकार की प्रतीति के बल से परवस्तु का राग छूट जाता है । राग के छूट जानेपर परवस्तु अपने निज के कारण छूट जाती है । मैं परवस्तु का त्याग कर सकता हूँ इसप्रकार परके स्वामित्व को मान्यता अनन्त संसार का मूल है । त्याग सहज है स्वभाव में हठाग्रह नहीं होता लोग तत्त्व को नहीं समझे इसलिए तत्त्व दूसरा नहीं हो सकता वह जैसा का तैसा बना रहता है ।

वस्तु के सहजस्वभाव की पहचान से निज में स्थिरता बढ़ती है और रागका अभाव होता है । अभेदहृष्टि से अखण्ड स्वभावको लक्ष में न लें किन्तु गुण–गुणी भेद को लक्ष में लें तो दृष्टि में राग रहता है और इसीलिए सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता । मैं पर से भिन्न हूँ ऐसा

विचार करे अथवा "मै राग को दूर करूं–मै राग को दूर करूं" इस-प्रकार कहा करे तो वह भी राग है। जहाँ राग की ओर झुकाव होता है वहाँ वीतरागस्वभाव का निर्विकल्प लक्ष नही होता। किन्तु राग से पृथक् होकर "मै निर्मल हूँ" इसप्रकार की दृष्टि के बल से यदि आगे बढ़ता चला जाय तो पूर्ण निर्मल हो जाता है। अविरोधरूप से तत्व को जान लेने के बाद "मै अखण्ड पूर्ण निर्मल हूँ" ऐसे स्वलक्ष के बल से निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता (चारित्र की निर्मलता) सहज प्रगट हो जाती है। अखण्डदृष्टि का बल अल्पकाल मे मोक्ष को प्राप्त करा देता है। राग को दूर करने का विचार नास्तिपक्ष की ओर का झुकाव है। यदि शुद्धदृष्टिसहित राग को दूर करने का विचार हो तो भेद-दृष्टि होने से शुभभाव होता है, किन्तु राग का अभाव नही होता।

यहाँ तो पहले ही शुद्ध अखण्ड की दृष्टि करने को कहा है, उसमे शुभ करने की तो कोई बात ही नही है, किन्तु आन्तरिक स्थिरतारूप चारित्र को भी गौण कर दिया है। दृष्टि मे निरावलम्बी अभेदभाव को लक्ष मे लेने के बाद उसीके बल से निरावलम्बी निर्मल चारित्र प्रगट होता है।

प्रश्नः—क्या यह ठीक है कि पहले सराग चारित्र और उसके बाद उससे वीतराग चारित्र होता है ?

उत्तर—नही, राग तो विकार है, उससे चारित्र को कोई सहायता नही मिलती। चारित्र तो अकषायस्वरूप है अकषायदृष्टि के खुलने पर जो व्रत आदि का शुभराग रहता है उसे उपचार से व्यव-हार चारित्र कहा जाता है, तथापि जो यह मानता है कि शुभभाव का करने वाला मैं हूँ और वह मेरा कार्य है, वह धर्म को अविकारी वीत-रागरूप नही मानता, और अपने को अविकारी नही मानता इसलिये वह दृष्टि मिथ्या है। चारित्र आत्मा का वीतरागभाव है, और व्रता-दिका शुभराग विकारी बन्धन भाव है, चारित्र नही है।

आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञाता है, ज्ञातास्वरूप है, उसमे पर का लेना–देना कुछ नही है। मैं इसे यो दूर कर दूँ, इसे छोड़ दूँ, इसे

रक छोड़ू इत्यादि शुभाशुभभाव कषाय हैं, इसलिए वे आत्मगुणरोधक हैं। चारित्र तो अकषायदृष्टि के बल से प्रगट होता है। मैं अखण्ड हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विकल्प दृष्टि के विषय में समझने लिये और पूर्णस्थिर होने से पूर्व आते तो हैं किन्तु वे स्थिरता में सहायक नहीं होते। निर्मल अभेददृष्टि के बल से वीतरागता होती है किन्तु 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसे विकल्प से चारित्र प्रगट नहीं होता और शुद्धदृष्टि भी नहीं खुलती। अभेद निर्मल के आश्रय से वर्तमान पर्याय निर्मल होकर सामान्य में मिल जाती है इसलिए भेददृष्टि को *गौण* करने को कहा है।

प्रश्नः—हे प्रभु! जब आपने भेदरूप व्यवहार को बिलकुल गौण कर दिया तो फिर एकमात्र परमार्थ का ही उपदेश देना था व्यवहार के उपदेश की क्या आवश्यकता थी?

इसका उत्तर आठवीं गाथा में देते हुए कहा है कि:—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ —जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने के लिये कोई समर्थ नहीं है उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करने को कोई समर्थ नहीं है।

यहाँ शिष्य ने (परमार्थ से ही लाभ होता है इतना समझकर) प्रश्न किया है जिसका उत्तर यह है—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप समझाना शक्य नहीं है उसीप्रकार व्यवहार के बिना (समझाने के लिये भेद कथनरूप उपदेश के बिना) परमार्थ को कोई समझ नहीं सकता। जैसे कोई अंग्रेजी भाषा ही समझता हो तो यदि उसे उसकी भाषा में

कहो तभी वह समझता है, इसीप्रकार अनार्य को अर्थात् परमार्थ से अनभिज्ञ व्यवहारी पुरुष को व्यवहार से गुण–गुणी का भेद बताकर समझाया जाता है।

जैसे किसी म्लेच्छ से कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' शब्द कहे तो वह म्लेच्छ शब्द के वाच्य–वाचक सम्बन्ध के ज्ञान से रहित होने से कुछ भी न समझकर ब्राह्मण के सामने मेंढे की भांति आंखें फाडकर टुकुर मुकुर देखता ही रहता है (मेंढे की भांति का अर्थ अनुसरण करने की सरलता है। इतना ही लेना चाहिये) 'स्वस्ति' क्या कहता है यह समझने का आदर है, जिज्ञासा है, आलस्य नही है, आंखें बन्द करके नही सुनता, किन्तु समझने की पूर्ण तैयारी–पात्रता है। अन्धश्रद्धा वाले और सत्य समझने की अपेक्षा से रहित श्रोता नही हो सकते, यह ऊपर के कथन से समझना चाहिये।

वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' का अर्थ समझने के लिये ब्राह्मण के सामने टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, बाह्य में मन को दूसरी ओर नही दौडाता। किन्तु मन को स्थिर रखकर भीतर से 'स्वस्ति' को समझने की जिज्ञासा है, लापरवाह नही है, निरुत्साह नही है। जैसे मेंढे को अनुसरण करने की आदत होती है, उसीप्रकार ब्राह्मण क्या कहता है यह समझने का म्लेच्छ का भला भाव है, इसलिए आंखें फाडकर (प्रेम से आंखें खुली रखकर) ब्राह्मण के सामने वह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। उसके अन्तरग में एक ही आकाक्षा है कि ब्राह्मण जो कहता है उसका अर्थ धीरज से समझलूं, लौकिक मे भी इतनी विनय है।

जैसे प्रधानमत्री, राजा और प्रजा के बीच में मेल कराने वाला है उसीप्रकार गणधरदेव, तीर्थंकर भगवान और श्रोताओके बीच सधि कराने वाले धर्ममत्री हैं। वे तो सब को हित ही सुनाते हैं (किसी को तीर्थंकर भगवान का सीधा वचन भी सुनने को मिलता है।) इसी-प्रकार दोनो की (ब्राह्मण और म्लेच्छ की) भाषा का जानने वाला अन्य कोई तीसरा पुरुष अथवा वही ब्राह्मण म्लेच्छ को 'स्वस्ति' का

अर्थ उसकी म्लेच्छ भाषा में समझाता है कि स्वस्ति शब्द का अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो।

व्यवहार के उपदेश में भी सु+अस्ति' की तरह करने वाले का अविनाशी कल्याण हो ऐसा आशीर्वाद है। तेरी पवित्रस्वरूप लक्ष्मी प्रगट हो' ऐसा उस आशीर्वाद का भावार्थ है।

स्वस्ति' शब्द का ऐसा अपूर्व अर्थ सुनते ही (वह पात्र था इसलिये) अत्यन्त आनंदमय आँसुओं से उसके नेत्र भर आते हैं। यदि हम हर्ष प्रगट न करें तो उसे समझाने की उमंग न हो, ऐसी उसमें कृत्रिमता नहीं है। किन्तु यहाँ म्लेच्छ के तो यही ! तुम्हारा ऐसा कहना है ऐसे अपूर्व आदर के साथ हर्षाश्रुओं से नेत्र भर जाते हैं। ऐसा यह म्लेच्छ स्वस्ति का अर्थ समझ लेता है। इसीप्रकार व्यवहारी मनुष्य भी वाणी के व्यवहार से परमार्थ को कैसे समझ लेते हैं यह आगे कहेंगे।

जब कोई मनुष्य म्लेच्छ को म्लेच्छ की भाषा में स्वस्ति' अर्थात् तेरा अविनाशी कल्याण हो ऐसा अर्थ सुनाये तब म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ जैसा कहा वैसा समझ जाता है। अब उसपर से यह सिद्धांत घटित होता है कि—

जिस जीव ने सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा कहा है वैसी प्रकार आत्मा को कभी नहीं जाना ऐसे व्यवहारी पुरुष को 'आत्मा" शब्द कहने पर जैसा आत्मा" शब्द का अर्थ है उस अर्थ के ज्ञान से रहित होने से कुछ भी न समझकर मेंढे की भाँति आँखें फाड़कर टक टकी लगाकर देखता ही रहता है।

धर्म के नाम पर पुण्य में राजी हुआ ऐसा इत्यादि बाह्य अनुकूलता में सोमुदी बना आप अपने को कहे तो वैसा करता है (नमो अरिहंताणं का जाप अपने से वैसा नहीं मिल जाता किन्तु मन की तृष्णा हुई सो पाप है) लोग धन के फल से संयोग चाहते हैं उसके पुण्यबंध की मिठास है जो पर से सुख चाहता है वह अपने को निःसत्व मानता है इसलिये पराधीनता का आदर करता है। हम तो

क्रिया करते हैं, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करते हैं देह की कुछ क्रिया करें चलें बोले उसे ही वे आत्मा मानते हैं किन्तु देहादि हलन—चलन करता है, स्थिर रहता है, बोलता है, या खाता है, यह समस्त क्रिया जड करता है। भीतर पुण्य—पाप का सवेदन होता है उस क्षणिक विकाररूप भी आत्मा नहीं है। वीतराग ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा लोग नही समझे। आत्मा के धर्म में उपाधि का नाश है, आत्मा का भान होने पर जीव वर्तमान में पूर्णशान्ति और भविष्य मे भी निराकुल पूर्णशान्ति प्राप्त करता है। आत्मा अखण्ड, ज्ञायक है, पूर्ण आनन्दघन है, पर मे भिन्न है ऐसी जिसे खबर नही है वह व्यवहारी पुरुष है, उसे 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने पर उसके अर्थ के ज्ञान से अनभिज्ञ होने से वह मेंढे की तरह आंखे फाडकर 'आत्मा' शब्द कहने वाले ज्ञानी के सामने टुकुर—मुकुर देखता ही रहता है। ज्ञानी क्या कहता है, वही उसे समझना है, अभी कुछ भी अर्थ समझा नही है, इसलिये समझने के लिये ज्ञानी के सामने आँखें फाडकर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, समझने की तैयारी है, न समझने का आलस्य नही है। इसमे प्रारभ मे तत्व सुनने वाला जिज्ञासु कैसा होना चाहिये यह भी आगया। तत्वश्रवण मे जागृति और समझने की उमग तथा पात्रता चाहिये।

"आत्मा अभेद है, सिद्ध भगवान की तरह पूर्ण है, उसमे पुण्य—पाप का विकार नही है, वह पर का कर्ता नही है," इसप्रकार जब ज्ञानी कहता है तब व्यवहारी पुरुष उसका मतलब समझ लेना चाहता है। किन्तु 'यह बकवाद कर रहा है, हम समझ सके इस तरह नही कहता, इसप्रकार जो वक्ता का दोष निकाला करे वह पात्र नही है, सत्य समझने के योग्य नही है। यहाँ टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, उसमे आलस्य नही है, किन्तु क्या कहता है यह समझने का आदर है। मुझे 'आत्मा' कहने में उसकी भूल है, यह न मानकर मुझे समझ में नही आता यह मेरा दोष है, ऐसा मानना चाहिये। जिसे निज को समझाने की रुचि नही है वह "इसे समझाना

नहीं आता'' इसप्रकार दूसरे का दोष निकालता है उसे समझने का अवकाश नहीं है।

मुझे समझने की धीरज रखने के लिये जितनी विनय चाहिये मैं समझ नहीं सकता। यह मेरी ही त्रुटि है, मैं समझने की तैयारी करूं तो अवश्य समझ सकता हूं, इसप्रकार पूर्ण को समझने की पूर्ण ताकत रखकर तैयार हो, ऐसा योग्य सुनने वाला होना चाहिये।

अपने आप कोई शास्त्र पढ़कर चाहे जहाँ से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु साक्षात् ज्ञानी की वाणी से 'आत्मा' का अर्थ समझना चाहिये। कान से शब्द तो सुना किन्तु समझा नहीं स्वयं ज्ञान की प्रकाशता है उसमें पात्रता चाहिये। पहले सत् क्या है, यह समझने की जिज्ञासा होनी चाहिये। जिसकी कषाय मंद हुई है वह दूसरे को दोष देने के लिये नहीं रुकता किन्तु म्लेच्छ की तरह (म्लेच्छ के पात्रता थी) अपने में दोष है ऐसा मानकर समझने के लिये सरल हुआ है। परमार्थतत्त्व क्या है यह सुनने का बहुत प्रेम है यह क्या कहना चाहता है यह समझने के लिये जो आँखें फाड़कर धैर्य से देखने के लिये खड़ा रहता है वह बोध योग्य है ऐसा जानना चाहिये।

'टकटकी लगाकर देखता ही रहता है' इसमें एक ही भाव रखता है देह की अनुकूलता के संसार की ओर के भाव इत्यादि दूसरे विचारों को नहीं आने देता। स्वयं कुछ अपनी ओर झुकाव करने के लिये कषाय मंद करता है, दूसरे को दोष नहीं देना चाहता।

स्वयं समझने का इच्छुक होकर एकटक देखता ही रहता है। इसमें प्रथम देशनालब्धि होने पर पाँचों लब्धियों का मेल बताते हैं —

१—क्षयोपशमलब्धि:—आँखें फाड़कर देखता ही रहता है यह ज्ञान का विकासरूप क्षयोपशम लब्धि है इसमें हितस्वरूप क्या है यह समझने की शक्ति बताई है।

२—विशुद्धिलब्धि—कषाय मंद करनेके बाद तत्वका विचार करने की पात्रता आती है।

३–देशनालब्धि —सम्पूर्ण आत्मा कैसा है यह सुना सो देशनालब्धि है।

४–प्रायोग्यलब्धि —एकटक देखता ही रहता है, इसमें तत्व सुनने मे एकाग्र होने पर कर्म की स्थिति और रस कम करता है।

५–करणलब्धि —इस अन्तरपरिणाम की शुद्धता से स्व की ओर ढलता हुआ भाव है। यह लब्धि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व में होती है।

जो जिज्ञासु है वह आंखे फाडकर एकटक देखता ही रहता है उसमें सिर्फ उसके ऐसे भाव नही होते कि वह मात्र आत्मा की ही बात करता है। उससे नीचे की बात क्यो नही करता।

किसी को ऐसा लगता है कि यह तो आत्मा की ही धुन लगाई है, समाज का कुछ करना चाहिये, किसी को सहायता पहुँचाना चाहिये, दूसरा कुछ करना चाहिये, ऐसा कुछ कहना ही नही है, किंतु ऐसा तो अनादिकाल से सुनकर पर मे कर्तृत्व मानकर जीव परिभ्रमण करता है। आत्मा को भूलकर दूसरा सब अनन्तबार कर चुका, फिर भी अभी भव से विश्राम नही, इसलिये उसे तत्त्व की बात का आलस्य आता है पात्र जीव तो एक आत्मा को समझने के लिये एकटक देखता ही रहता है, दूसरा भव नही आने देता।

जो व्यवहारी पुरुष शास्त्रीय भाषा–आध्यात्मिक परिभाषा नही समझता उसे भेद करके समझाते हैं। जिस अनार्य को आर्यभाषा मे समझ मे नही आता उसे अनार्य की भाषा मे कहना पडता है। 'आत्मा अखण्ड निर्मल है' यह आर्यभाषा है, इसमे कुछ नही समझता, वह आँखें फाडकर एकटक देखता है, इससे यह सूचित होता है कि उसे समझने की उमग है। जबतक आत्मा को न समझ लूँ, तबतक दूसरा कुछ न आने दूँगा, इसप्रकार समझनेके विचार में क्रोधादि–कषाय मद की है और अशुभ को आने नही देता।

श्रोता स्वय ऐसी आज्ञा नही करता कि इसप्रकार कहो कि जो हमें जल्दी समझमें आजाय और हृदय में जमजाय किन्तु विनय से

धर्मपूर्वक समझने की जिज्ञासा प्रगट करता है। और जब ऐसा होता है तब उपदेशक भी विचार करता है कि यह इतनी विनय के साथ कह रहा है इसलिये इसके सच्ची जिज्ञासा है 'यह इस भाव से नहीं समझता तो दूसरे भाव से समझेगा' इसप्रकार दूसरे भाव के द्वारा समझाने की भावना उत्पन्न हुये बिना नहीं रहती। उन दोनों के बीच ऐसा मेल बैठ जाता है। किन्तु यदि सुनने वाला कहे कि हम समझ सकें ऐसा कहो तो समझना कि वह योग्य नहीं है।

जो आत्मा को नहीं जानता ऐसे *मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दर्शन* प्राप्त करने के लिए समयसार का उपदेश है। अनादिकाल की भूल मिटानी हो तो यही समझने योग्य है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव के मुखकमल से निकला हुआ और उसके द्वारा गृहीत तत्व कहते हैं।

मुझे समझना है ऐसा कहने वाले जीव में सरलता विनय और समझने की आकांक्षा है ऐसे जीव को जब आत्मा का स्वरूप समझना है तब व्यवहार-परमार्थमार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले सारथी की तरह अन्य कोई आचार्य अथवा उपदेशक स्वयं ही व्यवहारमार्ग में विकल्पसहित छट्ठे गुणस्थान में रहकर परमार्थ का लक्ष कराने के लिये व्यवहार से कहते हैं कि पुण्य-पाप रहित निर्मल दर्शन ज्ञान चारित्र को नित्य प्राप्त हो वह आत्मा' है। ऐसा आत्मा शब्द का अर्थ आचार्य समझाते हैं तब तत्क्षण ही उत्पन्न होनेवाले अत्यंत आनन्द से जिसके हृदय में सुन्दर बोधरूपी तरंग (ज्ञानतरंग) उछलती है ऐसा वह व्यवहारी पुरुष, आत्मा शब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है।

आचार्य सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले महासारथी के सदृश हैं, ऐसे सारथी के रथ में जो बैठता है उसे सारथी ले जाता है। जो ज्ञानी के पास सत् को समझने के लिये बैठा है मानों वह ज्ञानी के साथ *ज्ञायकस्वरूपके* रथ में बैठा है। वास्तव में छट्ठे-सातवें गुणस्थान में अथवा व्यवहार-परमार्थ रूपी मार्ग में प्रवर्तमान जो मुनि हैं वे जो

कहना चाहते हैं उस भाव को समझने के लिये जो बैठा है मानो वह उनके साथ ही बैठा है।

ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड पर है, वे व्यवहार से भेद करके समझाते हैं। समझने वाला स्वयं ज्ञानी का कहा हुआ समझना चाहता है, अपनी कल्पना बीच में नही लाता, वह पात्र जीव 'आत्मा को भगवान ने ऐसा कहा है' इसप्रकार भेद करके कथन करने पर जल्दी ही परमार्थ अभेदस्वरूप को समझ लेता है।

साक्षात् सर्वज्ञ भगवान से सुनकर गणधरदेव जगत् को सुनाते हैं। कोई जीव तीर्थंकर भगवान से सीधा सुनता है। यहां उपदेश देनेवाला स्वयं व्यवहारमार्ग मे रहकर अर्थात् व्यवहार में आकर समझाने के लिये विकल्प द्वारा भेद करके कहता है, क्योंकि वह स्वयं केवली नही है, किन्तु छद्मस्थ है, फिर भी वह मात्र व्यवहार मे ही रत नही है, किंतु परमार्थ के अभेद अनुभव वाला है। सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पताके छूटने पर उसे जरा विकल्प मे आना पडता है। वे कहते हैं कि जो दर्शन ज्ञान चारित्र को नित्यप्राप्त है वह आत्मा है।

पुत्र का, स्त्री का विश्वास जम गया है इसलिये अज्ञानी यह कल्पना किया करता है कि उनसे यह होगा और वह होगा, किंतु अनुकूल होना तो पुण्याधीन है, यदि अपना पुण्य खतम हो जाय तो कोई अनुकूलता नही दे सकता। अपनी मान्यता के अनुसार कुछ नही होता फिर भी पर में विश्वास करता है। ज्ञानी कहते हैं कि पर में विश्वास करता है उसके बदले तेरे में—निज में विश्वास कर। मैं विकारी नहीं हूँ, पुण्य—पाप नही हूँ, देह मन वाणी की प्रवृत्ति के आधीन नही हूँ, ऐसा अखण्डानन्द आत्मा नित्य अपनी श्रद्धा को प्राप्त है, क्षणिक परसयोग में जो विश्वास है उसे तू सदैव प्राप्त नही है, क्योंकि आत्मा नित्य है, असयोगी है और सयोग क्षणिक है, असयोगी को कोई परवस्तु शरणभूत नही होती।

पर में अनादि से विश्वास किया है। अब पर से भिन्न अविकारी पूर्ण को श्रद्धा कर, पर से पृथक्त्व का ज्ञान कर तथा परके आश्रय से रहित—रागरहित स्व में स्थिरता कर। स्वाश्रित दर्शन ज्ञान चारित्र

को जो सदा पाया हुआ है वह आत्मा है ऐसा मात्र उपदेश करने के लिये गुण–गुणी का भेद डाला सो व्यवहार है। इसप्रकार जैसा आत्मा शब्द का अर्थ है वैसा समझाते हैं। उसे समझकर ही पात्र जीव के अन्तरंग से बहुमान आता है। कथन में भेद होता है किन्तु जब वह अभेद को पकड़ लेता है तब गुरु–शिष्य दोनों का अभिप्राय एकसा हो जाता है।

आत्मा पुण्य–पाप राग द्वेष को प्राप्त है परमाणु, देह इत्यादि की क्रिया को प्राप्त है शरीर कुटुम्ब समाज इत्यादि के कर्तव्य को प्राप्त है ऐसा आत्मा को नहीं कहा किन्तु आत्मा तो पर से पृथक स्व में *एकरूप ज्ञायक ही कहा गया है। उसका भान करने पर निर्मल* पर्याय प्रगट होती है। दर्शन ज्ञान चारित्र अखण्ड ज्ञायक के भान मे प्राप्त होता है।

यदि यह बात जल्दी समझ में न आये तो उसका आलस्य नहीं लाना चाहिये। नाटक देखने का प्रेम हो तो उसे बारबार देखता है नाच मुजरा से प्रेम हो तो उसे बारबार देखने–सुनने के लिये 'वन्समोर' करता है। जिसकी जिसे प्रीति है उसे वह किसी भी मूल्य पर बारबार देखना चाहता है। वहाँ एक की एक बात को बारबार परिचय में लेने पर आलस्य नहीं आता किन्तु उसकी चाह करता है। परंतु जो पात्र जीव होता है वह उससे पलटकर–सीधा होकर भगवान आत्मा की प्रत्येक बात अनेक तरह से सुनता है बारबार सुनता है और बराबर समझने का प्रयत्न करता है। अनन्त जन्म–मरण के चक्कर को दूर करने के लिये सच्ची समझ के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे समझने का आलस्य नहीं होता किन्तु खूब आनन्द होता है। नये नये न्याय सुनकर विशेष दृढ़ता करके अन्तर में उल्लास–उछलकर उसका ही माहात्म्य गाया करता है।

जैसे माता–पिता किसी बात में हर्ष करते हों तो पास में बैठा हुआ छोटा बालक भी उनकी बात को बिना समझे ही हँसता है उसी प्रकार आत्मा की बात सुनकर उसके आशय को समझे बिना जो

देखादेखी से हर्ष करता है वह भी बालक जैसा ही है। तत्वज्ञान का विरोध करने वाला उसके अपने भावका ही विरोध करता है ।

यहाँ तो ऐसे योग्य जीव लिये हैं कि जो आत्मा की बात अपूर्व उमग से बराबर सुनें और समझ कर तुरत ही आनन्द प्राप्त करें, जो विलम्ब करते हैं उन्हें यहाँ पर नही लिया है।

आचार्य ऐसा कहते हैं कि सुननेवाले को उसी समय स्वतत्र-सुख का भान हो। दर्शन ज्ञान चारित्र को जो नित्यप्राप्त है ऐसे आत्मा को उसमे प्राप्त की प्राप्ति है, बाहर से कुछ प्राप्त नही करना है।

सासारिक बातो में कैसा खुश होता है। जब पाँच लाख की लोटरी पक जाती है तब वह ऐसी सुहाती है कि उसी की महिमा गाया करता है और कहता है कि आज मिष्टान्न उडने दो। इसप्रकार बाह्य मे अपने हर्ष को व्यक्त किया करता है। लडका मेट्रिक की परीक्षा में पास होजाय तो उसमें हर्ष करता है, किंतु यह तो दुनिया में परिभ्रमण करने की बात का हर्ष है जो कि नाशवान—क्षणिक है।

आत्मा की अचिंत्य महिमा सुनकर उसके बहुमान से उछल पडे और कहे कि अहो! अनन्त ज्ञानानन्दरूपी रिद्धि मेरे पास ही है, उसमें किसी सयोग, किसी क्षेत्र, किसी काल अथवा विकार की कोई उपाधि नही है। 'मैं पूर्ण अखण्ड अविनाशी हूँ' ऐसा सुना और उसका ज्ञान किया कि तुरन्त ही अत्यत आनन्द से उसका हृदयकमल खिल जाता है। आचार्य महाराज तत्काल मोक्ष हो ऐसी अनोखी बात कहते हैं कि जिसे सुनते ही पात्र जीव के तुरन्त ही सम्यग्दर्शन हो जाता है, अपूर्व देशनालब्धि को प्राप्त करने बाद बीच मे कोई अन्तर नही रह जाता, समझने के लिये तैयार होकर आया और समझाते पर न समझे ऐसी बात यहाँ नही है।

जैसे शुभ्र मधुर समुद्र की तरंगें उछलती हैं और ज्वारभाटा आजाता है, इसीप्रकार पहले कुछ नहीं समझता था और उसे समझा कि तत्क्षण ही निर्मल सम्यग्ज्ञानज्योति का आनन्द प्रगट होकर वृद्धि-

प्राप्त करके अल्पकाल में ही केवलज्ञान का स्वादमाटा आयगा । इस प्रकार पूर्ण होने से पहले पूर्ण की उमंग होती है ।

सच्चा तत्त्व समझने वाला सुनते ही तुरन्त समझ जाता है और उसके साथ ही सम्यग्दर्शन और आनन्द प्राप्त करता है । नेत्र खोलकर देखता ही रहता है अर्थात् उसे पुण्य—पाप अथवा बड़प्पनकी कोई पदवी इत्यादि अन्य कुछ नहीं चाहिये ।

'काम एक आत्मार्थ का अन्य नहीं मन रोग

आत्मा का निर्मल पूर्णस्वरूप जैसा ज्ञानी ने कहा वैसा ही पात्र जीवने समझा उसमें समझने की पात्रता अपनी ही थी । समझते ही हृदय में सुन्दर बोधरूपी तरंगें तत्काल उछलने लगती हैं । उसमें ऐसा अर्थ निहित है कि केवलज्ञान प्राप्त करने में देर न लगे ऐसी पूर्ण शक्ति की महिमा लक्ष में लेकर निर्मलता की वृद्धि प्राप्त करता है । उसे यह पूछने की जरूरत नहीं रहती कि हमारी समझ में कैसे आयगा ।

जैसे अनार्य को भाषा में अनार्य का समझाया जाता है उसी प्रकार व्यवहार से भेद करके व्यवहारीजन को उसकी भाषा में लक्ष कराया जाता है । पहले जो कुछ भी नहीं समझता था उसे समझानेका यह उपदेश है । यदि कोई कहे कि समयसार में तो सातवें गुणस्थान वालों के लिये अथवा केवलियों के लिए कथन है तो वह असत् सिद्ध होता है । इसप्रकार जगत् म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से और गुण के भेद करके अखण्ड निर्मल आत्मा की पहिचान कराती है इसलिये वह व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान में होने के कारण परमार्थ का कथन करने वाला होने से व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है इसीप्रकार ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना चाहिये इस वचन से वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है । देह की क्रिया से पुण्य से अथवा विकार से आत्मा को पहिचानना सो तो व्यवहार भी नहीं है । आत्मा अनन्तगुण का अखण्ड पिंड है उसमें गुण के भेद का थोड़ा सा विकल्प करने पर व्यवहार होता है इस कथन से जो पूर्णको

समझा उसे वह व्यवहार, परमार्थ के कहने मे निमित्त हुआ है।

जो भाव ज्ञानी को कहना है वही भाव समझने पर जोर दिया है। वाह्यक्रिया, पुण्य, तथा शुभविकल्प को अवकाश नही है। समझ मे न आये इसलिये उकताना नही चाहिये, इसे समझे विना किसी का गुजारा नही है।

मैं इसका भला–बुरा करदूँ, पर का ऐसा न होने दूँ, ऐसा मानना सो अनन्त स्व-हिंसा का भाव है। मान्यता में अन्तर पड़ता है किन्तु वस्तु में कुछ फर्क नही पड़ता। अनादि की विपरीत मान्यता को सुलटी मान्यता के द्वारा वदलना पडता है।

श्रद्धा का विषय सम्पूर्ण ज्ञायक आत्मा है इसप्रकार पूर्ण आत्माको लक्षमे लेना सो परमार्थ है और उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करके लक्ष मे लेना सो व्यवहार है। सम्यग्दर्शन निश्चयनय का विषय नही है, जो निर्मल, अखण्ड, परमार्थ आत्मा है यह निश्चय-नय का विषय है। अत जो सम्यग्दर्शन का विषय है वह निश्चयनय का विषय है।

गुण–गुणी के भेद का लक्ष छोडकर अभेद स्वरूप को खयाल में लेना ही परमार्थ है। उसमे अभेद की जो श्रद्धा है वह भी परमार्थ नही है। क्योकि वह भी गुण की एक अवस्था है इसलिये व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि भी परमार्थ के विषय नही हैं।

देखो भाई! यह विषय अनादिकाल से जीवो ने न तो सुना है और न समझा है, यदि समझ ले तो दशा बदल जाय। शरीर मेरा है, उसकी क्रिया मैं कर सकता हूँ इत्यादि प्रकार की जो मान्यता है वह तो व्यवहार भी नही है, किन्तु मात्र अज्ञान ही है। देव, गुरु, शास्त्र का विचार और नवतत्त्व के भेद से युक्त श्रद्धा करना सो भी शुभभाव है, उसका परमार्थमें प्रवेश नही है, क्योकि वह असद्‌भूत व्यव-हार है। सम्यग्दर्शन ने अखण्ड ज्ञायक पूर्ण आत्मा लक्ष्य में लिया सो परमार्थ है, किन्तु लक्ष्य में लेनेवाला सम्यग्दर्शन परमार्थ नही है, किंतु व्यवहार है– पर्याय है, वह निश्चय से अभूतार्थ है क्योंकि वह त्रिकाली

नहीं है। त्रिकाल रहने वाला अखण्ड ध्रुव जो सामान्यस्वभाव है सो परमार्थ है। भेददृष्टि गौण करने पर भी अभेद समझाने पर बीच में यह व्यवहार आता ही है, क्योंकि इस भेद के द्वारा समझे बिना अभेद समझ में नहीं आता।

भेद के लक्ष्य से निर्मलता अथवा सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेद के लक्ष्य से (मोक्षमार्ग की पर्याय के लक्ष्य से) मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और मोक्षमार्ग के लक्ष्य से मोक्ष प्रगट नहीं होता। क्योंकि वह हीन अवस्था है और हीन अवस्था के द्वारा पूर्ण अवस्था—(मोक्ष) प्रगट नहीं होती।

अवस्था क्षणिक होती है एक समय में एक अवस्था प्रगट होती है जब हीनता होती है तब पूर्ण अवस्था नहीं होती। अधूरी पर्याय कारण और पूर्ण पर्याय कार्य यह परमार्थ से नहीं होता। आत्मा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण है उस पूर्णता के बल से पूर्ण मोक्ष दशा प्रगट होती है। वर्तमान में भी प्रत्येक समय द्रव्य में अनंत अपार सामर्थ्य विद्यमान है जिसमें अखण्ड आत्मा अनन्त गुण प्राप्त है ही। उसमें प्राप्त करू यह भेद नहीं है और श्रद्धा के विषय में भेद नहीं है।

इस जीव ने अनादि से भेद के ऊपर लक्ष्य किया है भेद दृष्टि का पक्ष है व्यवहार का अवलम्बन। उससे शुभविकल्प होता है किन्तु अभेद निर्मल का लक्ष्य नहीं होता। परमार्थ स्वरूप को जान कर भेद को गौण करके अखण्ड वस्तु की महिमा करने से अन्तरंग निर्मल के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

'जो पीला है वह सोना है' यह कहा जाता है किन्तु मात्र पीला ही—सोना नहीं है लेकिन पीले गुण का भेद करके उस पीलापन के द्वारा बताया हुआ जो पूर्ण सोना है वही सोना है ऐसा ख्याल में आता है। इसीप्रकार अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्मा को पहचानने के लिये भेद करके कहना पड़ता है। उस भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद निर्मल पर जो जीव लक्ष्य करता है उसे व्यवहार निमित्तरूप से कहा

जाता है। निश्चय से मोक्षमार्ग से मोक्ष नही होता, अखण्ड के आश्रय से मोक्षमार्ग और मोक्ष होता है यह मोक्षमार्ग और मोक्ष भी व्यवहार है। मोक्ष का अर्थ है पूर्ण अवस्था, उसका कारण मोक्षमार्ग की हीन अवस्था नही है किन्तु उस पूर्ण पर्याय को प्रगट करने का कारण अखण्ड द्रव्य ही है।

भेद का आश्रय तो अज्ञानी के अनादि से था और वह भेद को ही जानता था, उसे इसप्रकार भेद के द्वारा अभेदत्व समझाया, इतना व्यवहार बीच मे आता है, किन्तु 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नही होना चाहिये' अर्थात् व्यवहार से समझने के लिये भेद किया है, किन्तु भेद ही वस्तु है, ऐसा नही समझना चाहिये और समझाने वाले को भी विकल्प के भेद मे नही पडा रहना चाहिये।

पूर्ण त्रिकाली स्वभाव मे कुछ अन्तर नही पडा किन्तु अपनी मानी हुई विपरीतदृष्टि से फर्क दिखाई देता है, यदि सत् समागम के द्वारा विपरीतदृष्टि को बदल डाले तो स्वय त्रिकाल सर्वज्ञस्वरूप है। उसकी निर्मल अवस्था को प्रगट करनेका मार्ग अपूर्व है यदि उसे समझना चाहे तो मुश्किल नही है। जिसे अपना हित करने की इच्छा है वह कठिन-कठिन नही पुकारता जिसे समझने की रुचि है उसे सत्य समझाने वाले मिले विना नही रहते, जो अपने मे तैयारी और सामर्थ्य को नही देखता वह निमित्त को याद करता है, वास्तव में तो निमित्त उपस्थित होता ही है। निमित्त की प्रतीक्षा करनी पडे ऐसी कुछ परतन्त्रता नही है। जो अकुर बीज में से बढने के लिये प्रस्फुटित हुये हैं तो वहाँ वर्षा हुये विना नही रह सकती उगने की शक्ति उसमें थी वही प्रगट हुई है, वह पानी से नही आई। यदि पानी के द्वारा उगने की शक्ति आती हो तो अकेला पत्थर भी उसके ऊपर पानी पड़ने से उगना चाहिये किन्तु वैसा नही होता। इसप्रकार सच्ची जिज्ञासाके अकुर फूटे (पात्रता हो) और पूर्ण सत्य की दृष्टि के समझने की तैयारी हो तो उसे समझाने वाला मिले विना नहीं रहता। बाह्य संयोग पुण्य के आधीन हैं। पुरुषार्थ करने में पर की प्रतीक्षा नही की जाती, पर की

अपेक्षा से रहित अपनी सामर्थ्य को ही तारी देखो जाती है।

अखण्ड निर्मलदृष्टि होने के पहले विकल्प का व्यवहार नहीं छूटता। अभेददृष्टि होते व्यवहार छूट जाता है। पहले पर से पृथक आत्मा को जानना चाहिये फिर क्षणिक विकार की ओर नहीं देखना चाहिये, निर्मल पर्याय के विचार में नहीं रुकना चाहिये, अभेददृष्टि के लिये भी गुण के भेद पर लक्ष नहीं करना चाहिये भेद को गौण करके अखण्ड पर दृष्टि करनी चाहिये यह सब पहले समझना होगा।

भावार्थ —लोग शुद्धनय को नहीं जानते क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद-एकरूप वस्तु है। एकरूप निर्मल पूर्णस्वभाव को देखने पर वर्तमान अवस्थाका विकार गौण हो जाता है। संयोग विकार और गुण के भव के लक्ष्य को गौण करके अखण्ड पूर्ण वस्तु को लक्ष्य में लेने की शुद्ध दृष्टि को अज्ञानी जन नहीं जानते वे तो भेद के द्वारा भेद-विकार को ही जानते हैं। वे मानते हैं कि जो बोलता है चलता है सो आत्मा है जो राग करता है सो आत्मा है इसके अतिरिक्त अन्य अरूपी आत्मा कैसा होगा यह वे नहीं जानते।

देहादि पर की क्रिया कोई आत्मा कर नहीं सकता किंतु अज्ञानभाव से जीव रागद्वेष का कर्ता होता है फिर भी रागद्वेष नित्य स्वभाव रूप नहीं है। अज्ञान और रागद्वेष क्षणिक अवस्थामात्र के लिये होने से अविनाशी आत्मा के स्वभाव के लक्ष्य से दूर होने योग्य है।

लोग अशुद्धनय को ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेद रूप अनेक प्रकार है इसलिये वे व्यवहार द्वारा ही परमार्थ को समझ सकते हैं इसलिये व्यवहार को परमार्थ का कथन करने वाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवहार का अवलम्बन कराते हैं। लोग यह मानते हैं कि यदि व्यवहार की प्रवृत्ति अर्थात् बाह्य में कुछ क्रिया करें तो धर्म हो किंतु यह बात गलत है। जब समझने वाला स्व का अभेद लक्ष्य करके

समझे तब भेदरूप व्यवहार को परमार्थ के समझने मे निमित्त कहा जाता है।

समझाने के लिये जो भेद किया सो व्यवहार है, वह कही परमार्थ का सच्चा कारण नही है, क्योकि भेद अभेद का कारण नही होता, खण्डदृष्टि अखण्ड का कारण नही होती, भेददृष्टि का विषय राग है, और राग विकार है, तथा विकार के द्वारा अविकारी नही हुआ जा सकता।

जहाँ परमार्थ के समझने की तैयारी होती है वहाँ व्यवहार होता है अर्थात् अखण्ड निर्मल परमार्थ को समझाने में वह बीच मे आता है, इसलिये ऐसा नही समझना चाहिये कि व्यवहार आदरणीय है। यहाँ तो यह समझना चाहिये कि व्यवहार का आलम्बन छुडाकर परमार्थ में पहुँचाना है।

छट्ठी गाथा में कहा है कि सिर्फ अकेला ज्ञायक आत्मा है, उसमे सम्यग्दर्शन–मिथ्यादर्शन, विरत–अविरत, प्रमत्त–अप्रमत्त, सकषाय–अकषाय, बन्ध–मोक्ष ऐसे पर्याय के भेद नही हैं। छद्मस्थ के निर्मल पर्याय पर दृष्टि जाने पर अशुद्धता (विकल्प) आती है। पर्याय के (भेद के) लक्ष्य से अशुद्धता दूर नही होती।

पर्याय के भेद पर लक्ष करना सो अभूतार्थ है, उसके लक्ष्य मे विकल्प उत्पन्न होता है। और स्वभाव एकरूप, अखण्ड, निर्मल, ध्रुव है। उसके (स्वभाव के) लक्ष्य से दर्शन ज्ञान चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर लक्ष्य करने से अशुद्धता–राग होता है इसलिये निर्मल अवस्था पर भी अशुद्धता का आरोप कर दिया है।

सातवी गाथा में अखण्डस्वभाव की दृष्टि का एकरूप विषय अखण्ड ज्ञायक पूर्णरूप आत्मा बताया है, उसमें गुण भेद को व्यवहार–अभूतार्थ कहा है। वस्तुस्वरूप तो अनन्तगुण मय अखण्ड है, पृथक् तीन गुणरूप नही है। आत्मा एक गुण जितना नही है, विकार के भेद से रहित एकरूप विषय करना सो ज्ञायक ही है।

भाइयों ! यह ऐसी अपूर्व बातें हैं जिससे अनन्तकाल की भाव दरिद्रता दूर हो सकती है । बाह्यसंयोग-वियोग तो पूर्व कर्मके आधीन हैं, ऐसे संयोग-वियोग तो अनेक तरह के हुआ करते हैं । संयोग तो ऐसे भी होते हैं कि-मुनि को सिंह फाड़कर खा जाता है, इससे आत्मा को क्या ? आत्मा तो सदा ज्ञायकरूप है उसे संयोगके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है । सर्वज्ञभगवान ने आत्माका जैसा परिपूर्ण निर्मल स्वभाव कहा है वैसा इस जीवने न तो कभी सुना है न समझा और न उसे जाननेवाले अनुभवी ज्ञानियों का परिचय भी किया है । यह मनुष्य जन्म और आत्मा की सत्य बात सुनने का अवसर बारंबार नहीं मिलता । यदि जन्म-मरण की भूख मिटाना हो तो अखण्ड ज्ञायक आत्मा की बात रसपूर्वक समझनी चाहिये ।

जिसमें सर्व समाधानस्वरूप अनन्त सुख है ऐसे अमृतका कुण्ड भगवान आत्मा अज्ञानरूपी आवरण से आवृत्त होकर देह की ओट में छिपा हुआ है । उसकी स्वाधीनता की महिमा सुनकर समझने की तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए, अनन्त उत्साह जागृत होना चाहिए ।

चैतन्य के अपूर्व स्वभाव को सुनने में समझने में कठिनाई मानकर थकना मत जाना । सबज्ञ के न्याय से अनेक पहलुओं से जैसा है वैसा जो विधि है उस विधि से और जितना है उतना बराबर लक्ष्य में ले तो कृतकृत्य हो जाय अर्थात् उसे अनन्त सुख मिले । जो विपरीत मानता है वह उपाय भी विपरीत ही करता है और उसका फल भी विपरीत ही होता है इसलिये सत्य को जिज्ञासा से समझ लेना चाहिए ।

परमार्थ स्वरूप आत्मा को गुण के द्वारा भेद करके पहचानने के लिये व्यवहार कहा है किन्तु उस भेद में (भेद का लक्ष्य करने पर जो शुभराग आता है उसमें) अटक जाने के लिए व्यवहार नहीं कहा है किन्तु भेद का लक्ष्य छोड़कर अखण्ड ज्ञायक में एकाग्र लक्ष्य करके उसके भीतर स्थिर होनेका उपाय बताने के लिए कहा है ।

वस्तु में परमार्थ से किसी गुण के भेद नहीं है, विकल्प नहीं है, फिर भी दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण के भेद करके पूर्ण-आत्मा को बताया जाता है इतना व्यवहार बीच में आता है, वह भी आदरणीय नहीं है किन्तु अभेद में एकाग्र होकर छोडने के लिए है। अभेदकी श्रद्धा में व्यवहार को प्रथम छोडने योग्य मानने के बाद गुण के द्वारा गुणी का लक्ष्य करने के विचाररूप जो व्यवहार आता है, ज्ञानी उसका ज्ञान करता है।

आत्मा तो अखड, अनन्तगुण का पिंड है, वही परमार्थ है। उसे अनादिकाल से जिसने नही समझा उसे 'दर्शन–ज्ञान–चारित्र को जो नित्य प्राप्त हो सो आत्मा है' इसप्रकार व्यवहारमात्र से भेद करके समझाते हैं। समझनेवाला यदि अभेदरूप परमार्थ को समझले तो परमार्थ आश्रित व्यवहार हुआ कहलायगा।

ऐसी बात सुनना दुर्लभ है। उसे समझने का जिसे प्रेम नहीं है वह जगत् के घूरे को बखेरने मे उत्साह से लगा रहता है। जैसे साड विष्टामय घूरे मे मस्तक मारकर उसे छिन्न–भिन्न करता रहता है उसीप्रकार ससार में ममता से ओहो हो ! हम तो बहुत बडे हो गये हैं, इसप्रकार पुण्य प्रतिष्ठा आदि से बडप्पन मानता है उसमें अपना सयान बताता है किन्तु अभेद गुणी का लक्ष्य कैसे हो यह नही समझना चाहता।

शिष्य प्रश्न करता है कि गुण के भेद को बतानेवाला व्यवहार परमार्थस्वरूप से अखण्ड वस्तु को कहने वाला कैसे है ? उसका उत्तर ९ वी और १० वी गाथा में इसप्रकार दिया है —

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तंसुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥ १० ॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

अर्थ—जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभव गोचर मात्र एक शुद्ध आत्मा को सम्मुख होकर जानता है उसे लोक को प्रत्यक्ष जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं जो जीव सब श्रुत ज्ञान को जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

आत्मा में गुण भरे पड़े हैं उसकी प्रतीति न होने से लोग मानते हैं कि बाह्य में कोई प्रवृत्ति करें अथवा बहुत से शुभभाव करें तो गुण होते हैं। भगवान की पूजा करूं स्तुति करूं आप बापू किसी की सेवा करूं तो गुण प्रगट हो ऐसा जो मानते हैं उनका अक्रिय अखण्ड अविकारी आत्मा पर लक्ष नहीं है भीतर गुण भरे पड़े हैं उसका विश्वास नहीं है, इसलिये वह मानता है कि परलक्ष्य की प्रवृत्ति से गुण होते हैं। हीरे को डिब्बी में रखें तो भी वह हीरा ही है और उसे खुला रक्खें तो भी हीरा ही है इसीप्रकार भगवान आत्मा स्वभाव से ही पर से भिन्न है रजकण देह मन वाणीके सम्बन्ध से रहित और अखण्ड ज्ञायकरूप में विराजमान है यह विषय ऐसा है कि यदि ध्यान रखा जाय तो समझ में आ सकता है। यह कोई राजा रानी की बात नहीं है कई लोग तत्त्व की बात सुनते हैं किन्तु बराबर मनन नहीं करते इसलिये बाहर जाकर भूल जाते हैं। यदि कोई पूछे कि क्या सुना ? तो कहते हैं कि बहुत अच्छी बातें थीं आत्मध्यान की बातें थीं किन्तु वे कुछ याद नहीं हैं। यदि कोई कथा कहानी या दृष्टांत हो तो उसे जल्दी याद रखता है। जैसे एक राजा था उसकी रानी बहुत सुन्दर थी दोनों ने उपदेश सुनकर दीक्षा लेली फिर उनने ग्रीष्म ऋतु के घोर ताप में बालू में बैठकर तप किया उन्हें खूब पसीना आया

छहमास तक आहार नहीं लिया बाद में राजा को केवलज्ञान होगया। ऐसी बाह्य बातो पर ध्यान रखता है किन्तु क्या इससे केवलज्ञान हो सकता है ?

अन्तरग को समझता नही है, निर्मल केवलज्ञान तो भीतर ही विद्यमान है, अखण्ड पर दृष्टि थी, उसीके बल से केवलज्ञान प्रगट हुआ है। बाह्य सयोगो पर मुनि की दृष्टि नही है। बाह्य में कितने परिषह आते हैं यह जानने देखने की मुनि को कोई आवश्यकता नहीं होती अर्थात् देह पर उनका लक्ष्य नही होता। अखण्ड आनन्द में स्थिर होने से वीतरागदशा प्रगट हुई है, किन्तु जो यह मानते हैं कि परीषह सहन की इसलिये ज्ञान हुआ अथवा शरीर पर खूब गर्मी पडी, शरीर सूख गया, छहमास तक रोटी नही खाई इसलिये केवलज्ञान हुआ यह बात गलत है। मुनि के अन्तरग में अखण्ड के ऊपर दृष्टि गई है और 'मैं अखण्डानन्द ज्ञायक हूँ' शुभविकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मै पर के अवलम्बन से रहित निर्मल हूँ, इसप्रकार माना जाना और उसमें स्थिर हुआ इसलिए अभेद के लक्ष मे—अभेद के बल से केवलज्ञान हुआ है। बाह्य की किसी भी क्रिया से अथवा पुण्यादिक की सहायता से मोक्ष नही होता। ऐसा सत्य जगत् के सामने प्रगट किया है, परमार्थ की बात यहाँ अनेक तरह से कही जाती है।

नवमी तथा दशमी गाथा का शब्दार्थ—जो जीव निश्चय से (वास्तव मे) श्रुतज्ञान के द्वारा (विकल्प नहीं शब्द नही किन्तु भाव श्रुतज्ञान का आतरिक उपयोग अर्थात् ज्ञान का निर्मल अन्तर का जो व्यापार है उसके द्वारा) इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को अतरग में युक्त होकर अखण्डस्वरूप में जानता है, वह निश्चय से श्रुतकेवली है इसप्रकार श्री सर्वज्ञभगवान कहते हैं।

जिसने निश्चय से श्रुतज्ञान (भावज्ञान) के द्वारा इसप्रकार जान लिया कि अतर एकाग्रता से आत्मा अखण्ड एकरूप ज्ञायक ध्रुव है, वह परमार्थ से (निश्चय से) श्रुतकेवली है।

'यह बहुत सूक्ष्म तत्त्व है इसलिए समझमें नहीं आता' ऐसी धारणा को हटा देना। समझना अपनी सत्ता की बात है। यह बात ऐसी है कि आठ वर्ष का बालक भी समझ सकता है। किन्तु जो पहले से ही इसप्रकार निषेध कर बैठे कि मेरी समझ में नहीं आसकता उसके लिये क्या किया जाय। यहाँ समझ में नहीं आसकता' इस अयोग्यता को दूर कर दिया है। और पहली गाथा में ही यह स्थापित किया है तू पूर्ण सच्चिदानंद सिद्ध भगवान के समान ही है। अनन्त जीव आत्मा को समझकर सिद्ध हुये हैं इसलिये यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक आत्मा को समझ में आ सकता है। समझ में न आये ऐसा कुछ नहीं है। सदा जानने का जिसका स्वभाव है वह किसे नहीं जान सकता।

दसवीं गाथा

व्यवहार श्रुतकेवली=जो गुण–गुणी के भेद से परमार्थ में जाने का विचार करते हैं सम्यग्ज्ञानी के अपने आत्मा के ज्ञान के द्वारा अखण्ड को लक्ष्य में लेकर पूर्ण को प्राप्त करने का विकल्प उठता है और जो निश्चय में स्थिर होने के लिये स्वरूप के सम्मुख होने के विचारके प्रवाह वाले हैं उनको जिनदेव व्यवहार–श्रुतकेवली कहते हैं।

निश्चयभाव युक्तरूप होकर स्थिर नहीं हुआ है किन्तु स्थिर होने के लिये मैं ज्ञान हूँ दर्शन हूँ निर्मल हूँ ऐसा विकल्प पूर्ण आत्मा की ओर करता है वह अल्प श्रुतज्ञान का विकल्प वाला सर्व श्रुतज्ञान रूप अखण्ड आत्मवस्तु को ध्यान में लेकर उसीमें स्थिर होना चाहता है इसलिये वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

अखण्ड के लक्ष से भेद के विचार में रहना सो व्यवहार है। पर की भक्ति और पर के अवलम्बन का जो विचार है उसे यहाँ व्यवहार नहीं कहा है।

आत्मा अखण्ड निर्मल है ऐसे पूर्ण आत्मा को लक्ष में लेनेका जिन ज्ञानी के विचार है वह भी व्यवहार श्रुतज्ञानी है। आचार्य कहते हैं कि जो अखण्ड ज्ञानानन्द आत्मा को सर्वज्ञ के न्याय से बराबर

जानकर श्रुतज्ञान को अखण्ड में मिलाकर पूर्ण आत्मा को पकड़ना चाहता है (प्राप्त होना चाहता है) उसमे स्थिर होना चाहता है उसके चाहे द्रव्यश्रुत का अल्पभाग हो तथापि वह पूर्ण स्व-विषय को ग्रहण कर उसमे ही स्थिर होना चाहता है इसलिये 'व्यवहार श्रुतकेवली' है और जो परमार्थ को जानकर अखड के लक्ष से स्थिर हुआ वह 'परमार्थ श्रुतकेवली' है ।

जिसके ज्ञान में आत्मा को जानने का रागमिश्रित विचार रहता है इसके अतिरिक्त जिसे दूसरा कुछ नही चाहिये वह अपने स्वरूप मे निर्विकल्पता के सन्मुख होने के कारण वर्तमान मे द्रव्यनिक्षेप से (व्यवहार से) श्रुतकेवली है । जिनने परमार्थ का आश्रय किया उन सब के परमार्थ प्रगट होता है ।

'मै अखण्ड ज्ञायक निर्विकल्प हूँ, निर्मल हूँ, ऐसा जो विचार है सो मन के द्वारा होने वाला ज्ञान है, तथापि ज्ञान अपना ही है, राग का नही है । पर की ओर का रागरूप ज्ञान नही है, किन्तु सिर्फ आत्मा की ओर वह ज्ञान प्रवर्तता है इसलिये वह परमार्थ को बतलाने वाला है । पूर्ण श्रुतकेवली को भी आत्मा को ही पकडकर स्थिर होना है ।

इसीप्रकार अपूर्ण श्रुतज्ञान मे अखण्ड आत्मा को ज्ञान में समाविष्ट करने का विचार जिसके विद्यमान है उस अल्पज्ञ के सर्वश्रुतज्ञान है क्योंकि वह अल्प होने पर भी सम्पूर्ण केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है । सम्यग्दृष्टि आत्मा का विचार करते हो कि भेद से हटकर अन्तरग अनुभव की ओर झुकते हैं, उन सबको अल्प भावश्रुतज्ञान की प्रगटता में भी श्रुतकेवली कहा जाता है, क्योंकि जो स्वरूपके सन्मुख हुआ उसका समस्त ज्ञान आत्मा ही है । जो ज्ञायक स्वभाव को ही लक्ष मे लेना चाहता है उसने निश्चय से चाहे आत्मा को नही प्राप्त किया, स्थिर नहीं हुआ तथापि भविष्य में श्रुतकेवली होगा इसलिये उसको वर्तमान में भी व्यवहार से श्रुतकेवली कहा है ।

ज्ञान प्रखण्ड प्रात्मा की ओर ढलता है इसलिये विचाररूप सर्व-श्रुतज्ञान-सम्पूर्णज्ञान प्रात्मा का है प्रतएव ऐसा कह दिया है कि वह श्रुत में परिपूर्ण है। प्रभेदरूप में स्थिर न होने के कारण व्यवहार कहा है। नवमी गाथा में निश्चय परमार्थ से कहा और दशमी गाथा में व्यवहार से कहा है दोनों की संधि करके प्राचार्यदेव ने मार्गों प्रभुत को प्रवाहित किया है।

टीका—पहले जो निर्मल ज्ञानरूप भावश्रुत से केवल शुद्ध प्रात्मा को जानता है वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। पहले स्थिर होने के लिये भीतर स्व की ओर झुकने का विकल्प तो प्राता ही है फिर जब प्रभेद को स्व-विषय करके (प्रन्तरंग) स्थिर होता है तब उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं यही परमार्थ है।

जो प्रात्मा को पूर्ण निश्चय से जानने के प्रयत्न में रहता है उसके प्रखण्ड के प्रति झुकने वाला-पूर्णभाव है प्रर्थात् जिसके प्रात्मा को प्राप्त करने के लिये विचार होता है वह भी प्रात्मसन्मुख होने से व्यवहार श्रुतकेवली है। क्योंकि उसका प्रयोजन मात्र परमार्थ में पहुँचने के लिये ही होता है। स्वोन्मुख एवं परमार्थ ग्रहण करने का भाव प्रपूर्ण होने पर भी पूर्ण को पकड़ने (प्राप्त करने) वाला होने से श्रुत में पूर्ण है प्रर्थात् व्यवहारनय से श्रुतकेवली है।

यहाँ—ऊपर कहा गया सर्वज्ञान प्रात्मा है या प्रनात्मा ? इसप्रकार दो पक्ष उठाकर परीक्षा करते हैं।

सच्ची समझ करके यथार्थ प्रनुभव करने के लिये विकल्प से छूटकर भीतर स्थिर होने की जो विचार-धारा चलती है वह प्रात्मा है क्योंकि वह ज्ञान राग का नहीं है जड़-इन्द्रियों का नहीं है पर का नहीं है पर की ओर झुकने वाला नहीं है। किन्तु प्रात्मा की ओर झुका है प्रात्मा को ही जानता है इसलिये वह ज्ञान प्रात्मा का ही है।

प्रब यह बताते हैं कि श्रुतज्ञान यदि प्रनात्मा की ओर झुकने वाला हो तो वह यथार्थ नहीं है।

यदि ज्ञान अनात्मा की ओर झुकाव वाला हो तो वह व्यवहार नहीं है। पहले आत्मा की ओर का ज्ञान क्या है, इसे समझे बिना अनात्मा का ज्ञान क्या है यह समझ में नही आ सकता।

यहाँ पर जो आत्मा को ग्रहण करने की अमुक तैयारी वाला है वह, तथा सत्समागम के द्वारा सर्वज्ञ के न्यायानुसार ठीक समझने के बाद अन्तरग में अनुभवयुक्त निज की ओर स्थिर होने के लिये जो स्वोन्मुख ज्ञान है वह समस्त ज्ञान आत्मा का है।

यदि उपरोक्त सर्वज्ञान को अनात्मारूप जड़ के पक्ष मे लिया जाय तो वह यथार्थ नही है, क्योंकि अचेतन—जड आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य ही नही बनता। (क्योंकि उन पाँच अचेतन द्रव्यो में ज्ञानलक्षण निश्चित नही हो सकता) यह सर्वज्ञान तो आत्मा के साथ तादात्म्य करने के लिये है, स्व को जानने के विचार में प्रवर्तने वाला ज्ञान है किन्तु परविषय तथा रागादि अनात्मा की ओर का लक्ष करने के लिये नहीं है।

मैं पुण्य—पाप विकार का कर्ता हूँ, मैं देहादि की क्रिया करता हूँ, ऐसा जो विचार है और पाँच इन्द्रियो के विषयो की ओर ढलना सो अज्ञान है। जड-अनात्मा में ज्ञान सिद्ध ही नही होता किन्तु अकेले ज्ञायक स्वभाव की ओर का विचार करता है, उसके द्वारा आत्मा को जानता है, इसीसे ज्ञान आत्मा ही है ये पक्ष सिद्ध होता है। परमार्थको जानने के विचाररूप होनेवाला सर्वज्ञान, उसके तादात्म्यपना स्वरूप को जाननेरूप ज्ञायक आत्मा के साथ सिद्ध होता है, इसलिये सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है, ऐसा निश्चय होने से जो आत्माको जानकर उसमें स्थिर होने का तत्परतारूप ज्ञान करता है वह पुण्य—पाप के पक्ष को उपस्थित नहीं करता किन्तु सयोग को तोडकर असयोगी निर्मल आत्मा का पक्ष नित्य उपस्थित करता है।

अखण्ड तत्वस्वरूप में स्थिर होने के लिये जो विचार होता है वह आत्मा को ओर ढलने वाला सर्वज्ञान का पक्ष है। स्वरूप सन्मुखके

श्रुतज्ञान के जो विचार हैं सो वह भी आत्मा ही है। ऐसा होने से जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और वह परमार्थ है।

अब यहाँ व्यवहार श्रुतकेवली के दो प्रकार कहे जाते हैं:—

(१) जिसने सर्वज्ञ के न्यायानुसार आत्मा को जाना और उसमें अखण्ड के लक्ष से स्थिर होने के लिये बिल्कुल सन्मुख हुआ है किन्तु यथार्थ अनुभव से निर्विकल्प होकर निश्चय श्रद्धा के द्वारा अभेद परमार्थ का विषय नहीं किया तथापि जिसके पूर्ण को पहुँच जाने का विचार रहता है उस अपूर्णभाव को पूर्ण के लक्ष से पूर्ण का कारण मानकर व्यवहार से उसे श्रुतकेवली कहा है।

(२) जिसने यथार्थरूप से अन्तर में अखण्ड का लक्ष करके अनुभव तो किया है और फिर भाव श्रुतज्ञानके अन्तर उपयोग में आने के लिये अखण्ड स्वभाव की दृष्टि के बल से भीतर में (अन्तरंग में) एकाग्र होकर स्थिर होने के विचार में रहता है साथ ही जिसके मनके सम्बन्ध का अल्पराग रहता है किन्तु उस ओर झुककर अन्तर में स्थिर होने के लिये जो अखण्ड का विचार करता है वह भी व्यवहार श्रुतकेवली है।

परमार्थ श्रुत अखण्ड आत्मा है। उसमें स्थिर होने के लिये पूर्ण निर्मलभाव प्रगट करने के लिये विचार में भेद होता है किन्तु लक्ष तो अभेद परमार्थ की ओर ढलने का ही है। गुण—गुणी का भेद डाल कर अखण्ड ज्ञायक की ओर झुकनेवाला अखण्ड ज्ञायक को कहनेवाला जो व्यवहार अंतरंगमें स्थिर होने से पहले बीच में आता है वह सर्व श्रुतज्ञान का अपूर्णभाव व्यवहार में पूर्ण श्रुतकेवली है।

जिसे अनुभव के द्वारा आत्मा में स्थिर होना है और पूर्ण परमार्थ को पहुँचना है उसे गुण—गुणी के भेद के द्वारा अभेद में जाने के लिये यह व्यवहार कहा है किन्तु वह व्यवहार दूसरा कुछ कहता या करता नहीं है।

अभेद के लक्ष से परमार्थ प्रगट होता है किन्तु परमार्थ में जाने पर उसका विचार करने में निमित्तरूप से ज्ञान का विचार आये

बिना नही रहता. इस अपेक्षा से 'जो सर्वश्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है,' ऐसा जो व्यवहार है वह परमार्थ में स्थिर होने मे बीच में अपने को दृढरूप से स्थापित करता है। परमार्थ का प्रतिपादन सविकल्प से होता है इसलिये दृढरूप से व्यवहार आये बिना नहीं रहता। सर्वज्ञ के न्याय के अनुसार नय-प्रमाण और निक्षेप के द्वारा नवतत्व तथा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर, परमार्थरूप अखड को ध्यान में लेकर उसकी ओर एकाग्र पकड होनी चाहिये; जैसा है वैसा जाने बिना पूर्ण आत्मा लक्ष मे नही आता, इसलिये आत्मा को परमार्थस्वरूप से जैसा है वैसा कहने वाला सर्वश्रुतरूप व्यवहार दृढ़-रूप में आता है।

श्रुतरूप चौदहपूर्व का ज्ञान भी मात्र आत्मानुभव करने के लिये है। जिस कार्य के लिये श्रुतकेवली का ज्ञान काम करता है। वही कार्य अपूर्ण श्रुतज्ञान करता है इसलिए वह सर्वश्रुत है। आत्मा को प्राप्त करने के लिये नवतत्व का यथार्थ स्वरूपरूप थोडा या बहुत चाहे जो विचार हो तो भी उसे व्यवहार से सर्वश्रुत कहा जाता है।

अहो! श्री अमृतचन्द्राचार्य ने इस समयसार शास्त्र की अद्-भुत टीका करके यथार्थ वस्तुस्वरूप बताया है। अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है और इस समयसारजी में महामोक्ष को अवतरित कर दिया है।

यह ऐसा अपूर्व विषय है जिसे अनतकाल से नही सुना। जैसे किसी के इकलौते पुत्र का विवाह हो रहा हो तब उसमे यदि पच्चीस हजार रुपये भी खर्च करना हो तो वह कितना हर्ष करता है, उस हर्ष में विभोर हो जाता है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा पर से भिन्न, निर्मल, त्रिकाली अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है उसे सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा है वैसा यदि सुनने को मिले तो योग्य जीव के हर्ष का पार नही रहता, समझने में विरोध नही आता, किन्तु जिसे अनादि से अन्यथा मान रखा है, और उसका दृढ़ आग्रह होता है, वह सत्य को नहीं सुनना चाहता। तत्त्वज्ञान का विरोध करने वाले जीव अनन्तकाल से लट,

जीव भी न ही ऐसे निगोद में (अनन्त जन्म मरण के स्थान में) जाता है।

प्रश्नः—यह कैसी सूक्ष्म बातें किया करते हो ?

उत्तरः—यह सूक्ष्म बात तो है किन्तु हितकारी है और वह तेरी ही है और इसलिये तुझे वह समझ में न आये यह नहीं हो सकता। समस्त आत्मा सिद्ध भगवान के समान ही हैं तुम भी वैसे ही स्वतंत्र और पूर्ण हो इसप्रकार प्रत्येक आत्मा में सिद्ध परमात्मत्व स्थापित करके समयसार का प्रारम्भ किया है और छट्ठी सातवीं गाथा में तो अद्‌भुत बात कही है।

अरे भाई ! संसार के कार्य में तुझे हर्ष होता है, और इस मनुष्य सत्य को समझने का सुअवसर मिला तथा अनन्त जन्म-मरण को दूर करके अल्पकाल में मोक्षप्राप्त करानेवाली ऐसी अपूर्व बात सुन कर अन्तर से हर्ष नहीं आवे तो इस जीवन की सफलता क्या है ? यों तो जगत में कीड़े-मकोड़े की तरह बहुत से जीव जन्मते और मरते हैं सत्य को समझे बिना जिसका समय व्यतीत होता है उसका जीवन कीड़े-मकोड़े के जीवन की तरह समझना चाहिये।

यदि कोई एकबार सत्य को सुनकर और उसे अन्तरंग से समझकर हाँ कहे तो उसके अनन्त परिभ्रमण का अन्त हो जाता है। यह कथन ऊँची भूमिका वाले के लिए नहीं है तथा केवलज्ञानीके लिये भी नहीं है अभी चारित्र का विषय दूर है यह तो पहले सम्यग्दर्शन कैसे हो उसकी बात चल रही है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा तत्त्व कहा है यदि वैसा ही जाने तो कोई भ्रम न रहे। समस्त पहलुओं से विरोध को दूर करके सत्य को समझे तो अन्तरंग से ध्वनित हो उठे कि 'बस ! अब भव नहीं रहा'। ऐसी प्रतीति होने के लिये ही आचार्य कहते हैं व्यवहार से भी कोई आत्मा पर की क्रिया नहीं कर सकता। जो कर्तृत्व का भाव करता है वह भी अभूतार्थ है। आत्मा तो परसे त्रिकाल भिन्न अखण्ड ज्ञायकरूप है शरीर मन, वाणी और पुण्य पाप की प्रवृत्ति तथा कर्मरूप नहीं है। रागद्वेष का जो विकारी भाव

है वह त्रिकाली ज्ञायक आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिए वह पर है और इसीलिये वह दूर किया जा सकता है।

जैसे चन्दन की लकडी की पहिचान करानेके लिये उसके एक गुण को कहकर उसे भिन्न करके कहा जाता है कि जो सुगन्धमय है वह लकडी चन्दन है। यहाँ पर चन्दन और सुगन्धि में जो भेद किया गया सो व्यवहार है और अखण्ड चन्दन को समझना सो परमार्थ है। इसीप्रकार आत्मा अनन्तगुण का पिण्ड है उसे 'जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है, जो स्थिरता करता है सो आत्मा है' इसप्रकार व्यवहार से भेद करके अखण्ड आत्मा को समझाते हैं। गुणभेद कथन व्यवहार है, उस पर से अभेद आत्मा को समझले तो उसमें जो व्यवहार हुआ सो वह निमित्तरूप ठहरता है, ऐसा व्यवहार परमार्थ मे कैसे आता है ? इसका उत्तर देते हैं:—

यदि पहले भावश्रुतज्ञान के द्वारा देखें तो आत्मा ज्ञानमूर्ति, अखण्ड आनन्दकन्द है। अशरीरी सिद्ध भगवान के समान ही प्रत्येक आत्मा है। किसी आत्मा मे परमार्थ से अन्तर (छोटा–वड़ापन) नही है। किन्तु पर मे विश्वास करके अपनी विपरीत मान्यतासे अन्तर माना है। पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैं पुण्य–पाप विकार का कर्ता हूँ इसप्रकार पर को अपना मानकर, अपने एकरूप ज्ञायक स्वभाव को भूला है इसलिये मै परका कर्ता नही किन्तु ज्ञायक ही हूँ, और पर के अवलम्बन से गुण नही होता यह वात अन्तरग मे वैठनी कठिन मालूम होती है।

लोगो ने वाह्य से गुण माना है, इसलिये भीतर गुण है इस वात का विश्वास नही होता। वे कहते हैं कि यदि भीतर गुण भरे ही हो तो फिर हमसे गुण प्रगट करने के लिये क्यो कहते हो ? हमे तो यह समझ में आया है कि गुण के लिये वाह्यप्रवृत्ति करनी चाहिये।

क्या किया जाय ? अनादि से वाह्य पर दृष्टि पड़ी है, इसलिये सब वाह्य से ही देखकर निश्चय करता है, वास्तव में तो निश्चय

जीव भी न हो ऐसे निगोद में (अनन्त जन्म मरण के स्थान में) जाता है।

प्रश्नः—यह कैसी सूक्ष्म बातें किया करते हो ?

उत्तरः—यह सूक्ष्म बात तो है किन्तु हितकारी है और वह तेरी ही है और इसलिये तुझे वह समझ में न आये यह नहीं हो सकता। समस्त आत्मा सिद्ध भगवान के समान ही हैं तुम भी वैसे ही स्वतंत्र और पूर्ण हो इसप्रकार प्रत्येक आत्मा में सिद्ध परमात्मत्व स्थापित करके समयसार का प्रारम्भ किया है और छट्ठी सातवीं गाथा में तो अद्भुत बात कही है।

अरे भाई! संसार के कार्य में तुझे हर्ष होता है और इस अमूल्य सत्य को समझने का सुअवसर मिला तथा अनन्त जन्म-मरण को दूर करके अल्पकाल में मोक्षप्राप्त करानेवाली ऐसी अपूर्व बात सुन कर अन्तर से हर्ष नहीं आये तो इस जीवन की सफलता क्या है ? यों तो जगत में कीड़े-मकोड़े की तरह बहुत से जीव जन्मते और मरते हैं सत्य को समझे बिना जिसका समय व्यतीत होता है उसका जीवन कीड़े-मकोड़े के जीवन की तरह समझना चाहिये।

यदि कोई एकबार सत्य को सुनकर और उसे अन्तरंग से समझकर हाँ कहे तो उसके अनन्त परिभ्रमण का अन्त हो जाता है। यह कथन ऊँची भूमिका वाले के लिए नहीं है तथा केवलज्ञानीके लिये भी नहीं है अभी चारित्र का विषय दूर है यह तो पहले सम्यग्दर्शन कैसे हो उसकी बात चल रही है। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा तत्त्व कहा है यदि वैसा ही जाने तो कोई भ्रम न रहे। समस्त पहलुओं से विरोध को दूर करके सत्य को समझे तो अन्तरंग से ध्वनित हो उठे कि 'बस! अब भव नहीं रहा। ऐसी प्रतीति होने के लिये ही आचार्य कहते हैं व्यवहार से भी कोई आत्मा पर को क्रिया नहीं कर सकता। जो कर्तृत्व का भाव करता है वह भी अभूतार्थ है। आत्मा तो परसे त्रिकाल भिन्न अखण्ड ज्ञायकरूप है शरीर मन वाणी और पुण्य पाप की प्रवृत्ति तथा कर्मरूप नहीं है। रागद्वेष का जो विकारी भाव

श्रुतज्ञान से वह सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही जानता है वह श्रुतकेवली है, वही परमार्थ है। केवलज्ञान होने से पहले आत्मा के स्वभावभाव का ज्ञाता होने से श्रुतकेवली है।

भीतर अभेदस्वरूप के लक्ष से गुण के द्वारा गुणी को जानकर उसमे एकाग्र हुआ है इसलिये यह परमार्थ श्रुतकेवली है।

जैसे 'मिश्री' शब्द का ज्ञान मतिज्ञान है। फिर जब यह जाना कि मिश्री पदार्थ ऐसा है सो वह श्रुतज्ञान है, इसीप्रकार 'आत्मा' शब्द का जो ज्ञान है सो मतिज्ञान है और 'आत्मा' अखण्ड, निर्मल, एकरूप ज्ञायक वस्तु है ऐसा जो ख्याल किया सो श्रुतज्ञान है, उसमें बाहर का कोई साधन नही है, अकेले ज्ञान ने ही उसमें कार्य किया है। जैसे मिश्री का स्वाद लेते समय दूसरे के स्वाद का लक्ष नही है, उसीप्रकार मन के सयोग के बुद्धिपूर्वक के विकल्प से जरा छूटकर एकरूप आत्मा को जब अन्तर लक्ष में लिया और स्थिर हुआ तब अन्तरग मे निराकुल शाति होती है, यह उस समय की 'परमार्थ श्रुत' की बात है।

जैसे श्रुत से मिश्री पदार्थ को जाना था, (मिश्री पृथक् वस्तु है, उसीप्रकार स्वोन्मुखता के द्वारा भावश्रुत में अखड वस्तु को ख्याल में लेने पर 'आत्मा ऐसा ही है' ऐसे अभेद के लक्ष से जब स्थिर होता है तब अखण्ड आनन्द आता है, ऐसी अवस्था चतुर्थ गुणस्थान मे भी होती है।

यदि कोई कहे कि यह बात केवलज्ञान की—तेरहवें गुणस्थान की है तो उसका कहना ठीक नही है। समयसार में यह सम्यग्दर्शन की ही बात कही है, इसमें परमार्थ से जो स्थिर हुआ उसके भावश्रुत उपयोग निम्न अवस्था में है, तो भी पूर्ण के कारणरूप है इसलिए परमार्थ से श्रुतकेवली है।

अरे भाई! अनन्तकाल की महामूल्य जो यह बात कही जा रही है उसे समझने का उत्साह होना चाहिये। जैसे उन्मत्त साड घूरे का बखेरकर उसकी धूल, राख, विष्टा आदि कूड़ा अपने ही मस्तक पर

करनेवाला भीतर से निश्चय करके पर में कल्पना करता है। ऊपर की दृष्टि से मानता है कि मैंने इसमें जीव की दया पाली यह बांधा, पूजन की, दान किया, उठ बैठ करके वंदना की, ऐसी ही अनेक बाह्यक्रिया से गुण हुआ मानता है किन्तु भीतर आत्मा अक्रिय, अनन्तगुण का पिण्ड है उसमें अन्तमुख अभेददृष्टि करके अनादि से कभी भी नहीं देखा।

प्रश्न—क्या बातें करने से धर्म होता है? क्रिया तो होनी ही चाहिये। यदि आत्मा वर्तमान में पवित्र हो तो फिर हमें किसलिये समझाते हो?

उत्तर—लोग क्रिया-क्रिया चिल्लाते हैं किन्तु कौनसी क्रिया वास्तविक है यह नहीं समझते। गुण प्रगट करने के लिये बाह्य-क्रिया चाहिये ऐसी बात नहीं है। देहाश्रित प्रवृत्तिमात्र आत्मा का स्वरूप नहीं है वह आत्मा के आधीन नहीं है। जो यह मानता है कि देह की क्रिया से धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा उसे अन्दर के (अन्तरंग के) अनन्त अविकारी गुण की श्रद्धा नहीं है। यहाँ यह बताते हैं कि आत्मा की क्रिया आत्मा में होती है। जो अन्तरंग परमार्थ को नहीं समझता उसे अन्तरंग का लक्ष कराते हैं जो यह विश्वास करता है सो आत्मा है। परसे लाभ-हानि मानकर जो पर में विश्वास करता है उसे स्वोन्मुख कर तुझमें परवस्तु की नास्ति है तू सदा श्रद्धा ज्ञान चारित्र इत्यादि अनन्त गुणोंका पिंड है इसप्रकार भेद से अभेद का लक्ष करके गुण-गुणी की एकता करता है यह आत्मा की अपनी क्रिया है। वहाँ अखंड आत्माका पहले श्रद्धान होता है और राग से कुछ भिन्न होकर निर्विकल्प आनंद आता है यह आत्मा की क्रिया है। यह मात्र बातें नहीं हैं यह तो यथार्थ अन्तर की क्रिया है। जिसके ऐसी महिमा होती है वह कहता है कि अहो! ऐसा अखण्ड स्वभाव भीतर ही है मैं उसे बाहर ढूंढता था। ऐसे वस्तुस्वभाव को प्राप्त करने के लिये बाहर के किसी साधन की या शुभविकल्प की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे निर्मल भाव

श्रुतज्ञान से वह सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही जानता है वह श्रुतकेवली है, वही परमार्थ है। केवलज्ञान होने से पहले आत्मा के स्वभावभाव का ज्ञाता होने से श्रुतकेवली है।

भीतर अभेदस्वरूप के लक्ष से गुण के द्वारा गुणी को जानकर उसमे एकाग्र हुआ है इसलिये यह परमार्थ श्रुतकेवली है।

जैसे 'मिश्री' शब्द का ज्ञान मतिज्ञान है। फिर जब यह जाना कि मिश्री पदार्थ ऐसा है सो वह श्रुतज्ञान है, इसीप्रकार 'आत्मा' शब्द का जो ज्ञान है सो मतिज्ञान है और 'आत्मा' अखण्ड, निर्मल, एकरूप ज्ञायक वस्तु है ऐसा जो ख्याल किया सो श्रुतज्ञान है, उसमें बाहर का कोई साधन नही है, अकेले ज्ञान ने ही उसमें कार्य किया है। जैसे मिश्री का स्वाद लेते समय दूसरे के स्वाद का लक्ष नही है, उसीप्रकार मन के सयोग के बुद्धिपूर्वक के विकल्प से जरा छूटकर एकरूप आत्मा को जब अन्तर लक्ष में लिया और स्थिर हुआ तब अन्तरग में निराकुल शाति होती है, यह उस समय की 'परमार्थ श्रुत' की बात है।

जैसे श्रुत से मिश्री पदार्थ को जाना था, (मिश्री पृथक् वस्तु है, उसीप्रकार स्वोन्मुखता के द्वारा भावश्रुत मे अखड वस्तु को ख्याल में लेने पर 'आत्मा ऐसा ही है' ऐसे अभेद के लक्ष से जब स्थिर होता है तब अखण्ड आनन्द आता है, ऐसी अवस्था चतुर्थ गुणस्थान मे भी होती है।

यदि कोई कहे कि यह बात केवलज्ञान की-तेरहवें गुणस्थान की है तो उसका कहना ठीक नही है। समयसार में यह सम्यग्दर्शन की ही बात कही है, इसमें परमार्थ से जो स्थिर हुआ उसके भावश्रुत उपयोग निम्न अवस्था में है, तो भी पूर्ण के कारणरूप है इसलिए परमार्थ से श्रुतकेवली है।

अरे भाई ! अनन्तकाल की महामूल्य जो यह बात कही जा रही है उसे समझने का उत्साह होना चाहिये। जैसे उन्मत्त साड घूरे का बखेरकर उसकी धूल, राख, विष्टा आदि कूड़ा अपने ही मस्तक पर

डाले राख कूड़ा–कचरा आदि के बड़े घूरे में मस्तक मारकर उछाले और यह माने कि मैंने कैसा बल लगाया कितना सारा तोड़ा–फोड़ा और बखेरा किन्तु सांडका यह व्यर्थ का तूफान है। इसीप्रकार हम संसार के कुछ काम कर डालें ऐसे अभिमान लेकर व्यर्थ के कार्य करके उसमें हर्ष मानते हैं। अज्ञानभाव में संसार के घूरे को उछालने का श्रम करके जगत् व्यर्थ ही कूदा करता है किन्तु उसमें कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जहाँ माल भरा हुआ है वहाँ जीव ढूककर भी नहीं देखता।

आत्मा एकरूप ज्ञायक ध्रुव टंकोत्कीर्ण वस्तु है उसे विवेक का मस्तक मारकर जागृत करना है। अनादिकाल से अज्ञान में कूद–फांद की है। अब पर की ममता में ही सोते रहने से काम नहीं चलेगा ?

पहले सत्‌समागम के न्याय से विरोधरहित सच्चा ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान के द्वारा आत्मा में स्थिर होने का प्रयत्न करता है वह ज्ञान ही सर्वश्रुत है क्योंकि सब आगम–शास्त्रों का रहस्य पूर्ण आत्मा को जानकर उसमें स्थिर होना है इसलिये अपूर्णदशा में पूर्ण को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है अतः उसे सर्वश्रुत जो द्वादशांग है उसका रहस्य प्राप्त हो गया है। स्थिर होने के विचार के समय राग का भाग है किन्तु स्थिर होने के बिल्कुल सन्मुख हुआ जो ज्ञान है वही स्थिर होने का कारण है इसलिये उसे सर्वश्रुत कह दिया है।

जो कार्य उत्कृष्ट श्रुतकेवली करता है वही कार्य अल्प श्रुत ज्ञानी भी करता है उसने बारह अंग का रहस्य जाना है इस आशयसे सम्यक्‌ज्ञान के द्वारा आत्मा को ही जानने के लिये भेद करके विचार करे किन्तु जो उसमें स्थिर नहीं हुआ वह व्यवहार श्रुतकेवली है और जब स्थिर होगया तब परमार्थ श्रुतकेवली कहा जाता है।

यह वस्तु सूक्ष्म है गुरुगम से समझने योग्य है। यह तो सबसे प्रथम नींव की बात है। आचार्य ने भलीभांति खोल–खोलकर तत्त्व

समझाया है। यदि इसे समझे तो अन्तरग से आत्मदेव की अपूर्व ध्वनि सुनाई दे, और इसे समझे बिना अन्य समस्त कार्य व्यर्थ हैं। सासारिक व्यवहार मे दया, सेवा, पुण्य की बात अतर मार्ग से दूर ही है किंतु धर्म के नाम से जितने कर्तव्य, पुण्य, दया, दान, पूजा, प्रभावना, महाव्रत इत्यादि किये वे भी सब परमार्थ के बिना अकेले व्यर्थ ही हैं, ऐसा जो परम सत्य है, वही तीनोकाल के सर्वज्ञो ने कहा है। जो उसे ठीक समझता है उसे अन्तरग तत्त्व की महिमा अवश्य होती है।

"सर्वश्रुत" में अद्भुत गम्भीर अर्थ निहित है। पचेन्द्रिय पशु मे भी अल्पज्ञ के श्रुतकेवलीपन है, उसके भी परमार्थ भावश्रुत—आत्मा का अभेद उपयोग होता है। भले ही उसे नव तत्वोंके नाम भी न आते हो तथापि भाव में आशय में उसे सर्वश्रुत होता है। पशु में भी ज्ञानीपन होता है। जो पूर्ण मे स्थिर होने के विचार मे रत हैं वे चाहे तिर्यंच हो या मनुष्य, सभी श्रुतज्ञानी व्यवहार से 'सर्वश्रुत' कहलाते हैं।

ज्ञानगुण को प्रधान करके आत्मा को 'ज्ञायक' कहा जाता है। ज्ञानगुण स्वयं सविकल्प है, अर्थात् वह निज को और पर को जानने वाला है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में स्व—पर को जानने की शक्ति नही है, इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त सभी गुण निर्विकल्प हैं।

यहाँ तो अन्तरग परिणाम की धारा को देखने की सूक्ष्म बात है, शुभभाव पर तनिक भी जोर नही है। कोई यहाँ कहता है कि हमारे शुभभाव को ही उडा देना चाहते हो, किन्तु भाई! यहाँ तत्त्व के समझने मे, उसके विचार में जो शुभभाव सहज ही आते हैं, वैसे उच्चशुभभाव क्रियाकाण्ड मे नही हैं। यदि एक घण्टे भी ध्यान लगाकर तत्व को सुने तो भी शुभभाव का पार न रहे और शुभभाव की सामायिक हो जाय! तब फिर यदि चैतन्य को जाग्रत करके निर्णय करे तो उसका कहना ही क्या है?

सत्यज्ञान का विरोध न करे, और मात्र यह सुने कि ज्ञानी क्या कहता है, तो उसमें शुभराग का जो पुण्यबंध होता है उसमें परमार्थ के लक्ष से युक्त सुनने वाले के उत्कृष्ट पुण्य के शुभभाव हो जाते हैं। उस के सुनने में शुभभाव रखे तो ऐसा शुभ सुनने का योग पुनः मिल जाता है किन्तु उस पुण्य का क्या मूल्य है? पुण्य से मात्र सुनने का योग मिले किन्तु यदि उसमें अपने को एक-मेक करके सत्य का निर्णय न करे तो व्यर्थ है।

पुण्य से धर्म होता है, अथवा अन्तरंग गुण में वह सहायक होता है इस मान्यता का निषेध अवश्य होता ही है! पुण्यबंध विकार है, उसे धर्म मानने का निषेध त्रिकाल के ज्ञानियों ने किया है। पुण्य विकार है, उससे अविकारी आत्मधर्म नहीं हो सकता इसलिये पुण्य का निषेध किया गया है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप किया जाय। अज्ञानी के भी अशुभ से बचने के लिये शुभ भाव होता है किन्तु यदि कोई यह माने कि उससे धर्म होगा और इसलिये शुभभाव करे तो उससे अविकारी आत्मा को कदापि कोई लाभ नहीं हो सकता।

कभी भी ऐसा उपदेश सुनने की आन्तरिक इच्छा नहीं हुई, और दुनियां में पुण्य-पाप करने की बातें सुनता रहा ऐसी स्थिति में ज्यों-त्यों कर यहां धर्म श्रवण करने आया तब उसे यहां की बातें अतिसूक्ष्म लगती हैं इसलिये पहले से ही ऐसी धारणा बांध लेता है कि यह तत्त्वचर्चा अपनी समझ में नहीं आ सकती। तथापि वह लौकिक-कला में तो किंचित् मात्र भी अज्ञान नहीं रहता।

लोक-व्यवहार में भले ही देशकालानुसार कायदे-कानून बदल जाते हैं किन्तु यह तो परमार्थ की बात है सर्वज्ञ शासन में समाविष्ट बात है उसके कायदे-कानून तीनलोक और तीन काल में नहीं फिर सकते।

अपूर्व तत्त्व बताकर अनन्त काल में दुर्लभ वस्तु को कहकर और आत्मा की महिमा बताकर कल्याण करने को कहा है। उसको

पहिचान की महिमा का वर्णन करके उसमे स्थिर होनेकी बात कही जारही है। यदि सच पूछा जाय तो स्वभाव मे यह मँहगा नही है।

जैसे स्वप्न के समय यह नही कहा जा सकता कि यह स्वप्न है, और जब कहा जाता है तब स्वप्न नही होता, इसीप्रकार अभेद के अनुभव के समय विकल्प से नही कहा जा सकता, और जब विकल्प होता है तब केवल परमार्थ का अनुभव नहीं होता। परमार्थ का लक्ष तो अखण्ड के लक्ष से ही होता है। यद्यपि बीच में भेद-विचार होता है किन्तु उस भेद से अभेद का लक्ष नही होता। अभेद के लक्ष से भेद का अभाव करने पर अभेद परमार्थ हस्तगत होता है। भेद से अभेद पकडा जासकता है, यह तो मात्र उपचार से कहा है।

गुण की निर्मल अवस्था के भेद मात्र व्यवहार नय का विषय होने से अभूतार्थ हैं। भेदरूप व्यवहार परमार्थमें सहायक नही होता। परमार्थ का लक्ष करके जब उसमे स्थिर होता है तब व्यवहार छूटता है। पश्चात् अन्तरग मे जितना स्थिरता का झुकाव रहता है, उतना भेद क्रमश दूर होता जाता है।

भावार्थ.—जो विकल्प को मिटाकर भावश्रुत ज्ञान के द्वारा अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय) कथन है। जो सर्वश्रुतरूप ज्ञान को जानता है, अभेद आत्माको जाननेके विचार में प्रवर्तमान रहता है, वह सब ज्ञान भी आत्मोन्मुख होने से आत्मा को ही जानता है, क्योकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान-ज्ञानी के भेद को कहनेवाला जो व्यवहार है उसे भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नही कहा।

परमार्थ का विषय तो कथचित् वचनगोचर भी नही है। परमार्थ के कहने में व्यवहार निमित्त होता है, इसलिये अभेद का लक्ष करने वाले के व्यवहारनय ही प्रगटरूप से आत्मा को समझने के लिये निमित्त है।

ग्यारहवीं गाथा की भूमिका

यह ग्यारहवी गाथा अद्भुत है। अनन्तकाल से परिभ्रमण

करते हुए बीचमें आत्माके यथार्थ स्वभाव को नहीं पाया। बाह्य पदार्थ के निमित्तसे रहित जो निरुपाधिक गुण है सो स्वभाव है। उसे यथार्थ तया जाने बिना व्रत या चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। यहाँ पर गुण का अर्थ रजोगुण तमोगुण अथवा सत्वगुण नहीं है, किन्तु जो आत्मस्वभाव है वह गुण है। आत्मा अनादिकाल से परमानन्द निर्विकल्प वीतराग विज्ञान है। वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्र के लिए पुण्य–पाप का शुभ–अशुभ भाव होता है, वह कर्म के निमित्ताधीन होने वाला विकारी भाव है स्वभावभाव नहीं है।

आत्मा अखण्ड आनानन्द की मूर्ति है वह सदा स्वाधीन और पूर्ण है यदि वैसा यथार्थ लक्ष में ग्रहण करे तो सहज आनन्द आये बिना न रहे।

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है और वतमान कचाई के कारण ही वह बोने से उगता है। कच्चा होने से उसका स्वाद मालूम नहीं होता तथापि उसमें मिठास तो विद्यमान है ही उसे भूननेसे मिठास प्रगट हो जाती है। वास्तव में चने का उगने का स्वभाव नहीं है, यदि उसका उगने का नित्यस्वभाव हो तो भूनने के बाद भी वह उगना चाहिये। और फिर चने में अपना स्वाद भरा हुआ ही है वह चने में से ही प्रगट हुआ है रेत अग्नि और भाड़ आदि बाह्य साधनों से चनों का वह स्वाद नहीं आ जाता। यदि इन बाह्य साधनों से स्वाद आता हो तो कंकड़ों को भूनने से उनमें भी स्वाद आना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। अन्तरंग स्वभाव में होने पर ही गुण प्रगट होता है।

भगवान आत्मा देह मन वाणी और इन्द्रिय इत्यादि जड़ वस्तुओंसे भिन्न है तथा भीतर जो तैजस और कार्माण रजकणोंके निमित्त जो शरीर है उनसे भी भिन्न है। वह नित्य ज्ञान आनन्द की मूर्ति है उसे जाने बिना अनादि के अज्ञानी को उस आनन्द का स्वाद नहीं आता उसे तो पुण्य–पाप को अपना समझने का जो विकार है उसकी कचाई के कारण संसार का दुःखरूपी कषायता (कषाय आकुलता) स्वाद आता है। विकार मेरा स्वभाव नहीं है मैं अविकारी हूँ इसप्रकार

अविकारी स्वभाव को न देखकर जो अज्ञानी राग-द्वेप, पुण्य-पाप की क्रिया से आत्मस्वभाव को प्रगट करना चाहता है, जो पुण्य-पापरूपी विकार की सहायता से गुण मानता है उसे आत्मा का निर्मल मार्ग ख्याल में नही आता। देह की प्रवृत्ति अथवा किसी वाह्य साधन से धर्म नही होता, धर्म तो धर्मी मे विद्यमान है। उसे प्रगट करने का उपाय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है उससे अज्ञान का नाश होता है। जैसे चने को भूनने के बाद फिर वह नही उगता, क्योकि उगने का उसका स्वभाव नही है उसीप्रकार अज्ञान का एकबार नाश करने पर आत्मा का जन्म-मरण स्वभाव न होने से वह भव-भ्रमण मे नही जाता। (यदि अल्प भव हो तो वह परमार्थ दृष्टि मे नही गिना जाता) भव-भ्रमण का कारण पुण्य-पाप को अपना मानना और पर में ममता करना है। वह आत्मा का मूल स्वभाव नही है। पुण्य-पाप तो पर के लक्ष से, कर्म के निमित्ताधीन होने से होता है। अज्ञानी अज्ञान से परको वन्ध का निमित्त बनाता है। उस अज्ञान का नाश नित्य अखण्डज्ञायक स्वभाव की प्रतीति से होता है। अज्ञान का नाश होता है इसलिए आत्मा का नाश नहीं हो जाता, आत्मा तो त्रिकाल स्थाई अखण्डित द्रव्य है। इसलिए आचार्यदेव प्रथम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करनेके लिए आत्मा का अखण्ड स्वभाव बताते हैं, उसे पर से तथा विकार से भिन्न जान कर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता करानेके लिए अलौकिक रीति से समयसार की रचना की है।

ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, वीर्य (आत्मबल), अस्तित्व (त्रिकाल में होना), वस्तुत्व (प्रयोजनभूत स्वाधीन स्वभाव, कार्य करने मे अपनी समर्थता) प्रदेशत्व (अपना स्वतंत्र आकार, विस्तार) इत्यादि अनत गुणोका पिंडरूप आत्मा है। गुण के भेद किये बिना अखण्ड तत्व नही समझाया जा सकता, इसलिए व्यवहार में भेद करके कहते हैं कि 'जो विश्वास करता है वह भगवान आत्मा है।' पर में विश्वास करता है कि यदि कल पाप का उदय आगया तो क्या होगा ? इसलिये रुपया-पैसा सग्रह करके रखना चाहिए। इसप्रकार पर का विश्वास

करते हुए जीवने आत्माके यथार्थ स्वभाव को नहीं पाया। बाह्य पदार्थ के निमित्तसे रहित जो निरुपाधिक गुण है सो स्वभाव है। उसे यथार्थ तया जाने बिना व्रत या चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। यहाँ पर गुण का अर्थ रजोगुण, तमोगुण अथवा सत्वगुण नहीं है, किन्तु जो आत्मस्वभाव है वह गुण है। आत्मा अनादिकाल से परमानन्द निर्विकल्प वीतराग विज्ञान है। वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्र के लिए पुण्य-पाप का शुभ-अशुभ भाव होता है वह कर्म के निमित्ताधीन होने वाला विकारी भाव है स्वभावभाव नहीं है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द की मूर्ति है, वह जैसा स्वाधीन और पूर्ण है यदि वैसा यथार्थ लक्ष में ग्रहण करे तो सहज आनन्द आये बिना न रहे।

कच्चे चने में स्वाद भरा हुआ है और वर्तमान कचाई के कारण ही वह बोने से उगता है। कच्चा होने से उसका स्वाद मालूम नहीं होता तथापि उसमें मिठास तो विद्यमान है ही उसे भूननेसे मिठास प्रगट हो जाती है। वास्तव में चने का उगने का स्वभाव नहीं है यदि उसका उगने का नित्यस्वभाव हो तो भूनने के बाद भी वह उगना चाहिये। और फिर चने में अपना स्वाद भरा हुआ ही है वह चने में से ही प्रगट हुआ है रेत अग्नि और भाड़ आदि बाह्य साधनों से चनों का वह स्वाद नहीं आ जाता। यदि उन बाह्य साधनों से स्वाद आता हो तो कंकड़ों को भूनने से उनमें भी स्वाद आना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता। अन्तरंग स्वभाव में होने पर ही गुण प्रगट होता है।

भगवान आत्मा देह मन वाणी और इन्द्रिय इत्यादि जड़ वस्तुओंसे भिन्न है तथा भीतरजो तैजस और कार्माण रजकणोंसे निर्मित जो शरीर है उनसे भी भिन्न है। वह नित्य ज्ञान आनन्द की मूर्ति है उसे जाने बिना अनादि के अज्ञानी को उस आनन्द का स्वाद नहीं आता उसे तो पुण्य-पाप को अपना मानने का जो विकार है उसकी कचाई के कारण संसार का दुःखरूपी कषायला (कषाय, आकुलता) स्वाद आता है। विकार मेरा स्वभाव नहीं है मैं अविकारी हूँ इसप्रकार

कहा जाता है कि जो दर्शन, ज्ञान, और चारित्र को नित्य-प्राप्त है वह आत्मा है। यद्यपि इसप्रकार मुख्य तीन गुणों से भेद करके समझाया जाता है, किन्तु परमार्थत. वस्तु मे भेद नही है।

यह कहना कि आत्मा, शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति करता है, सो तो व्यवहार भी नही है और मात्र शुभराग भी सद्भूत व्यवहार नही है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमय परमार्थस्वरूप, निर्विकल्प, अभेद है, उसे गुण के नामो से भेद करके समझाना सो व्यवहार है।

'मै ज्ञायक हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विचार मे मन के सम्बन्ध का शुभराग हो आता है, वह शुभराग आदरणीय नही है किन्तु अखण्ड वीतरागी एकरूप ज्ञायक वस्तु जो अपना आत्मा है वही परमार्थ वस्तु आदरणीय है। उस परमार्थरूप अभेद स्वरूप का अनुभव करते समय व्यवहार के विकल्प छूट जाते है।

चाहे जैसे उग्र-पुरुषार्थ के साथ अभेद आत्मा में स्थिर होने जाय तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिये बीच मे छद्मस्थ के व्यवहार आए बिना नही रहता।

शरीर के द्वारा लेना-देना और खाना-पीना इत्यादि शरीर की सभी प्रवृत्तिया शरीर के ही परमाणु करते हैं। जड की शक्ति जड से प्रवृत्त होती है, तथापि जो ऐसा अज्ञानभाव करता है कि 'मैं करता हूँ' वह मिथ्यादृष्टि है, यही मिथ्यादृष्टि ससार की जड है। जीव व्यवहार से भी किसी परवस्तु के किसी कार्य का कर्ता नही है तथापि अज्ञानी कर्तृत्व मानता है। जड-देहादि किसी भी वस्तु मे आत्मा का व्यवहार नही हो सकता।

प्रश्नः—तब फिर भगवान के द्वारा कहा गया व्यवहार कौनसा है?

उत्तरः—आत्मा अनन्त गुण का अखण्ड पिंड, त्रिकाल स्थिर, ध्रुवस्वरूप है, उसे सत्समागम के द्वारा ठीक जानने के बाद अभेद दृष्टि करके उसमें स्थिर होते समय बीच में जो विकल्पसहित ज्ञान का विचार आता है सो व्यवहार है। अभेद में स्थित होते समय वह भेदरूप

करनेवाला भले ही आत्मा का विश्वास न करे किन्तु वह अप्रगटरूप पूर्व कर्म का अस्तित्व स्वीकार करता है और इसप्रकार उसमें अप्रगट रूप से यह भी स्वीकार हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व भी पहले था।

पहले कोई पाप के भाव किये हों तो प्रतिकूलता होती है यद्यपि अभी कोई प्रतिकूलता न तो देखी है और न आई है तथापि उसका विश्वास करता है। जड़ कर्मों को कुछ खबर नहीं है कि हम कौन हैं और हमारा कैसा फल आयेगा किन्तु अज्ञानी जीव अपने को भूलकर पर में अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता मान बैठा है। आत्मा ध्रुव है स्वतन्त्र तत्व है पर-संयोगाधीन नहीं है उसे किसी संयोग की आवश्यकता नहीं होती चाहे जब स्वभाव का विश्वास करना हो तो कर सकता है उसे कोई कर्म बाधक नहीं होते। जो पर का विश्वास करता था वह अपने गुण को समझने के बाद अपने नित्य स्वभाव का विश्वास करता है।

ज्ञानगुण आत्मा का स्वाधीन गुण है। मकान बनवाने से पूर्व उसका प्लान (नकशा) बनवाकर मकान का ज्ञान कर लिया जाता है वह ज्ञान अपने में किया जाता है तो ज्ञान स्वाधीन हुआ या पराधीन ? तेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, तू नित्य ज्ञाता स्वरूप है तेरा ज्ञान तुझमें ही नित्यप्राप्त है।

चारित्र आत्मा का त्रैकालिक गुण है। पर में अच्छे-बुरे की कल्पना करके पुण्य-पापरूप विकारी भावनाओं की जो प्रवृत्ति होती है वह चारित्र गुण की विपरीत अवस्था है। जो निर्विकारीरूप में स्थिर रहती है वह शुद्ध प्रवृत्ति चारित्र गुण की निर्मल अवस्था है। आत्मा चारित्र गुण स्वभाव के रूप में त्रिकाल रहता है। इसप्रकार आत्मा में तीन गुण के भेद करके उन्हें पृथक बताया है किन्तु वस्तु में वे तीनों गुण पृथक-पृथक नहीं हैं वे एक ही साथ आत्मा में विद्यमान हैं तथापि भेद किये बिना यदि मात्र आत्मा को कहा जाय तो अज्ञानी उसे समझ नहीं सकता इसलिये व्यवहार से भेद करके यों

कहा जाता है कि जो दर्शन, ज्ञान, और चारित्र को नित्य—प्राप्त है वह आत्मा है। यद्यपि इसप्रकार मुख्य तीन गुणों से भेद करके समझाया जाता है, किन्तु परमार्थतः वस्तु मे भेद नही है।

यह कहना कि आत्मा, शरीर, मन, वाणी की प्रवृत्ति करता है, सो तो व्यवहार भी नही है और मात्र शुभराग भी सद्भूत व्यवहार नही है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमय परमार्थस्वरूप, निर्विकल्प, अभेद है, उसे गुण के नामो से भेद करके समझाना सो व्यवहार है।

'मै ज्ञायक हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विचार मे मन के सम्बन्ध का शुभराग हो आता है, वह शुभराग आदरणीय नही है किन्तु अखण्ड वीतरागी एकरूप ज्ञायक वस्तु जो अपना आत्मा है वही परमार्थ वस्तु आदरणीय है। उस परमार्थरूप अभेद स्वरूप का अनुभव करते समय व्यवहार के विकल्प छूट जाते है।

चाहे जैसे उग्र—पुरुषार्थ के साथ अभेद आत्मा में स्थिर होने जाय तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिये बीच में छद्मस्थ के व्यवहार आए बिना नही रहता।

शरीर के द्वारा लेना—देना और खाना—पीना इत्यादि शरीर की सभी प्रवृत्तिया शरीर के ही परमाणु करते हैं। जड की शक्ति जड से प्रवृत्त होती है, तथापि जो ऐसा अज्ञानभाव करता है कि 'मैं करता हूँ' वह मिथ्यादृष्टि है, यही मिथ्यादृष्टि ससार की जड है। जीव व्यवहार से भी किसी परवस्तु के किसी कार्य का कर्ता नही है तथापि अज्ञानी कर्तृत्व मानता है। जड—देहादि किसी भी वस्तु में आत्मा का व्यवहार नही हो सकता।

प्रश्न:—तब फिर भगवान के द्वारा कहा गया व्यवहार कौनसा है ?

उत्तर:—आत्मा अनन्त गुण का अखण्ड पिंड, त्रिकाल स्थिर, ध्रुवस्वरूप है, उसे सत्समागम के द्वारा ठीक जानने के बाद अभेद दृष्टि करके उसमे स्थिर होते समय बीच में जो विकल्पसहित ज्ञान का विचार आता है सो व्यवहार है। अभेद में स्थित होते समय वह भेदरूप

व्यवहार बीच में आता तो है, किन्तु वह भेद अभेद का कारण नहीं है। अभेद का लक्ष ही अभेद स्थिरता को लाता है, तब उस व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—

पहले यह कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना चाहिये किन्तु यदि वह परमार्थ के समझाने में तथा स्थिर करनेमें निमित्त सिद्ध होता है तो ऐसे व्यवहार को क्यों न अंगीकार किया जाय? पर से भिन्नरूप एक अखण्ड वस्तु में लक्ष करना और मैं ज्ञान हूँ मैं दर्शन हूँ ऐसे भेद करना सो व्यवहार है। ऐसा भेदरूप व्यवहार उस अभेदरूप परमार्थ में निमित्त कैसे होता है?

उत्तर—इसमें से हो भेद को हेय जानकर अखण्ड तत्वको दृष्टि में लिया जाय तो बीच में समागत व्यवहार निमित्त होता है। शुभ विचार निमित्तरूप में पहले उपस्थित होता है किन्तु उसके अवलम्बन से कार्य नहीं होता। अवलम्बन से दूर हटता है (व्यवहार का अवलम्बन छोड़ता है) तब अभेद के लक्ष से परमार्थ को प्राप्त होता है। जैसे कोई वृक्ष की ऊँची डाली को पकड़ना चाहता हो तो वह डाली नीचे के आधार को छोड़कर कूदने पर ही पकड़ी जा सकती है वहाँ पर आधार की उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। किन्तु यदि आधार पर ही चिपका रहे और कूदे नहीं तो डाली नहीं पकड़ी जा सकती और उस आधार को निमित्त भी नहीं कहा जाता। इसीप्रकार आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है वह भेद किये बिना ग्रहण नहीं किया जा सकता इसलिये सर्वप्रथम यदि अखण्ड वस्तु को समझना चाहे तो प्रत्येक गुण का विचार आता है सो व्यवहार है।

लोग कहते हैं कि समयसार में व्यवहार को उड़ा दिया है किन्तु वह किस अपेक्षा से? व्यवहार असत्यार्थ है उसे भूतार्थ को जाननेवाले ही समझ सकते हैं यही बात यहाँ कही जा रही है यह बात ऐसी अपूर्व है कि जिसे जीव अनन्तकाल में भी नहीं समझ पाया यदि आन्तरिक तैयारी के साथ एकबार समझले तो मोक्ष हुए बिना न

रहे, परमार्थ को जानते हुए बीच मे जो ज्ञानादि के भेद होते हैं सो व्यवहार है। लोगो ने बाह्यक्रिया मे व्यवहार मान रखा है किंतु वह सब धर्म से भिन्न है। यदि अन्तरग के अपूर्व धर्म को धीरज धरके समझना चाहे तो समझा जा सकता है। वर्तमान मे तो सर्वज्ञ भगवान का आशय लगभग भुला ही दिया गया है, पक्षापक्षी के कारण जिनशासन छिन्न-भिन्न हो रहा है, परम सत्य क्या है, यह सुनना दुर्लभ हो गया है, इस सबका कारण अपनी पात्रता की कमी है, और इसीलिये लोग परमार्थ में बीच मे आने वाले व्यवहार को नही समझते और विरोध करते है। गुण मे विचार के द्वारा भेद करके अखण्ड को समझना सो व्यवहार है, दूसरा कोई व्यवहार नही है, यही बात आचार्यदेव यहाँ पर कहते हैं। वह व्यवहार भी अभूतार्थ है यह बात ग्यारहवी गाथा में कहेगे।

ससारमे जो बात अपने को अनुकूल पड जाती है उसकी महिमा सब गाते हैं। पिताजी सब हरा भरा छोडकर गये हैं, हमें सब चिंताओ से मुक्त करके गये हैं यो मानकर दुनियाँ अपनी अनुकूलता की प्रशसा करती है, किन्तु उसमे आत्मा का किंचित्‌मात्र भी हित नही है। मरने वाला तो अपनी ममता को साथ लेकर गया है। ससार में जिस वस्तु के प्रति प्रीति होती है उसमें बुराई दिखाई नही देती। जिस में प्रीति होती है उसका विश्वास करता है। छोटा बच्चा अच्छा दिखाई देता है तो प्रशसा की जाती है कि लडका बहुत होशियार है, यह कुटुम्ब का दारिद्रय दूर कर देगा। यह सब प्रीति के वश कहा जाता है किन्तु राग के वशीभूत होकर यह कभी नही सोचता कि यह भविष्य में यदि हमारी सेवा नही करेगा और लकडी लेकर मारने दौडेगा तो क्या होगा ? ससार की जो सयोगी (अनित्य) वस्तु है उसका विश्वास करता है उसे पलट कर अन्तरग मे एकबार श्रद्धा कर कि मुझमें सभी गुण पूर्णशक्ति के साथ भरे हुए हैं। मैं तो ज्ञाता-साक्षी ही हूँ। राग-द्वेष, ममता के रूप में नही हूँ, ऐसी अन्तरग से श्रद्धा करते वास्तविक पूर्ण तत्व को यथार्थ जाने तो वर्तमान में ही निश्चय हो

जाता है कि मब संसार में परिभ्रमण नहीं करना होगा, एक दो भव में ही मोक्ष प्राप्त कर लूंगा।

ज्ञान अपना स्वभाव है। यदि पचास–साठ वर्ष पहले की बात याद करना हो तो उसे स्मरण करने के लिए क्रम नहीं बनाना पड़ता। जैसे कपड़े के सौ–पचास थान एक के ऊपर एक रखे हों और उनमें से नीचे का थान निकालना हो तो ऊपर के थान क्रमशः उठाने पर ही नीचे का थान निकलता है इसीप्रकार का क्रम ज्ञान में नहीं होता। पचास वर्ष पहले की बात याद करने के लिए बीच के उनचास वर्षों की बात याद नहीं करनी पड़ती क्योंकि ज्ञान सदा जाग्रत ही रहता है। जिसप्रकार कल की बात याद आती है उसीप्रकार ज्ञानमें पचास वर्ष पूर्व की बात भी याद आसकती है। ज्ञान में कालभेद नहीं होता। काल से परे अरूपी ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ज्ञान में अनन्त शक्ति है इसलिए पचास वर्ष पहले की बात भी फौरन याद आसकती है, उसमें न तो क्रम होता है और न बाह्यावलम्बन की आवश्यकता होती है, अनन्तकाल से स्वयं ज्ञान स्वरूप ही रहा है ज्ञान ताजा का ताजा बना रहता है ज्ञान के लिए किसी भी समय परसंयोग परक्षेत्र अथवा परकाल का आश्रय नहीं लेना पड़ता।

ज्ञान अरूपी है इसलिये वह चाहे जितना बढ़ जाय तो भी उसका वजन मालूम नहीं होता पचास वर्ष में बहुत पुस्तकें पढ़ डालीं इसलिए ज्ञान में भार नहीं बढ़ जाता। इसप्रकार ज्ञान का वजन नहीं है इसलिए वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है ज्ञान में विकार नहीं है। युवावस्था में कोम मान माया लोभ का खूब सेवन किया हो विकारी भावों से परिपूर्ण काले कोयले के समान जिसकी अतीत की हो किन्तु बाद में जब वह अपने ज्ञान में याद करता है तब ज्ञान के साथ वह विकार नहीं आता इससे सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि वह विकारी हो तो पूर्व विकार का ज्ञान करते समय वह विकार भी साथ में आना चाहिए अर्थात् ज्ञान के करते समय आत्मा विकारी

होजाना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता। आत्मा स्वय शुद्ध अवस्था मे रहकर विकार का ज्ञान कर सकता है। अवस्था मे पर के अवलम्बन से क्षणिक विकार होता है, उसे अविकारी स्वभाव के ज्ञानसे सर्वथा तोडा जा सकता है। जिसका नाश हो जाय वह आत्मा का स्वभाव नही है, इसलिये विकार आत्मा का स्वभाव नही है।

इसप्रकार ज्ञान मे तीन शक्तियां कही गई हैं। १-ज्ञान मे काल-भेद नही है, २-ज्ञान का वजन नही होता, ३-ज्ञान शुद्ध अविकारी है। ज्ञान का यह स्वरूप समझने योग्य है।

शिष्य का पहले का प्रश्न है कि-ज्ञान मे भेदरूप व्यवहार आत्मा को अखण्डरूप मे समझाने के लिए निमित्त होता है। तब फिर उसे क्यो न अगीकार करना चहिये ? उसका उत्तर ग्यारहवी गाथा मे कहा है:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ ११ ॥

अर्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, यह ऋषीश्वरोने बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

त्रिलोकीनाथ परमात्मा के कथनानुसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत पर अपार करुणा करके जगत का महान दारिद्र (अज्ञान) दूर करने के लिये सच्ची श्रद्धा और उसका सर्वप्रथम उपाय बतलाते हैं।

कोई कहता है कि समयसार में तो सातवें गुणस्थान, और उससे ऊपर की भूमिकावाले के लिए बात कही गई है, किन्तु ऐसी बात नही है, इसका स्पष्टीकरण ग्यारहवीं गाथा में किया गया है।

मोक्षमार्ग में सर्वप्रथम क्या आवश्यक है ? इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ के न्यायानुसार शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है-

जिसके बिना सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र कदापि नहीं हो सकता। इसलिए धर्म का प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है और वही इस ग्यारहवीं गाथा में कहा गया है।

शुद्धनय का विषय त्रिकाल एकरूप परमार्थ है इसलिए भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। आत्मा अरूपी ज्ञायकस्वभावी ध्रुव है। मन वाणी देह तथा इन्द्रियों से सदा भिन्न है। आत्मा देह की किसी प्रवृत्ति का कर्ता नहीं है देह तो संयोगी वस्तु परमाणुओं का बना हुआ नाशवान पिण्ड है। जैसे पानी और कंकड़ एकजगह पर रहने से एकरूप नहीं हो जाते, उसीप्रकार शरीर के साथ आत्मा एक क्षेत्र में क्षणिक संयोगी होकर रहा तथापि वह देह से भिन्न ही है।

अखण्ड ज्ञायक वस्तु त्रिकाल एकरूप जो आत्मा है वही भूतार्थ है। राग की मलिन अवस्था और गुण-गुणी का भेद करनेवाली ज्ञान की अवस्था भी ध्रुव नहीं है इसलिए अभूतार्थ है। राग अभूतार्थ अर्थात् क्षणिक है त्रिकाल स्थिर रहनेवाला नहीं है। यदि स्वरूप में स्थिर हो तो राग का नाश हो जाता है किन्तु ज्ञानगुण का कदापि नाश नहीं होता इसलिये राग अभूतार्थ है।

भंगरूप व्यवहार आत्मा के साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है इसलिए अभूतार्थ है। और त्रिकाल स्थिर रहनेवाला ज्ञायक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है उसे श्रद्धा के लक्ष में लेना चाहिये। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

टीका -भूतार्थदृष्टि वाला जीव ज्ञानी है। भूतार्थ अखण्ड स्वभाव ध्रुव है वही आदरणीय है और व्यवहार तो वर्तमान भेदरूप-विकाररूप है क्षणिक है इसलिये आदरणीय नहीं है।

अखण्ड पदार्थ का लक्ष करते हुए बीच में भेद-विचार में शुभविकल्प हो जाता है वह पुण्यभाव है बन्धभाव है अस्थाई है इसलिए अभूतार्थ है अर्थात् आदरणीय नहीं है। निश्चय आत्मा में और व्यवहार जड़ में ऐसा नहीं होता। परवस्तु के साथ आत्मा का

कोई सम्बन्ध नही है। शरीर की कोई प्रकृति तथा कोई बाह्यक्रिया आत्मा के आधीन नही है क्योकि परवस्तु स्वतन्त्र है वह किसी के आधीन नही हैं।

यहाँ सब न्यायपूर्वक कहा गया है। कोई यह नही कहता कि बिना समझे ही मान लो, यदि विचार करें तो दो तत्व एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।

आत्मा में एक–एक समयकी वर्तमान अवस्थामात्र का जो पर-सयोगाधीन विकार है वह भी पर है क्योकि जब तक आत्मा रहता है तबतक वह नही रहता है। इसलिये पुण्य–पाप विकार होने के कारण अभूतार्थ हैं। इसीप्रकार आत्मा का विचार करते हुए गुण–गुणी के भेदरूप विचार विकल्प और अधूरी अवस्था के जो भेद हैं वे भी व्यवहारनय का अस्थाई विषय होने से अभूतार्थ हैं, और त्रिकाल एक-रूप स्थिर रहने वाली वस्तु जो शुद्ध ज्ञायक आत्मा है सो भूतार्थ है। उसीको ग्रहण करके उसीकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है वह मोक्षकी सर्वप्रथम सीढी है, आत्मा के मोक्ष की नीव की ईंट है, यो सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

जैसे मजिल पर चढते समय बीच मे जो जीने की सीढियाँ आती हैं वे छोडने के लिए हैं, पैर रखे रहने के लिये नही हैं। यह पहले से ही ध्यान में रहता है कि जो मैं पैर रख रहा हूँ वह उठाने के लिए है, इसीप्रकार जो अनादि से अज्ञानी है, उसे पर से भिन्न अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्मा का स्वरूप समझाते हुए बीच मे जो भेद आता है वह छोड देने के लिये है रखने के लिए नही। समझने वाले को अभेद परमार्थ की ओर पहले से ही यह लक्ष रखना चाहिये कि अपने को भी जितने विकल्प हैं उनका आदर नही है। जिसकी परमार्थ पर दृष्टि नही है वह पुण्य मे अथवा भेद मे ही रुक जाता है। वह त्रिकाल नही है, अभूतार्थ है। अभूतार्थ भूतार्थ का काम नही करता, शुद्धनय का विषय भूतार्थ है इसलिये अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक निर्मल स्वभाव को प्रथम ज्ञान में ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब अरूपी आत्मा आँखों से दिखाई नहीं देता तब उसे कैसे माना जाय ? समाधान —जो धन पुत्र प्रतिष्ठा इत्यादि में जो सुख माना जाता है वह किसमें देखकर माना जाता है ? वह पर में देखकर निश्चय नहीं किया गया है सुख आँखों से दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानते हैं। 'सुख इसमें है ऐसी कल्पना किसने की ? जिसने निश्चय किया वह निश्चय करने वाला ही आत्मा है, मुझे अपनी खबर नहीं है यह किसने जाना ? यह जानने वाला सदा ज्ञातास्वरूप है अरूपी साक्षी के रूप में है किन्तु स्वयं अपनी परवाह नहीं की इसलिये जानता नहीं है। यदि समझने की तत्परता हो तो अपना सत्य स्वयं ही है वह अवश्य समझ में आने योग्य है।

ज्ञानी कहते हैं कि—कम लड़का बड़ा हो जायगा फिर यह बहुत बड़ा वेतन लायगा इसप्रकार पर के क्षणिक संयोगका आश्रय करता है उसे छोड़कर भीतर जो पूर्ण सुखस्वभाव है उसमें लक्ष करके स्थिर होगा तो सिद्ध परमात्मा के गुणों का अंश प्रगट होकर पूर्ण के लक्ष से तू भी परमात्मा हो जायगा।

पर को मानने में विकार से पराधीनता आती है। निज को मानने में विकार की पराधीनता नहीं है। विकारहीन दृष्टि का विषय त्रिकाल ज्ञायक अखण्ड आत्मा है वह निर्मल एकरूप ध्रुव स्वभाव ही आदरणीय है जिसे ऐसी श्रद्धा है वह धर्मी जीव सम्यकदृष्टि है।

आज (अषाढ़ वदी एकम्) भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि का प्रथम दिन है। उन्हें वैसाख सुदसा दशमी को केवलज्ञान प्रगट हुआ था उस समय इन्द्रों ने समवशरण की अद्भुत रचना की थी उसे धर्मसभा कहते हैं। वहां (समवशरण में) एक ही साथ अनेक देव देवियां मनुष्य और तिर्यंच धर्म सुनने को आते हैं ऐसी धर्म सभा की रचना तो हो गई किन्तु (केवलज्ञान होने के बाद) छयासठ दिन तक भगवान के मुख से वाणी नहीं खिरी। भगवानकी दिव्यध्वनि

विना इच्छा खिरती है होठ बद रहते हैं, सर्वांग से ओंकारस्वरूप एकाक्षरी वाणी निकलती है उसे सुननेवाले अपनी-अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझ लेते हैं। तीर्थङ्कर भगवान के तेरहवें गुणस्थान में दिव्यध्वनि का सहज योग होता है। उनके ऐसा अखण्ड ज्ञान होता है कि वे तीनकाल और तीनलोक के सर्व पदार्थों को एक ही साथ ही समय मे जानते रहते हैं।

'मैं पूर्ण होऊँ, और दूसरे धर्म को प्राप्त करें' ऐसे अखड गुण का वहुमान की भूमिका मे (शुभराग में) तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है। तीर्थङ्कर होने से पहले के तीसरे भव में उस कर्म का वन्ध होता है।

भगवान महावीर को केवलज्ञान प्रगट हो गया था, फिर भी छयासठ दिन तक दिव्य-ध्वनि नही खिरी थी, इसका कारण यह था कि उस समय सभा मे भगवान् की वाणी को झेल सकनेवाला कोई महान पात्र उपस्थित नही था। धर्मसभा मे उपस्थित इन्द्र ने विचार किया तो मालूम हुआ कि भगवान की वाणी को झेलने के लिए समर्थ सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभा में उपस्थित नही है, और उनने अपने अवधिज्ञान से निश्चय किया कि ऐसा पात्र जीव इन्द्रभूति है इसलिए वे ब्राह्मणो का रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गये। उनमें (गौतम में) तीर्थंकर भगवान के मंत्री अर्थात् गणधर होनेकी योग्यता थी, किन्तु उस समय उन्हें यथार्थ प्रतीति नही थी। वे हजारो शिष्योके बीच यज्ञ करते थे, वहाँ पर इन्द्र ने ब्राह्मण वेश में जाकर कहा कि पचास्तिकाय क्या है ? आदि प्रश्न पूछे उनका उत्तर वे नही दे सके तव इन्द्र ने कहा कि भगवान महावीर के पास चलो, गौतमने इसे स्वीकार करलिया, और वे भगवान महावीरके पास जाने के लिये निकल पडे, मानस्तंभ के पास पहुँचते ही उनका मान गलित हो गया, मानस्तंभ को पार करके गौतम जहाँ धर्मसभा में प्रविष्ट हुए कि तत्काल ही भगवानकी वाणी खिरने लगी। गौतम को आत्मभान हुआ, निर्ग्रन्थ मुनिपद प्रगट हुआ, और साथ ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया और गणधर

पदवी प्राप्त हो गई। गणधर पद प्राप्त होने के बाद उनने आज के ही दिन एक ही मुहूर्त में क्रम से बारहअंग और चौदहपूर्व की रचना की थी उस सत्श्रुत की रचना का दिन और सर्वज्ञकी दिव्यध्वनि सर्वप्रथम छूटने का दिन आज ही का है। उत्कृष्ट धर्म को समझने के लिए जब पात्र जीव होता है तब उसके निमित्तरूप वाणी मिले बिना नहीं रहती। जब वृक्ष पकना होता है तब यह नहीं होता है कि पानी न बरसे।

उपरोक्त बात किसी को न जमे अथवा कोई इसे न माने इसलिए यह असत् नहीं हो जाती यह बात ऐसी ही है यह न्याय से युक्ति से और आगम से तथा समस्त प्रमाण से निश्चित किया जा सकता है।

आत्मा के अखण्ड स्वभाव को लक्ष में लेना ही प्रथमधर्म है। उसके बिना जीव अन्य सब कुछ अनन्तबार कर चुका है यह ऐसा राजा पहले अनन्तबार हो चुका है जो एक-एक क्षण में करोड़ों रुपया पैदा करता है। यह कोई अपूर्व बात नहीं है किन्तु चिदानन्द आत्मा की यथार्थ पहचान करना ही अपूर्व बात है।

व्यवहारनय को अभूतार्थ और परमार्थ को भूतार्थ कहकर समस्त भेदरूप पर्याय का निषेध किया है। बन्ध और मोक्षपर्याय ऐसे भेद और दर्शन ज्ञान चारित्र की पर्याय है जो कि क्षणिक है वह अखण्ड एकरूप त्रिकाल ध्रुवरूप में स्थिर रहनेवाली नहीं है। अखण्ड ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से देखने पर निर्मल पर्याय अभेद स्वभाव में समाविष्ट हो जाती है परमार्थ में पृथक भेद नहीं रहते और क्षणिक राग का भाव भी दूर हो जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है किन्तु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

मैं ज्ञान हूँ ऐसा जो विचार भेद पड़ता है वह राग का भाव वर्तमान अवस्था मात्र के लिये क्षणिक है भेददृष्टि का क्षणिक विषय अर्थात् व्यवहार त्रिकाल विद्यमान नहीं है।

शब्द रूप रस गंध निन्दा प्रशंसा इत्यादि किसी भी पर पदार्थ की ओर लक्ष करके उसमें अच्छे बुरे की वृत्ति करना सो पर

विषय है, और आत्माके स्वभाव की ओर लक्ष करके विकल्प–भेदरहित त्रिकाल अखण्ड ज्ञानानन्द आत्मा को मानकर उसीमे स्थिर होना सो स्व–विषय है, वह स्व–विषय करनेवाली दृष्टि भूतार्थ दृष्टि अर्थात् सच्चीदृष्टि है। अज्ञान भाव और पुण्य–पाप के भाव आत्मा का स्वभाव नही है, यह जानकर श्रद्धा में से सर्वप्रथम वे भाव छोडने योग्य हैं, इतना ही नही किन्तु अन्तरग में स्थिर होने के लिये जो शुभ–विकल्प होते हैं, वे भी छोडने योग्य हैं। आत्मा के अखण्ड–स्वभाव में जो भेद होजाता है वह भी अभूतार्थ है, मलिनभाव है, इसलिये वह आदरणीय नही है। आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायक स्वभाव है, वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है और इसीलिये वह ग्रहण करने योग्य है।

बन्ध और मोक्ष तो अवस्था–दृष्टि से हैं, उसमें पर-निमित्तके सयोग के होने, न होने की अपेक्षा रहती है। उसकी ओर लक्ष करने पर राग होजाता है। मैं उस विकाररूप नही हूँ, किन्तु अनादि, अनत, ध्रुव, अखण्ड, निर्मल स्वभावरूप हूँ, इसप्रकार की दृष्टि का होना सो शुद्धनय है, और उसके द्वारा पूर्ण अभेद आत्मा की श्रद्धा होती है। ऐसी दृष्टि गृहस्थ दशा में प्रगट की जासकती है।

पहले व्यवहार की क्रिया होनी चाहिए, इसप्रकार लोग भेदके चक्कर में धर्म मानकर अटक जाते हैं, इसीलिये अन्तरगका परमार्थ दूर रह जाता है। आत्मा तो पर के कर्तृत्व, भोक्तृत्व से रहित अरूपी आनन्दघन भगवान है, सदा ज्ञातास्वरूप है, पर में अच्छा-बुरा करने वाला नही है। आत्मा में कौनसा भाव प्रवर्तमान है, यह जानने–देखने की खबर नही है, इसलिए बाहर से निश्चय करता है। मैं धर्म करता हूँ इसप्रकार धर्म के बहाने से अनादिकाल से अभिमान कर रखा है। किन्तु धर्म का अर्थ तो पर–निमित्त रहित आत्मा का पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है, इसप्रकार का ज्ञान आत्मा ने अनन्तकाल मे कभी नही किया। यदि किया होता तो पूर्ण पवित्र स्वभाव की प्राप्ति हुए बिना नही रहती। अखण्ड पूर्ण स्वभाव का यथार्थ लक्ष करने से सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है।

जैसे दूज समस्त चन्द्र का अंश है वह तीनप्रकार बतलाते हैं –
(१) दूज समस्त चन्द्रमा को बतलाती है (२) दूज दूज को बतलाती है अर्थात् यह बताती है कि कितनी निर्मलता है (३) यह भी बतलाती है कि कितना आवरण शेष है इसीप्रकार आत्मप्रतीति होने पर सम्यक्ज्ञान की कलारूपी दूज (१) समस्त ध्रुवस्वभाव को इसप्रकार बतलाती है कि मैं पूर्ण निर्मल परमात्मा के बराबर हूं (२) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान श्रद्धा की शक्ति और स्व–पर की भिन्नता को बतलाती है और (३) यह भी बतलाती है कि आवरण तथा विकारभाव कितना है।

व्यवहार में भेददृष्टि का आश्रय होने से राग उत्पन्न होता है उसके फलस्वरूप संसार में जन्म–मरण होता है अखण्ड ज्ञानानन्द की पूर्ण पवित्र दशास्वरूप मोक्ष उस भेद के अवलम्बन से प्रगट नहीं होता। व्यवहार के सभी भेद अभूतार्थ हैं राग तो असद्भूत व्यवहार का विषय है। वर्तमान दर्शन–ज्ञान–चारित्र की अपूर्ण पर्याय सद्भूत व्यवहार है। बन्ध–मोक्ष भी पर्याय है उसका लक्ष करने से पुण्य–पाप के भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अखण्ड को जानने पर बीच में शुभविकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता किन्तु वह शुभराग विकार है। उसमें आत्मा को कोई लाभ नहीं होता इसलिए वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। गुण–गुणी के भेद प्रारम्भ में समझने के लिये आते तो हैं किन्तु अभेद की दृष्टि में वे गौण होजाते हैं। भेद का लक्ष छोड़कर अभेद का लक्ष न करे और मात्र व्यवहार में ही रुका रहे तो अखण्ड चिदानन्द के लक्ष का लेकर ज्ञान स्थिर नहीं होता।

अनादिकाल से आत्मा को नहीं जाना। वहाँ पहले पात्रता के लिए तत्व का विचार करने के योग्य चित्तशुद्धि तो होनी ही चाहिये। आत्मा ने वैसे शुभभाव तो अनन्तबार किये हैं किन्तु वे सब पुण्यभाव हैं आत्मधर्म के भाव नहीं हैं इसलिए वह त्याज्य हैं इस प्रकार पहले से ही जानना चाहिए।

प्रारम्भ में शुभभाव होते हैं और ज्ञान होने के बाद भी

निम्नदशा मे शुभभाव रहते हैं, किन्तु वे परसयोगाधीन क्षणिक भाव हैं, अभूतार्थ हैं, इसलिए आदरणीय नही हैं। आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप, ज्ञायकरूप रहनेवाला ध्रुव है और वही आदरणीय है।

जैसे अधिक कीचड के मिलने से पानी का एकरूप सहज निर्मल स्वभाव ढक जाता है, किन्तु नाश नही होजाता। पानी स्वभाव से तो नित्य हलका पथ्य और स्वच्छ ही है किन्तु कीचड़ के सयोग मे वर्तमान अवस्था मे मैला दिखाई देता है। जिसे पानीके निर्मल स्वभाव की खबर नही है और जिसे यह श्रद्धा नही है कि मैलके सयोगके समय भी पानी मे पूर्ण स्वच्छ स्वभाव विद्यमान है, ऐसे बहुत से जीव हैं, जो पानी और कीचड की भिन्नता का विश्लेषण नही कर सकते और वे मलिन जल का ही अनुभव करते हैं। इसीप्रकार प्रबल कर्मके मिलने से आत्मा का सहज एक ज्ञायकभाव ढक गया है, नाश नही हो गया। आत्मा स्वभाव से तो पर से भिन्न, ज्ञायक, स्वतत्र, निर्मल ही है किन्तु कर्म के सयोग से वह वर्तमान अवस्था मे मलिन प्रतीत होता है। जिन्हे आत्मा के सहज निर्मल एक ज्ञायकस्वभावकी खबर नही है और जिन्हे ऐसी श्रद्धा नही है कि क्षणिक विकारी अवस्था के समय भी आत्मा में पूर्ण निर्विकारी स्वभाव विद्यमान रहता है, ऐसे बहुत से अज्ञानी जीव हैं जो पुण्य-पाप, राग-द्वेष देहादि को अपना स्वरूप मानते हैं। उन्हे पर से भिन्न आत्मा का विवेक नही होता इसलिए वे पर को आत्म-स्वरूप मानते हैं।

जैसे एक आदमी बहुत से आदमियो के बीच में खडा रहकर भी ऐसी शका नही करता कि यदि मैं सर्वरूप हो गया तो क्या होगा? इसीप्रकार परमाणु अन्ध—अचेतन हैं तू उनके साथ एकरूप नही होगया। जब तू अपने को भूलकर अज्ञान से राग मे लीन हो जाता है तब तुझे जड के सयोग से बन्धन का आरोप आता है, किन्तु तू उस विकार का नाशक है। जैसे अग्नि सब को जला देती है, उसीप्रकार चैतन्य-मूर्ति आत्मा सर्व विकार का नाश कर देता है।

कोई कहता है कि "सौ सौ चूहो को मारकर बिल्ली तप को

बैठी ' यह कहावत यहाँ पर चरितार्थ होती है या नहीं ? समाधान— क्षण का पापी भाव धर्मात्मा हो सकता है। भूतकाल में चाहे जितने पाप किए हों तथापि जो समझने के लिए तैयार हुआ है वह अपूर्व प्रतीति करके ज्ञानी हो सकता है। भूतकाल में जिसने घोर अधर्म किया हो उसके वर्तमान में धर्म नहीं हो सकता यह बात नहीं है। जिस भाव से बन्ध किया था उससे विपरीत उत्कृष्ट भाव का करनेवाला भी स्वयं ही था। यदि वह पलट जाय तो उत्कृष्ट निर्विकार स्वतंत्र स्वभाव की दृष्टि करके समस्त प्रशुद्धता का नाश करने की अपार शक्ति को प्रगट कर सकता है। जो आत्मा क्रोध मान माया लोभ आदि कषायों में अपने वीर्य को लगाता है उसका आत्मबल हीन होजाता है। किन्तु यदि परिवर्तन करदे तो बन्ध के विकारी भावों के बल की अपेक्षा अविकारी स्वभाव का बल अनन्त गुना है वह प्रगट होता है। उस बल की जागृति से चलियारा भी दो घड़ी में ही केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अग्नि की एक चिनगारी में करोड़ों मन घास को जला देने की शक्ति होती है। यहाँ पर कोई कुतर्क बुद्धिवाला व्यक्ति यह कहे कि तब तो हम अभी खूब पाप करलें और फिर बादमें उन्हें क्षणभर में नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो यह कदापि नहीं हो सकता।

जिसे बन्दूक चलाने का अभ्यास न हो और जो बन्दूक को पकड़ना भी न जानता हो वह समय आने पर शत्रु के सामने क्या करेगा ? इसीप्रकार जिसे वर्तमान में सत् की रुचि नहीं है तथा विवेक और सत्समागम का अभ्यास नहीं है वह मरण के समय समभाव कैसे रखेगा ?

जिसे सर्वप्रथम अनीति का त्याग नहीं है और लौकिक सज्जनता नहीं है उसके लिये धर्म है ही नहीं।

कोई कहता है कि— हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं पूर्व में अनेक कर्म विद्यमान हैं वे हमें धर्म नहीं करने देते । किन्तु कर्म तो पर— वस्तु है वह तेरे स्वभाव में है ही नहीं । जो तुझमें नहीं है वह

तेरी क्या हानि कर सकता है, यदि पानी लाखो वर्ष तक अग्नि पर गर्म होता रहे तो भी उसमे अग्नि को बुझाने की शक्ति प्रतिसमय विद्यमान रहती है। यदि बर्तन से उछल पडे तो वही पानी उस अग्नि को बुझा देता है जिससे वह गर्म हुआ था। इसीप्रकार आत्मा प्रवल कर्म के सयोग के साथ विपरीत मान्यता से रागद्वेष के वेग में आया हो तो भी सत् समागम के द्वारा आत्मा की महिमा को जानकर क्षणभर में राग-द्वेष, अज्ञान का नाश कर सकता है। जिससे अनादि-काल से धर्म को नही समझा उसे भी धर्म के समझने में अधिक काल की आवश्यक्ता नही होती, वह क्षणभर में सत्य पुरुषार्थ के द्वारा धर्म को समझ सकता है।

व्यवहार मे जो विमोहित चित्तवाले पाप के विकारको अपना कर्तव्य मानते हैं, पुण्य से धीरे-धीरे धर्म का होना मानते हैं, तथा जो यह मानते हैं कि अकेले आत्मा से धर्म नही हो सकता, उसके लिये परावलम्बन आवश्यक है, मानो वे यह मानते हैं कि उन में निज की कोई शक्ति नही है। जो अपने में धर्म की 'नास्ति' मानते हैं वे बाहर से धर्म की 'अस्ति' कहाँ से लायेंगे ? यह धर्म की प्राथमिक बात है। यहाँ शुभ को छोडकर पाप मे प्रवृत्ति करने को नही कहते, क्योकि लौकिक सज्जनता, नीति इत्यादि की पात्रता तो आवश्यक है ही, किन्तु उससे अविकारी स्वभाव को कोई लाभ नही मिलता। उत्कृष्ट पुण्य करके उसके फलस्वरूप अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु उसका निषेध करके जो विकार रहित पूर्णस्वभाव की, आत्मा की श्रद्धा नही करता, सत्यासत्य का निर्णय नहीं करता वह परमार्थतः मूढ जीव है।

अनादिकाल से बाह्यप्रवृत्ति पर दृष्टि है, इसलिए जहाँ अनादि-काल से माने हुये को देखता है वहाँ सतोष हो जाता है। और मानता है कि 'मैंने इसका त्याग किया—यह ग्रहण किया इसलिए मुझे कुछ लाभ अवश्य होगा' किन्तु यह विचार नहीं करता कि मैं भीतर अपारशक्ति से अखण्ड परिपूर्ण हूँ, पूर्ण हूँ। पहले श्रद्धा में निरावलम्बी वीतराग

ज्ञायक स्वभाव को पूर्णतया मानने के बाद सम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्र की अस्थिरता जितना मोह शेष रह जाता है किन्तु परमार्थ दृष्टि में वह नहीं है क्योंकि उस को दूर करनेवाला निर्मल दृष्टि का विवेक सदा जाग्रत रहता है इसलिए वह अल्पकाल में शेष राग का भी नाश कर डालेगा।

कीचड़ से लथपथ होते हुए भी जो पहले से स्वच्छ जल का विश्वास करता है उसको जल की सभी प्रकार की मलिनता को दूर करने की दृष्टि पहले से ही खुली होती है भले ही उसे मलिनता दूर करते हुए कदाचित् कुछ विलम्ब लग जाय। एकरूप निर्मलताको प्राप्त करने की रुचि मलिनता नहीं रहने देगी। जबतक मात्र पुण्य-पाप के विकार को ही आत्मा का स्वभाव मानता है और शुभभाव से गुणका होना मानता है तबतक निर्मल स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाती और वास्तविक रूप में अशुद्धता को दूर करने का मार्ग नहीं सूझता। जो अज्ञानी लोग बन्धमार्ग को मोक्षमार्ग मानकर व्यवहार-व्यवहार चिल्लाते हैं और जो यह कहकर कि हमारा व्यवहार ग्रहण करने योग्य है व्यवहार को ही पकड़े बैठे हैं उन्हें आचार्यदेव ने व्यवहार मूढ़ कहा है।

हे भाई! तू वीतरागी प्रभु भूतार्थ है पराश्रय से होनेवाले क्षणिक विकारीभाव को अपना मानकर उसे जो उपादेय मानता है और उससे गुण मानता है वह अविकारी आत्मस्वभाव का घात करता है।

अविकारी द्रव्यस्वभाव को देखने वाली दृष्टि शुद्धदृष्टि है, सम्यग्दृष्टि है। और जो विकार को अपना स्वरूप मानता है, परवस्तु से-शुभविकार से धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। देह इत्यादि पर माणु की धूल अचेतन संयोगी वस्तु है वह-संयोगी वस्तु ज्ञायक स्वरूप नहीं है और आत्मा जड़रूप नहीं है इसलिये आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है पर की कोई भी क्रिया आत्मा नहीं कर सकता।

सच्चे तप की परिभाषा इच्छानिरोधस्तपः है इच्छाका त्याग

अर्थात् इच्छा की नास्तिका मतलब है विकार का नाश और यही तप है, यही इसका अर्थ है। जब जीव अविकारी, नित्य अस्तिरूप ज्ञायक सत्व की प्रतीति करता है तब वह विकार का नाश कर सकता है।

यह महामन्त्र है, किसी को साँपने काटा हो और फिर वह बिल में चला गया हो तब गारुढी (जादूगर) ऐसे मन्त्र पढ़–पढ़कर भेजता है कि यदि उस आदमी का भाग्य हो तो साँप बिल में से बाहर आ जाता है और विष को चूसकर वापिस चला जाता है (यहाँ पर मन्त्र की महत्ता नही देखनी है किन्तु सिद्धान्त को समझने के लिए दृष्टांत का अश ही लेना है) उस मन्त्र से यदि आयु शेष हो तभी विष उतरता है किन्तु त्रिलोकीनाथ परमात्मा ने सम्यग्दर्शनरूपी ऐसा महामन्त्र दिया है कि जो अनादिकाल से अज्ञानरूपी सर्प के द्वारा चढे हुए चैतन्यभगवान आत्माके विष (पर–भाव में ममत्वरूप जहर) को उतार देता है।

सम्यग्दर्शन किसी के कहने से अथवा देने से नहीं मिलता स्वयम् अनन्तगुण के पिंड सर्वज्ञभगवान ने जैसा कहा है, वैसा है। उसे सर्वज्ञ के न्यायानुसार सत्समागम के द्वारा ठीक पहचाने और भीतर अखण्ड ध्रुव स्वभाव का अभेदनिश्चय करे तो सम्यग्दर्शन–आत्म-साक्षात्कार होता है उसमें किसी परवस्तु की आवश्यक्ता नही होती। यह बात गलत है कि यदि मैं इतना पुण्य करूँ, इतना शुभराग करूँ तो उससे धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन हो जायगा। कोई बाह्यक्रिया करे, जप करे, हठयोग करे तो उससे कदापि सहज चैतन्य आत्मस्वभाव प्रगट नही होता, धर्म नही होता। धर्म तो आत्मा का सहज सुखदायक स्वभाव है।

प्रश्न—जब कि आप बाह्यक्रिया करने को कुछ कहते ही नहीं हैं तब धर्म तो बिल्कुल सरल हो गया ?

उत्तर—धर्म का अर्थ है अनन्त सुखस्वरूप आत्मा का नित्य स्वभाव, उस अनन्त सुखस्वरूप के प्रगट होने के कारणों में कष्ट है, इसप्रकार जो मानता है वह सच्चे धर्म को ही नही समझा। धर्म तो

आत्मा का स्वभाव है इसलिए वह कष्टप्रद नहीं है। लोग बाहर से माप निकालते हैं कि छहमास तक आहार का त्याग किया है धर्म में घोर परिषह सहन करने पड़ते हैं। इसप्रकार जो धर्म में दुःख मानते हैं वे धम को क्लेशरूप मानते हैं किन्तु धर्म क्लेशरूप नहीं है। आत्मा के अनाहारी ज्ञानस्वभाव के आनन्द में लीन होने पर ज्ञानी के छहमास तक आहार सहज ही छूट जाता है और जो शरीर सूख जाता है उस पर दृष्टि ही नहीं जाती। अकषाय स्वरूप की शान्ति में सहज ही इच्छा रुक जाती है इसका नाम है तप उसमें कष्ट नहीं है किन्तु अविकारी आनन्द है।

बाह्य तप परिषह इत्यादि क्रियाओं से मानता है कि मैंने सहन किया है इसलिये मेरे धर्म होगा किन्तु उसकी दृष्टि बाह्य में है इसलिये धर्म नहीं हो सकता। जिसे शरीर पर प्रेम है उसे शारीरिक प्रतिकूलता होने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानी को शरीरके प्रति राग नहीं होता उन्हें तो अनुकूल प्रतिकूल संयोग ज्ञेयमात्र होते हैं। अधिक कष्ट सहने से अधिक धर्म होने की बात तीनलोक और तीनकाल में नहीं हो सकती।

यहाँ पर सहजस्वभावी आत्मा का धर्म न्यायपुरस्सर कहा जाता है। जल-निर्मल जलस्वभाव से अज्ञानी-अज्ञानी जीव कादव मिश्रित जल को मैला मानता है वह मलिन जल को ही पाता है किन्तु निर्मल जलस्वभाव का ज्ञाता अपने हाथ से निर्मली औषधि (फिटकरी) डालकर अपने पुरुषार्थ से निर्मल जल को प्राप्त करता है और उसीका अनुभव करता है। इसीप्रकार ज्ञानानन्द आत्मा सहज ज्ञायकस्वरूप चैतन्यज्योति है वह स्वयं कर्म के संयोग से ढका रहता है इसलिए मलिन प्रतिभासित होता है। आत्मा को कर्म ने मैला नहीं किया किन्तु स्वयं विपरीतदृष्टि से अशुद्धरूप में अपने को राग-द्वेष, पुण्य-पाप का कर्ता मानता है और अपने को रागद्वेषी मानकर उस विकारीभाव को अपना मानता है। इसप्रकार माननेवाला व्यवहार मूढ़ है क्योंकि उसे स्वभाव की खबर नहीं है।

अरे ! यह देव-दुर्लभ मानव शरीर मिला है, इसमें अनन्त भव का अन्त हो सकता है ऐसी अपूर्व श्रद्धा के द्वारा एक दो भव मे ही अखण्डानन्द पूर्ण मोक्षस्वभाव की प्रगट प्राप्ति होनेवाली है, इस-प्रकार यदि नि सदेहरूप से अन्तरग मे दृढ निश्चय न करे तो जैसे कुत्ते, बिल्ली, कीडे-मकोडे आत्मभान के विना मर जाते हैं उसीप्रकार आत्म-प्रतीति किये विना मनुष्य जीवन व्यर्थ जाता है।

आत्मा की अपूर्व प्रतीति करना ही मनुष्य जीवनका वास्तविक कर्तव्य है। जिसे सच्ची श्रद्धा होती है उसे भवविनाश में शंका ही नही रहती।

जहाँ शंका वहाँ गिन संताप,
ज्ञान वहाँ शंका नहिं स्थाप।
प्रभु भक्ति वहाँ उत्तम ज्ञान,
प्रभु प्राप्ति में गुरु भगवान।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जहाँ शका है वहाँ ज्ञान नही है और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ शका नही रहती। पुरुषार्थ के द्वारा जहाँ स्वभाव मे से सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जाता है वहाँ गुरु निमित्तरूप होता है। स्वाधीन मोक्ष-स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा होने पर बन्धन की मान्यता छूटकर अन्तरग से यह निस्सन्देह विश्वास हो जाता है कि मैं विकार रहित, भव रहित, अबन्ध, ध्रुव स्वभावी हूँ। और ऐसी निस्सन्देह श्रद्धा आत्मा मे हो सकती है कि बहुत से कर्मों के आवरण टूट गये, कुछ ढीले हो गये और शेष अल्पकाल मे ही दूर करके पूर्ण परमात्मदशा को प्रगट कर लूगा।

आत्मा में अनन्त स्वाधीन गुण भरे हुए हैं, उन्हें न देखकर बाह्य कर्मों के निमित्त में युक्त होने से-पर के ऊपर दृष्टि होने से-अभेद मे जो भेद पडता है, पुण्य-पापभाव होता है, उसीको आत्मा का स्वरूप मानता है, पुण्य से ठीक हुआ मानता है, उस जीव को विकारी-

भाव के प्रति आदर होता है इसलिए उसे अविकारी आत्मा के प्रति आदर नहीं होता । पुण्य तो शुभरागभाव है उसका आदर करना सो महामूढ़ता है । उन क्षणिक भावों का आश्रय करनेवाला मिथ्यादृष्टि है ।

स्वतंत्रता के द्वार को खोलने वाला और परतन्त्रता की बेड़ी को तोड़ने वाला मेरा परमार्थभाव है वही मेरा स्वभाव पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्मा क समान शुद्ध है । उस ध्रुवस्वभाव को ही भूतार्थदर्शीजन शुद्धनय के द्वारा आत्मास्वरूप मानते हैं । शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से पर से भिन्न एकमात्र ज्ञायकरूप में अपने को ही अनुभव करते हैं । भगवान आत्मा सदा अक्रम अरूपी अविकारी निर्मल ज्ञानमूर्ति है उसे परमार्थ ध्रुवरूप में देखनेवाले ज्ञानीजन भेदरूप क्षणिक विकाररूप नहीं देखते ।

इसे समझने में यदि विलम्ब लगे तो अकुलाना नहीं चाहिये किन्तु धीरज धरकर समझने का प्रयत्न करना चाहिये । यदि पहले से ही यह मानकर कि समझ में नहीं आयेगा समझने का पुरुषार्थ न करे तो फिर अनन्तकाल तक यथार्थ समझ का द्वार बन्द कर देता है । भूल तो वर्तमान एक समयमात्र के लिये होती है त्रिकाल स्वभाव भूल रूप नहीं हो जाता इसलिये समझकर भूल को दूर करना चाहिये ।

भूतार्थदर्शी (शुद्ध दृष्टि से देखनेवाले) के ऐसा विवेक होता है कि मैं अकेला निर्मल हूँ ध्रुव हूँ इसलिये अपने पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञानज्योति से शुद्धनयानुसार बोध होता है । उस बोधमात्र से निर्मल ध्रुव स्वभाव की प्रतीति तथा आत्मा और कर्म की भिन्नता का विवेक उत्पन्न करता है । अपने पुरुषार्थ के द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभाव को ही सम्यग्दृष्टि शुद्धनय के द्वारा अनुभव करता है यह सम्यग्दर्शन है ।

यदि कोई कहे कि समयसार में बी ए और एम एस सी जैसी उच्च भूमिका की बातें हैं तो यह ठीक नहीं है । जो यथार्थ आत्महित करना चाहे उसके लिए प्रथम उपाय की बात है । सभी जीव

सिद्ध परमात्मा के समान हैं, तू भी सिद्ध समान है। फिर यदि तू नही समझे तो क्या जड पदार्थ समझेगा ?

कोई कर्म के नाम को रोता है कि मुझे कर्म ने मार डाला यदि कर्म मार्ग साफ करदे तो धर्म सूझे। किन्तु भाई ! वे कर्म तो जड, अध, और भानरहित हैं, उन्हे यह खवर ही नही कि हम कौन हैं और कहाँ हैं। परमार्थ से तुझे उनका कोई वन्धन नही है किन्तु तेरी विपरीत मान्यता का ही वन्धन है। भूलरहित त्रिकाल निर्मल पूर्ण-स्वभाव को देखकर सीधी मान्यता करे तो तुझमे अशुद्धता नष्ट हो सकती है, वह अभूतार्थ है अर्थात् नित्यस्थाई स्वभाव मे वह नही है।

मै अखण्ड चैतन्यज्योति त्रिकाल निर्मल एकरूप आनन्दमूर्ति हूँ। इसप्रकार जो शुद्ध परमार्थदृष्टि से अपने को अखण्डज्ञायक वीतराग सिद्ध परमात्मा के समान अनुभव करता है, वही अपने ध्रुवस्वरूप को मानता है और इसलिये पर का—विकार का स्वामित्व नही करता।

दृष्टि को निर्मल करने के वाद शुभभाव होता तो अवश्य है किन्तु उसका आदर नही होता। उसे यह भान है कि—अपनी वर्तमान निवलाई के कारण शुभभाव होता है, किन्तु वह मेरा स्वभाव नही है, मेरा स्वभाव तो शुद्ध वीतराग है, और उस स्वभाव की दृष्टि के वल से उसके स्वभाव में विकार का अभाव विद्यमान होता है।

जैसे काछी—कोली के गदे लड़के किसी के घर के आंगन में खेलने के लिये पहुँच जायें तो उन्हे देखकर आत्मीयता की ऐसी भावना नही होती कि वह हमारे वश के रक्षक हैं, प्रत्युत यह जानकर कि यह मेरे घर के नही हैं, उन्हे घर से वाहर निकाल देते हैं। इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा मे राग-द्वेष की सकल्प—विकल्प वाली वृत्ति अपनी अशक्ति के कारण दिखाई देती है, उसका स्वभाव की पूर्णता की दृष्टि के वल से निषेध करते हैं।

अन्तरग में शुभ-अशुभ भावो मे हेयबुद्धि होने से और ऐसे स्वभावका आदर होने से कि मैं वर्तमान में त्रिकाल, अखण्ड, निर्मल पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ। शुद्धनय के द्वारा अपने में पूर्ण अखण्ड दृष्टि की प्रतीति

अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है, यही पूर्ण मुक्ति–मन्दिर में प्रवेश करने का प्रथम द्वार है।

यहाँ पर शुद्धनय निर्मली औषधि (फिटकरी) के स्थान पर है। जो अन्तरंग निर्मलदृष्टि (शुद्धनय) का आश्रय लेते हैं वे सम्यक्–अवलोकन करने वाले हैं इसलिये सम्यक्दृष्टि हैं। उसके अतिरिक्त शुभाशुभभाव का आश्रय करने वाले भेदरूप व्यवहार के पक्षपाती व्यवहारमूढ़ हैं मिथ्यादृष्टि हैं।

पुण्य से धर्म होना पुण्य तो धर्म का प्रारम्भ है पुण्य सगैठा है धर्म का साधन है गुण के लिये बाह्यक्रिया आवश्यक है इसप्रकार विकार से–बन्धनभाव से अविकारी अबन्ध स्वभाव प्रगट होगा यों मानने वाले तथा देह की क्रिया पुण्य-पाप की क्रिया का मैं कर्ता हूँ पर से मुझे लाभ–हानि होती है पर के अवलम्बन से गुण होता है ऐसे अज्ञानरूप अभिप्राय को माननेवाले सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

यह सब समझने की अपेक्षा जिसे जगत ठीक मानता है वैसा ही करना लोगों को भी ठीक लगता है। कोई कहता है कि पाँच हजार रुपया खर्च करो तो कल्याण हो जायगा किन्तु ऐसा कल्याण तो जीव ने अनन्तबार किया है लेकिन उससे धर्म नहीं हुआ। जीव ऐसे सूक्ष्म अन्तरंग स्वभाव को नहीं समझ सका और बाहर से जो अच्छा दिखाई देता है उसमें धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाता है। प्रशंसा करनेवाले भी बहुत से लोग मिल जाते हैं जो कहा करते हैं कि 'आपने बहुत बड़ा परमार्थ का काम किया है अब आपका कल्याण अवश्य हो जायगा'। यदि पैसे से धर्म होता हो तो निर्धन के धर्म नहीं होगा। सच तो यह है कि रुपया-पैसा दे देना पुण्य का कारण नहीं है किन्तु अन्तरंग में रुपये पैसे के प्रति होने वाले राग को कम करे तो पुण्य होता है। लोगों में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए रुपया-पैसा दे और यह माने कि मैं धर्मादा करता हूँ तो वहाँ रुपया–पैसा देने पर भी पर के अभिमान के कारण पाप होता है। पैसा देने से ही पुण्य होता है यह बात नहीं है। रुपया-पैसा तो पर–जड़वस्तु है। शरीरादि

की प्रवृत्ति हुई इसलिए, अथवा रुपया-पैसा देने से पुण्य होता है यह मानना गलत है। रुपया पैसा तो उसके (सामने वाले के) पुण्य के कारण और जड़ की अवस्था के कारण उस समय उसके पास आनेवाला ही था। दूसरे के कारण से पुण्य नही होता किन्तु कषायो के मन्द करने से पुण्य होता है। अन्तरग तत्त्व की पहिचान करना और तृष्णा–रागरहित अविकारी 'मै कौन हूँ' इसकी यथार्थ प्रतीति करना सो धर्म है। स्वभाव को जाने विना शुभभाव मे दान देकर तृष्णा कम की जा सकती है किन्तु वहाँ वास्तव मे तृष्णा कम नही हो जाती। वर्तमान तृष्णा घटी हुई दिखाई देती है, किन्तु दृष्टि तो पर के ऊपर होती है इसलिये वह भविष्य मे पुण्य के फल मे मूढ हो जायगा।

जिसे पराश्रित व्यवहार मे उपादेय बुद्धि है, जो विकार के कर्तव्य को ठीक मानता है, उसका किसी भी प्रकार हित नही होता। इसलिये निरावलम्बी निर्पेक्ष ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण करने से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय से निरावलम्बी पूर्ण निर्मल स्वभाव को मानने वालो को व्यवहारनय का अनुसरण करना योग्य नही है।

इस गाथा मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप अत्यत सादी भाषा मे, अलौकिक रीति से, स्वच्छ पानी और कीचड का दृष्टान्त देखकर इसप्रकार समझाया है कि छोटा बालक भी समझ सकता है। यदि बारम्बार सुनकर मनन करे तो चाहे जो व्यक्ति भगवान आत्मा के निर्मल ज्ञायक स्वभाव का स्वय अनुभव कर सकता है।

प्रश्नः—पुण्य–पापकी वृत्ति को अभूतार्थ-अस्थाई क्यो कहते हो ?

उत्तरः—पुण्य–पाप के भाव क्षणिक सयोगाधीन किये हुए होने से बदल जाते हैं, इसलिये अभूतार्थ-अस्थाई हैं, जैसे बहुत से आदमियों के बीच चन्दा लिखाया जा रहा हो तो उसे देखकर किसी के पाँच हजार रुपया देने के शुभभाव हो जाते हैं, और वह पांच हजार रुपये लिखा देता है, किन्तु घर जाकर उसका विचार बदल जाता है, जब कोई उसके पास वह रुपया मागने जाता है तब उसको रुपया देने की दानत नही होती, इसलिए वह उसका दोष निकालता है और

कहता है कि तुम्हारी सस्ता ठीक नहीं चलती इसलिये अभी कुछ देने का विचार नहीं है। इसप्रकार तृष्णा को रखकर व्यर्थ यश लूटता है किन्तु तृष्णा कम नहीं करता। किसी को सस्ता अच्छी चले या न चले उससे तेरी तृष्णा में कोई अन्तर नहीं होता है किन्तु तू जब अपनी तृष्णा को कम करना चाहे तब उसे कम कर सकता है।

इसमें सिद्धान्त इतना ही है कि पुण्य–पाप के भाव क्षणिक हैं वे सयोगाधीन किये जाते हैं इसलिये बदल जाते हैं अतः अस्थाई–अभूतार्थ हैं और पुण्य–पापरहित जो अखण्ड निर्मल स्वभाव है वह त्रैकालिक है इसलिये भूतार्थ है यदि उसे परमार्थदृष्टि से लक्ष में लिया जाय तो नित्यस्वभाव का निश्चय नहीं बदल सकता।

शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से स्व–पर की भिन्नता का विवेक और शुद्धात्मा का अनुभव होने लगता है। इसमें साधन तो शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से कहा है अन्य कोई पर का अवलंबन किया अथवा शुभविकल्प इत्यादि नहीं कहा।

भावार्थ :—यहाँ पर व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही अखण्ड वस्तु है उसके लक्ष से हटकर पर-संयोग के लक्ष से पुण्य-पाप की वृत्ति होती है तब साधक भाव की धारा में खण्ड–भंग पड़ जाता है। जैसे नदी का प्रवाह अखंड है किन्तु बीच में नाला आने पर उसके प्रवाह में खण्ड पड़ जाता है इसीप्रकार त्रैकालिक ज्ञायक चतन्यस्वभाव एकरूप ही है उसमें वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्र के लिए कर्म के निमित्ताधीन शुभाशुभभाव होते हैं वह व्यवहार है उस व्यवहार का विषयभेद अनेकाकार है। उसका आश्रय करने वाला शुभाशुभ विकार को दृष्टि का विषय बनाने वाला मिथ्यादृष्टि है।

शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता। निर्मल अखण्ड स्वभाव की दृष्टि करने के बाद भी चारित्र में कमी होने के कारण शुभवृत्ति होती है वह व्यवहार का विषय है। व्यवहार का भेद एक समयमात्र के लिये है

इसलिए भूतार्थदृष्टि में भेदरूप व्यवहार असत्यार्थ—अविद्यमान है।

'भेदरूप व्यवहार अविद्यमान है' यह कहने का किसी को यह तात्पर्य नही निकालना चाहिये कि कोई वस्तु सर्वथा भेदरूप है ही नही। अविद्यमान है, अर्थात् स्वभाव मे नही है। ऊपर असत्यार्थ कहा है वह वस्तुरूप मे है अवश्य, किन्तु नित्य स्वभाव में नही है। पर के अवलम्बनरूप शुभाशुभ विकार यदि वर्तमान अवस्था में भी न हो तो पुरुषार्थ करके विकार को दूर करके अविकारी निर्मल हो जाऊँ, ऐसा अवकाश ही न रहे। वर्तमान अवस्था में विकार है, किन्तु ज्ञानी उस वर्तमान भेददृष्टि को द्रव्यस्वभावरूप नही देखता।

जिसे अपना हित करना है उसे सत्समागम द्वारा यथार्थ वस्तु को जानकर, भेद को गौण करके, एकरूप ध्रुवस्वभाव भूतार्थ का लक्ष करना चाहिये, जिसे अनन्तभवका दुःख दूर करना हो और सच्चिदानन्दमय पूर्ण सुखरूप स्वाधीन तत्व प्राप्त करना हो उसी के लिये यह बात कही जारही है।

सुख स्वभाव में ही है। जीव अपने स्वभाव को जाने बिना अनन्तबार पशु-पक्षी, कीडा—मकोडा आदि का भव धारण किया करता है। यदि किसी आदमी से कह दिया जाय कि 'तू तो गधे जैसा है' तो वह झगडा करने को तैयार हो जायगा, किंतु उसे यह ज्ञात नही है कि अन्तरग में जिन विकारी भावो का सेवन कर रहा है उनका सम्यक्ज्ञान के द्वारा जबतक नाश नही कर दिया जाता तबतक उसके अज्ञानभाव में गधे के अनन्तभव धारण करने की शक्ति विद्यमान है।

यदि अपने में भूलरूप विपरीत मान्यता न हो तो उस भूल के फलस्वरूप यह अवतार (जन्म—मरण) ही क्यो हो ? और यदि वह भूल सामान्य हो तो इतने भव न हो, किन्तु वह भूल असामान्य-असाधारण है। निज को निज की ही भ्राति है। आत्मस्वभाव की पूर्ण स्वाधीनता स्वीकार करके जबतक वह भूलदूर नही करदी जाती तबतक उस भूलरूप विपरीतभाव में अनन्तभव तैयार ही समझना चाहिये।

जैसे जल को मलिनरूप ही मानने वाले को स्वच्छ—मीठे जल का अनुभव नहीं हो पाता और वह मैला जल ही पीता है इसीप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति पर से भिन्न है किन्तु वह अपनी स्वाधीनता को भूलकर पुण्य-पाप विकार को अपनेरूप या—हितकर—करने योग्य मानता है, और उस मलिनभाव तथा उसके फलस्वरूप भव भ्रमण की आकुलता का ही अनुभव करता है।

प्रत्येक वस्तु में स्वभाव से विकार नहीं होता किन्तु उसमें यदि निमित्तरूप दूसरी वस्तु हो तो उस निमित्त की ओर झुकाव करने से विकार होता है। आत्मा के विकार में निमित्तरूप दूसरी वस्तु जड़ कर्म हैं। उन जड़कर्मों के सम्बन्ध का अपने में आरोप करके जीव रागद्वेष करता है।

जड़कर्म और बाह्य—संयोगी वस्तु के अनेक प्रकार हैं। उस बाह्य—वस्तु के आश्रय से पूजा भक्ति व्रत तप, दान इत्यादि अनेक प्रकार के शुभभाव तथा हिंसा चोरी असत्य इत्यादि अनेक प्रकार के अशुभ भाव होते हैं। वे शुभ और अशुभ दोनों बन्धभाव हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्य को छोड़कर पाप किया जाय। यहाँ तो यह बात न्यायपुरस्सर जानने के लिए कही गई है कि पुण्य—पापकी मर्यादा कितनी है। क्योंकि ऐसा मानने और मनवाने वाले बहुत से लोग हैं कि पुण्य से धर्म होता है अर्थात् विकार से—बंधनभाव से आत्माका अविकारी धर्म होता है। यहाँ तो अविरोधीरूप में यह कहा जा रहा है कि जन्म-मरण कैसे दूर हो और वर्तमान में आत्मसाक्षात्कार कैसे हो।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान श्री सीमंधरस्वामी के पास से जो सनातन सत्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य लाये थे उसकी अद्भुत रचना समयसार शास्त्र के रूप में हुई है उसी अविरोधी तत्व को यहाँ कहा जाता है।

अल्प आयुष्मान है भाई! जब अपूर्व समझ का सुयोग मिला तब यदि नहीं समझेगा तो फिर अनन्तकाल में भी ऐसा उत्तम सुयोग मिलना दुर्लभ है। जैसे पिता पुत्र को कहता है कि भाई यह

दो नहीने सच्चे मौसम के है; इसलिये कमाने के बारे में सावधानी रख। इसीप्रकार आचार्यदेव संसार पर करुणा करके कहते हैं कि अनन्त भवो का अल्पकाल मे ही नाश करने का यह अवसर मिला है, इसलिये सावधानीपूर्वक आत्मस्वरूप को यथार्थ पहचानले। यदि अब चूक गया तो फिर ऐसा उत्तम अवसर नही मिलेगा।

अशुभभाव को दूर करने के लिये शुभभाव के अवलवन का निषेध नही है किन्तु जीव ने आत्मा का निर्मल चिदानन्द अखण्डानन्द स्वतत्रत्व सच्चे गुरुज्ञान से पहले कभी नही सुना था और न माना था, न कभी अनुभव किया था इसलिये यहाँ पर उस अपूर्व तत्व की बात कही जाती है।

बाह्य सुधार करो, व्यवहार सुधारो ऐसी लौकिक बातें इस जगत् में अनादिकाल से कही जारही है वह अपूर्व नही है किन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि जो पुण्य-पाप के विकारी भावो को अपना स्वरूप मानता है, उससे अपना भला मानता है, शुभ में और पुण्य मे उत्साह दिखाता है, उसका आदर करता है, उसे अविकारी भगवान आत्मा के प्रति आदर नही है, किन्तु अनादर ही है। उसे परमार्थ साक्षीस्वरूप आत्मा की खबर नही है, इसलिये पर का आश्रय लेकर अभूतार्थ व्यवहार को अपना मानता है, तब भूतार्थदृष्टि—सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से स्वभाव का अनुभव करता है। यहाँ पर जिसने स्वय पुरुषार्थ किया उसी को अतरग साधन कहा है देव गुरु शास्त्र तो दिशा बतलाकर अलग रह जाते हैं। देव गुरु शास्त्र भी परवस्तु हैं उसके आधीन तेरा अन्तरगुण नही है।

'हे भगवान ! मुझे तार देना' यो कहने वाले ने अपने मे सामर्थ्य नही है यो माना अर्थात् अपने को परमुखापेक्षी माना। परमार्थ से मैं नित्य स्वावलबी हूँ इसप्रकार यथार्थ समझने के बाद यदि व्यवहार से भगवान का नाम लेकर कहे कि तू मुझे तार देना तो यह जुदी बात है। किन्तु जो अपने को शक्तिहीन मानकर 'दीन भयो

प्रभु पद जपे मुक्ति कहाँ से होय ?' मुझमें शक्ति नहीं है तू मुझे तार दे इसप्रकार बिल्कुल रंक होकर प्रभु-प्रभु ! रटा करे तो मुक्ति कहाँ से होगी ? भगवान् तो वीतराग हैं, उन्हें किसी के प्रति राग नहीं है तथा कोई किसी को तार नहीं सकता। मैं स्वावलम्बी पूर्ण हूं ऐसे स्वभाव की प्रतीति से अज्ञान को दूर करके जिसे स्वयं भगवान होने की श्रद्धा नहीं है वह दीनहीन रंक बनकर दूसरे के पास से मुक्ति को आशा रखता है। वह भगवान से कहता है कि हे भगवान ! तू मुझे तार देना इसका अर्थ यह हुआ कि तूही मुझे अभीतक पकड़ कर में डाल रहा है और तूने ही अभीतक मुझे दुःखी किया है। इसप्रकार वह उल्टा भगवान को ही गालियाँ देता है, वह वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं करता किन्तु उसे रागी मानकर उसकी अस्तुति करता है अर्थात् वह राग की ही पूजा और राग की ही भक्ति करता है।

वह कहता है कि 'हे भगवान ! तू भूल दूर कर, मुझे तारदे तू मुझे मुक्ति दे इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने तो भूल की ही नहीं मुझ रागद्वेष दूर नहीं करना है तू मुझे तारदे या तू मुझे मुक्ति देदे इसप्रकार के भाव उसमें अप्रगटरूप से आजाते हैं। भगवान किसी को तारदें अथवा रागद्वेष का नाश करदें ऐसा त्रिकाल में कदापि नहीं हो सकता।

लौकिक व्यवहार में विनय की दृष्टि से कहा जाता है कि हम तो बड़े बूढ़ों के पुण्य से खारहे हैं किन्तु कहने वाला अपने मन में यह भी समझता है कि वह बड़े बूढ़ों के पुण्य को स्वयं नहीं भोगता। इसीप्रकार ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग को पहचान कर 'बोहिदयाय' तरण तारण हो इसप्रकार विनय से व्यवहार से उपचार से कहता है। किन्तु वह समझता है कि मैंने अपनी ही भूल से परिभ्रमण किया है और मैं ही अपनी भूल को दूर करके स्वतंत्र स्वभाव की प्रतीति से स्थिर होकर वीतराग हो सकता हूं। यदि देव-गुरु-शास्त्र से तर सकते होते तो उनका योग तो प्रत्येक व्यक्ति को अनन्तबार मिल चुका है तथापि

मुक्ति नही हुई। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्त से किसी का कार्य नही हो सकता।

हे भाई! यह समझने की बात है, इसे ध्यान पूर्वक समझना। ऐसी बात को सुनने का सुयोग बारम्बार मिलना दुर्लभ है। इसे समझने के लिये अपनी निज की तैयारी होनी चाहिये। जैसे 'मिश्री' शब्द सुनने से अथवा किसी को मिश्री खाते हुये देखने से मिश्री का स्वाद नही आजाता किन्तु स्वय मिश्री का टुकडा लेकर अपने मुँह में डाले और उसके स्वाद का अनुभव करे तो मिश्री का यथार्थ स्वाद ध्यान में आता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीरूप है, उसकी बात सुनने से अथवा उसका अनुभव करने वाले किसी ज्ञानी को देखने से स्वभाव का निराकुल सहज आनन्द नही आ सकता, किन्तु सत्समागम से स्वय जानकर और फिर नित्य असयोगी पूर्णस्वरूप को ज्ञान मे दृढ करके अंतरग मे स्वाश्रय शुद्धनय से अभेदस्वभाव का अनुभव करे तो विकल्प-भेदरहित एकाकार शुद्ध आत्मस्वरूप के आनन्द के स्वाद का अनुभव होता है।

त्रिकाल के ज्ञानियो ने यही सूक्ष्म तत्त्व कहा है, उसकी प्राप्ति के लिये किसी बाह्य साधन का अवलबन है ही नही, ऐसा निरपेक्ष तत्त्व वीतराग के मार्ग मे है। उसका विरोध करने वालो को तत्त्व की खबर नहीं है। जो अनन्त शुद्धता से विपरीत हुआ वह अशुद्धता मे अनन्त है और जो अनुकूल होता है वह स्वभाव की शक्ति में अनन्त है। जो विकार मे अनन्तगुनी विपरीतता करता है वह भी स्वतंत्र है, उसकी पात्रता के बिना अनन्त तीर्थंकरो का साक्षात् उपदेश भी उसके लिये निमित्त नही हो सकता। यदि दूसरे के आधार से समझ मे आ सकता हो तो स्वतन्त्रता ही न रहेगी। तत्त्व का स्वरूप भले ही ज्ञानी के पास से ही सुनने मे आये किन्तु अपनी निज की तैयारी के बिना समझ में नही आ सकता।

पर-सयोग के आश्रय से उत्पन्न शुभभाव क्षणभर में बदलकर अशुभभाव होकर नरक निगोद में खींच ले जायगा, इसलिये

प्रखण्ड निर्मलस्वभाव का भाश्रय कर तो नित्य स्थिर रहेगा वह किसी भी समय और किसी भी संयोग में बदलेगा नहीं।

'अपने पुरुषार्थ के द्वारा' कहकर आचार्यदेव ने भद्भुत अमृत प्रवाहित किया है। कोई कहता है कि—कर्म बाधा देते हैं जब काल पके तब धर्म हो कोई साधन मिले तब धर्म करें। ऐसा कहने वाले सभी लोगों का निषेध करके आचार्यदेव कहते हैं कि मात्र आत्मा से स्वाश्रय से चाहे जिस क्षेत्र में चाहे जिस काल में धर्म हो सकता है। स्वभाव तो जब देखो तब स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानानन्द शांतिरूप ही है। पर—निमित्त के भेद से रहित निर्विकार वीतराग ज्ञानमूर्ति है।

अहो! इस अपूर्व ग्रन्थ में कैसा तत्त्व भरा हुआ है। प्रत्येक गाथा में अपूर्व अमृत निहित है। ऐसी अपूर्व बात जहाँ तहाँ सुनने को नहीं मिलती इसलिये किसी को नई लगे और यदि पूर्ण श्रद्धा न जमे तो भी तीनकाल और तीनलोक में यह सत्य बात बदल नहीं सकती। यदि समझ में न आये तो परिचय प्राप्त करके अविरोध स्वभाव को समझकर मानना ही चाहिये।

यदि रुपया कमाना हो तो उसमें कोई संयोग अथवा काल की प्रतीक्षा नहीं करता किन्तु धर्म के लिए बहाने बताये जाते हैं कि ऐसा होना चाहिए और वैसा होना चाहिए। जिसे आत्मा की रुचि होगई है वह बहाने नहीं किया करता वह कालदोष अथवा क्षेत्रदोष नहीं बतलाता। अनन्त जन्म-मरणरूप भव के त्रास से मुक्त होने का उपाय सुनने को मिले और तैयार न हो तो समझना चाहिये कि उसे आत्मा की रुचि नहीं है।

निर्विकार दृष्टि को भूलकर बाह्य प्रवृत्ति को ही धर्म मानने वाले अन्तरंग के सत्यधर्म को न पहचानें तो वस्तु का जो निरावलंबी स्वाश्रित मार्ग है वह त्रिकाल में भी नहीं बदल सकता। पुण्य से शुभ से, देह की क्रिया से अर्थात् पराश्रय से धर्म मानने वालों को सर्वज्ञ भगवान ने मिथ्यादृष्टि कहा है। इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने डंके की चोट जगत् के समक्ष घोषित किया है। सत्य गोप्य नहीं है और

वह ऐसा भी नहीं है कि जिसकी बात विशाल सभा मे नही की जा सकती हो।

जैसे कोई अपने घर पांच सेर सोना लाये तो उसे देखकर ही स्त्री को सतोष हो जाता है कि इसमें से भविष्य में गहने बनेंगे। उन गहनो की सारी अवस्था नक्कासी वर्तमान मे सोने मे निहित है। सोने में जेवर गहनेरूप होने की पूरी शक्ति है ऐसा विश्वास वर्तमान मे है, इसीप्रकार चैतन्य आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द की मूर्ति है उसे त्रिकाल की सपूर्ण अवस्था और अनतगुण के पिडरूप वस्तुरूप में वर्तमान मे लक्ष्य करके अभेद ध्रुवरूप देखें तो उसमे केवलज्ञान केवलदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इत्यादि समस्त निर्मल अवस्थाऐ वर्तमान में ही शक्तिरूप में प्राप्त हैं। वह क्योकर प्रगट होगी इसकी चिंता अखण्ड ध्रुवदृष्टि वाले को नही होती। अखराड परमार्थ की दृष्टि के बल से निर्मल पर्याय प्रगट होकर एकरूप सामान्य स्व-द्रव्य मे मिल जाती है। इसलिये त्रिकाल एकरूप ज्ञायक आत्मा को देखने वाली अखण्ड ध्रुवदृष्टि मे किसी अवस्था के भेद अथवा प्रकार का विकल्प नही उठता। ऐसा आत्मदर्शनरूप श्रद्धा का जो अभेद विषय है, वह परमार्थ है और वही भूतार्थ—सत्यार्थ कहने योग्य है।

यदि आत्मा एकात नित्य ही हो और अवस्था से बदलने का उसका स्वभाव ही न हो तो दु ख दूर करने का उपाय करने को और यथार्थ ज्ञान करने को कहना ही वृथा हो जायगा। किन्तु आत्मा एकान्तरूप से अभेद नही है उसमें पराश्रय से, अज्ञानभाव से वर्तमान में रागद्वेष होते हैं और अविकारो स्वभाव की प्रतीति के द्वारा भीतर स्थिर होकर राग को दूर करके निर्मल अवस्थारूप भेद भी आत्मा में हैं।

राग—द्वेष विकार त्रिकाली ज्ञायक शक्तिरूप वस्तु में नही है किन्तु वर्तमान अवस्था में है। यदि वर्तमान अवस्था मे भी (ससारी जीवो के) विकार न हो तो 'तू समझ, रागद्वेष को दूर करके पूर्ण

निर्मलता प्रगट कर इसप्रकार विकार को दूर करने की बात ही क्योंकर कही जा सकेगी ?

शुद्धपरमार्थदृष्टि का विषय अभेद है यह कहने में समस्त द्रव्य को पर से भिन्न और निज से अभिन्न कहने की अपेक्षा है किन्तु वर्तमान अवस्था में भेदवस्तुत्व तथा विकार में पर-निमित्त की उपस्थिति यदि कोई वस्तु ही न हो तो उसे वेदांत मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो जायगा। और ऐसा होने से सर्वथा एकांत शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आजायगा।

सर्वज्ञ वीतराग ने पूर्वा पर विरोध रहित पर से भिन्न अविकारी स्वरूप भेद-अभेदरूप से कहा है। उसे मध्यस्थ-शांतदृष्टि करके अविरोधी सत्य को स्वीकार करके उसका न्याय से आदर करके अंतरंग में पचाना चाहिये।

एक कूटस्थ ब्रह्म को मानने में क्या दोष है सो यहाँ बतलाते हैं:—

(१) यदि वस्तु एक ही हो और दूसरी वस्तु न हो तो समझने वाला और समझाने वाला इसप्रकार का भेद नहीं रह सकता। भेद तो प्रत्यक्ष है फिर भी भेद को यदि भ्रम माने तो जानने वाले का ज्ञान मिथ्या है।

(२) क्षेत्र से यदि सब सर्वव्यापक हो तो भी उपरोक्त दोष आता है।

(३) काल से आत्मा नित्य ही हो और वर्तमान अवस्था से बदलना न होता हो अर्थात् यदि एकांत नित्य ब्रह्म वस्तु हो तो अशुद्धता को दूर करके शुद्धता को प्रगट करना ही नहीं बन सकेगा।

(४) भाव से यदि सभी आत्मा सदा एक शुद्ध ब्रह्मरूप पूर्ण ज्ञानगुण मात्र हो और प्रगट अवस्था में कर्म-शरीरादि का संबंध

न हो अर्थात् सर्वथा भेदरहित, कार्य–कारण रहित हो तो इसप्रकार एकात मानने से मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का प्रसग आयगा।

सर्वज्ञ वीतराग का निर्दोष उपदेश अपेक्षा पूर्वक यथार्थ धर्मों को कहनेवाला है। एक–एक वस्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न है। उसमें नित्य–अनित्य भेद–अभेद, और शुद्ध–अशुद्ध इत्यादि जो प्रकार हैं उसप्रकार मानना सो अनेकात है। एकवस्तु मे वस्तुत्व निष्पादक (उपजाने वाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना सो अनेकात है।

आत्मा को अविकारी कहने पर उसमे विकार की अपेक्षा आजाती है। विकार और अविकार दोनो एक भाव नही हैं किन्तु दो हैं। वास्तविक त्रिकाली स्वभाव मे राग–द्वेष विकार नही है किंतु अवस्था मे निमित्ताधीन विकार है। यदि अवस्था में भी विकार न हो तो ससार में दु ख कौन भोगे ? देह–इन्द्रियो को सुख–दुःख की खबर नही होती इसलिये प्रत्येक आत्मा भिन्न है और जडपरमाणु भिन्न हैं। यदि जीव को विकृत होने मे निमित्तरूप से अन्यवस्तु है ऐसा न माने और वस्तुरूप से सबको मिलाकर एक आत्मा माने, क्षेत्र से सर्वव्यापक जड में भी माने, काल से एकात नित्य कूटस्थ माने, गुण से नित्य ब्रह्मरूप अभेद माने, भाव से निलकुल शुद्ध वर्तमान अवस्थामें भी विकार रहित माने तो ऐसे एकातवादी से पूछना चाहिये कि राग–द्वेष की आकुलता कौन करता है ?

यदि कोई कहे कि 'भाग्य ही सुखी–दु खी करता है, वही बनाता-बिगाडता है तथा इन्द्रियो के विषयो को इन्द्रिया ही भोगती हैं, उससे हमें क्या लेना देना है ?' तो उसे शरीर पर अग्निका डमा देकर देखना चाहिये कि कैसा समभाव रहता है ? दोष (राग–द्वेष) तो करे स्वय और उसका आरोप लगाये दूसरे पर ? भाग्य और ईश्वर ही सब कुछ करता है तथा बनाना–बिगाडना भी उसी के आधीन है यो मानना सो मूढता है, अविवेक है।

सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग में रागादि विकल्प को अविद्यमान कहने का कारण यह है कि जो विकल्प है सो दूर हो सकता है, क्योंकि वह संयोगाधीन है। वह वर्तमान क्षणिक अवस्था में है। उसके अतिरिक्त अखण्ड त्रिकाली ध्रुवस्वभाव वर्तमान में पर–निमित्त के भेद से रहित पूर्ण निर्मल है उस परमार्थ के लक्ष से विकार दूर हो सकता है इसलिये उसे अभूतार्थ कहा है।

त्रिकाली भूतार्थ ध्रुवस्वभाव को मुख्यतया लक्ष्य में लेकर यदि उसमें अभेद परमार्थदृष्टि का बल न लगाय तो वर्तमान विकारी अवस्था दूर नहीं होगी। इसीप्रकार यदि यह माने कि आत्मा सर्वथा भूल ही नहीं करता तो वह भूल–विकार को दूर करने का उपाय नहीं करेगा और कभी भी भूल दूर न होगी। विकल्प को नष्ट करनेके लिये अभेद का अवलम्बन कहा है। निर्मल निर्विकल्प अभेद का विषय करने वाली श्रद्धाका अखण्ड लक्ष करनेके लिये तथा अखण्ड गुण में स्थिरता–एकाग्रता करने के लिये अखण्ड गुणरूप वस्तु पर बल करे तो विकल्प छूटकर निर्विकल्प दशा का अनुभव होता है। इसी अपेक्षा से कहा है कि भेद–अभेदरूप से वस्तु को समझकर अखण्ड निर्मल ज्ञायक ध्रुव स्वभाव में अभेद लक्ष्य करे तो विकल्प की पकड़ छूटकर भेदका लक्ष्य गौण होने से राग द्वेष दूर हो जाता है। वहाँ ऐसे विकल्प नहीं करने पड़ते कि राग द्वेष को दूर करूं या पुरुषार्थ करूं।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान ने व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है क्योंकि संयोगाधीन शुभाशुभ विकारीभाव क्षणिक अवस्था मात्र के लिये हैं उसका पक्ष अथवा उसके भेद का लक्ष्य रखने का फल संसार ही है। अभेद स्वभाव के लक्ष्य से विकारीभाव दूर हो सकता है, जो दूर हो सकता है वह अभूतार्थ है।

कर्म के संयोग के आश्रय से शुभाशुभ विकार होता है उसे आत्मा न माने हितकर न माने इतना ही नहीं किन्तु गुण–गुणी के भेद पर भी लक्ष्य न करे और त्रकालिक ध्रुव एकरूप निर्मल स्वरूप को अभेदरूप से लक्ष्य में ले सो शुद्धनय है।

जैसे पानी स्वभाव से गरम नही है, वह वर्तमान अवस्था मे अग्नि के निमित्त से गर्म है, वह उष्णता पानी का वास्तविक स्वभाव नही है, यदि इसप्रकार विश्वास करे तो पानी को शीतल करने का पुरुषार्थ करके ठडा पानी प्राप्त किया जा सकता है। अग्नि के निमित्त से पानी गरम होता है यह न माने और अग्नि को भी न माने तथा यह भी न माने कि पानी की उष्ण अवस्था पर-सयोग से हुई है जो कि दूर की जासकती है तो कहना होगा कि उसे पानीके वास्तविक शीतल-स्वभाव की खबर नही है। जो पानी को गरम ही मानता है वह उसे ठडा करने का उपाय नही करेगा, किन्तु पानी का शीतलस्वभाव उष्ण अवस्था के समय भी बना रहता है यह जान ले तो वर्तमान अग्नि के सयोग और उष्ण अवस्था का लक्ष्य गौण करके सम्पूर्ण शीतलस्वभाव पर दृष्टि कर सकता है। उष्ण अवस्था वर्तमान मात्रके लिये है, उसका ज्ञान करे और उष्ण अवस्था के समय भी पानी मे शीतलता भरी हुई है यो दोनो प्रकार मानकर गर्म पानी को ठण्डा करे तो शीतलस्वभाव ही रहता है। इसप्रकार पानी के शीतल स्वभाव को जानना सो परमार्थ दृष्टि है और अग्नि के निमित्त से पानी वर्तमान मे उष्ण है, इसप्रकार पर की अपेक्षा से जानना सो व्यवहार है।

भगवान आत्मा वीतराग ज्ञानानन्दघन है वह स्वय उसकी वर्तमान अवस्था मे कर्म के सयोगाधीन होता है तब अज्ञानी यह मानता है कि मैं रागद्वेष पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है किन्तु जो स्वाश्रयी दृष्टिके द्वारा वर्तमान निमित्ताधीन विकारका लक्ष्य गौण करके त्रैकालिक एकरूप निर्मल ध्रुवस्वभाव को वर्तमान मे भी पूर्ण सामर्थ्यरूप अभेदरूप से जानता है सो परमार्थदृष्टि है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध है, स्वाश्रित स्वभाव से त्रिकाल (वर्तमान मे भी) शुद्ध है और पराश्रयरूप व्यवहार से वर्तमान अवस्था मे अशुद्ध भी है। इसप्रकार एक वस्तु में दो प्रकार मानना सो स्याद्वाद है। यदि सब एक ही हो—शुद्ध ही हो और वर्तमान अवस्था में (ससारी जीवो की) भूल—अशुद्धता न हो तो ऐसे उपदेश की आवश्यक्ता ही न

रहे कि समझ को प्राप्त कर भूल को दूर कर अथवा राग को दूर करके निर्मल होगा।

व्यवहारनय अभूतार्थ है इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान अवस्था सर्वथा अयथार्थ है। जो वस्तु है उसका सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु मूल वस्तुरूप में स्थिर रहकर प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था को बदला करती है। अवस्था के परिवर्तन को प्रतिक्षण देखकर यदि कोई उसे भ्रम–माया कहे तो वह गलत है। जो यह कहता है कि रस्सी में सर्प की मान्यता कर लेना भ्रांति है उसे यह भी स्वीकार करना ही होगा कि रस्सी अलग है उसमें सर्प की कल्पना करने वाला अलग है और सर्प अलग है। इसप्रकार तीन भिन्न वस्तुएँ हैं।

प्रत्येक वस्तु भिन्न–भिन्न है। राग-द्वेष करने में पराश्रयरूप अन्य वस्तु की उपस्थिति होती है। एक से अधिक वस्तु हो तभी भ्रांति होती है और तभी दूसरी वस्तु निमित्त कहलाती है।

जैसे अकेला सोना अपने कारण से अशुद्ध नहीं है किन्तु अन्य धातु के आरोप से वर्तमान अवस्था में वह अशुद्ध कहलाता है। इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में अनादिकाल से प्रत्येक समय के प्रवाहरूप से वर्तमान में विद्यमान अवस्था में राग-द्वेष अज्ञानरूप भ्रांति होने का मूल कारण अपना अज्ञान है और उसके निमित्तरूप कर्म अन्यवस्तु है। इसप्रकार पराश्रय से होने वाले विकार को अपना स्वरूप मानना सो अज्ञान है। 'पुण्य-पाप राग-द्वेष वर्तमान में हैं ही नहीं इन्द्रियों के विषय को इन्द्रियां ही भोगती हैं' इसप्रकार अपने को अखण्ड साक्षी ब्रह्मरूप ही एकान्ततः माने तो भी वह अज्ञानी-स्वच्छन्दी कहलायगा। भेदवस्तु हो नहीं तथा मलिनता आत्मा की अवस्था में व्यवहार से भी नहीं है यह कहां से निश्चय किया ? क्रोध मान माया लोभ वासना और राग-द्वेष इत्यादि हैं इसीलिये तो वर्तमान में दिखाई देते हैं यदि वे सर्वथा न हों राग-द्वेष आकुलता वर्तमान अवस्था में भी न हो तो अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होना चाहिये किन्तु वर्तमान अवस्था में वैसा नहीं है। स्वभाव में शक्तिरूप से अनन्त आनन्द है किन्तु

वर्तमान मे वह आनन्द प्रगटरूप मे नही है। यदि वर्तमान मे पूर्ण निर्मल आनन्द प्रगट हो तो कोई पुरुषार्थ करने की, यथार्थ ज्ञान करने की अवस्था राग-द्वेष को दूर करने की आवश्यकता ही न रहे अर्थात् ऐसी किसी भी बात के लिये अवकाश न रहे।

बहुत से जीवो ने अनन्तकाल में कभी भी एक क्षणभर के लिये यथार्थ तत्त्व का विचार नही किया। जैसे पर्वत पर बिजली गिरने से जो दरार पड जाती है वह फिर नही जुड सकती, इसीप्रकार यदि एकबार अपना अनादिकालीन अज्ञान दूर करके ध्रुववस्तु की प्रतीति करे तो ग्रथिभेद हो जाय अर्थात् मिथ्यागांठ का नाश हो जाय। रागद्वेषरूप विकार, पर का कर्तव्य और देहादि की क्रिया का स्वामित्व मानना सो मिथ्यात्व है उसका स्वाश्रय के द्वारा नाश करके त्रैकालिक निर्मल निरपेक्ष अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करे तो फिर कदापि अज्ञान न हो अर्थात् फिर यह कभी नही माना जायगा कि आत्मा और रागद्वेष एक हैं।

यदि वस्तुदृष्टि से देखा जाय तो आत्मा ध्रुवरूप से स्थिर रहता है इस अपेक्षा से वह नित्य है। यदि वर्तमान पर्यायदृष्टि से देखा जाय तो क्रमश अवस्था को बदलने का स्वभाव है, इस अपेक्षा से अनित्य है। इसप्रकार समस्त गुणो को न मानकर एक ही गुण को माने अथवा सभी में एक ब्रह्मरूप वस्तु की सत्ता से अभेदभाव माने तो वह ऐकान्तिक मिथ्या मान्यता है।

सर्वज्ञ के उपदेश में एकपक्षरूप कथन नही है अर्थात् सर्वथा एकान्तशुद्ध, एकान्तअशुद्ध अथवा नित्य या अनित्य इसप्रकार सर्वथा एकान्त न कहकर प्रयोजनवश मुख्य–गौणदृष्टि करके प्रत्येक स्वभाव को यथार्थ बतलाते हैं। आत्मा त्रैकालिक द्रव्यदृष्टि से शुद्ध है और वर्तमान अवस्था में परावलम्बनरूप विकार करता है उतना एक–एक समय की अवस्थारूप से अशुद्ध भी है। इसप्रकार जो स्वाश्रित स्वभाव है सो निश्चय है और पराश्रित भेद सो व्यवहार है। यह दोनो प्रकार जान लेना चाहिये।

'मैं रागी–द्वेषी हूँ पुण्य करने योग्य है देह की क्रिया करने से गुण होता है' इसप्रकार अज्ञानरूप व्यवहार का ग्रहण अर्थात् पराश्रित बन्ध का मिथ्या आग्रह संसारी जीवों के अनादिकाल से चला आरहा है। निर्विकारी अभेद ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने के बाद भी वर्तमान अवस्था में शुभरागरूप भाव दिखाई तो देता है किन्तु उसे सम्यग्दृष्टि रखने योग्य अथवा आदरणीय नहीं मानता। शुभ अशुभ विकार का स्वामित्व अथवा कर्तृत्व मानना उसे सर्वज्ञदेव ने मिथ्यादर्शन शल्य कहा है।

स्वतन्त्ररूप से करे सो कर्ता और कर्ता का इष्ट सो कर्म है। जो आत्मा को देहादि परवस्तु की क्रिया का कर्ता तथा पुण्य-पाप विकार का कर्ता मानता है उसकी मान्यता विकृत है उस विकार का वह माननेवाला स्वयं कर्ता है और विकार उस कर्ता का (कर्म) कार्य है। जिसने अविकारी निर्मल स्वभाव को श्रद्धा में स्वीकार नहीं किया वे अनादिकाल से विकारी कर्तव्य का उपदेश देने वाले हैं।

ज्ञानी का इष्टकर्म ज्ञानभाव है इसलिये आत्मा ज्ञान का ही कर्ता है वह स्वयं अपने अपनी ज्ञानस्वभाव से ज्ञानाकाररूप है इसलिये ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता। जिसे ऐसे स्वभाव की प्रतीति नहीं है वह अज्ञानभाव से यह मानता है कि मैं पर का कर्ता हूँ देहादि की क्रिया कर्ता हूँ पुण्य का सहारा चाहिये ऐसे अशुद्ध व्यवहार को ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियों का संसारपक्ष अनादि से चला आरहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा उपदेश देने वाले और सुनने वाले बहुत होते हैं।

बाह्य क्रिया करने की बात लोगों के मन में जल्दी जम जाती है कि इतनी शारीरिक क्रिया करो व्रत करो दान करो तो धर्म होगा। और फिर वह क्रिया वह थोड़ा त्यागादि सब दिखाई देता है सो मानता है क्योंकि अनादि काल से ऐसा परिचय है इसलिये उन बाह्य बातों का मेल अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के पुराने भाव से झट से कर देता है। और जब उसके आगे बात सुनता है कि पुण्य

से, शुभभाव से त्रिकाल में भी धर्म नही हो सकता, पुण्य विकार है, विकार से अविकारी धर्म कदापि नही हो सकता तो वह चिल्ला उठता है कि अरे रे ! मेरे व्यवहार पर तो पानी फेर दिया। पैसे वालो को दानादि का अभिमान और देह पर दृष्टि रखने वालो को उनकी मानी हुई क्रिया का अभिमान है किन्तु जब वे अपनी मान्यता से विपरीत बात सुनते हैं तब उन्हे बड़े जोर का धक्का लगता है किन्तु फिर भी सत्य को क्यो छुपाया जाय ?

जहाँ देखो वहाँ व्यवहार का झगडा है और जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है ऐसे तत्त्वज्ञान का विरोध दिखाई देता है। सब अपने भाव से स्वतत्र हैं। व्यवहार का झगडा अनादिकाल से ससार-पक्ष मे है और अनन्तकाल तक रहेगा।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि—

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंतरे,
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंतरे ।

परमार्थस्वरूप आत्मा को अविरोधरूप में समझने वाले और उसका उपदेश देने वाले विरले ही होते हैं। पराश्रयरूप व्यवहार का पक्ष—देह की क्रिया हम करें तो हो, समाज में ऐसा सुधार करदें, ऐसा न होने दें, अब बातें करने का समय नहीं है, काम किये बिना बैठे रहने से नही चलेगा। इसप्रकार मानने वाले और कहने वाले अनादि-काल से बहुत से लोग हैं। मानों परवस्तु अपने ही आधीन है और स्वय पर के ही आधार पर अवलम्बित है। जो यह मानता है कि पर मेरा कार्य कर सकता है वह अपने को अशक्त मानता है, उसे अपनी स्वाधीन अनन्त शक्ति का विश्वास नही है, इसलिये वह पराश्रयरूप व्यवहार को चाहता है। व्यवहार करने योग्य है, शुभभावरूप विकार किये बिना अविकारी नही हुआ जा सकता, ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्या आग्रह को जीव ने अनादिकाल से पकड रखा है और ऐसे ही उपदेशको के द्वारा उन बातो को पुष्टि मिला करती है।

"बोये पेड़ बँबूल तो, आम कहाँ से खाय"

सर्वज्ञभगवान ने भी अशुभ से छूटकर परमार्थ वस्तु को समझने में बीच में आनेवाले शुभव्यवहारका उपदेश शुद्धनय में निमित्त मात्र जानकर बहुत किया है किन्तु उसका फल संसार ही है। जीव अन्तरंग तत्त्व की सूक्ष्म बात को तो समझता नहीं और जहाँ बाह्य में व्रत तप आदि शुभभावकी प्रवृत्तिकी बात आती है वहाँ वह अत्यंत प्रसन्न होकर और उत्साहित होकर कहता है कि यह हमारे व्यवहार की बात आई। बाह्य प्रवृत्तिहीन की श्रद्धा और स्थिरता क्या है विकल्प रहित मन के सम्बन्ध से रहित अन्तरंग का धर्म क्या है यह कभी नहीं सुना तो वह समझे कहाँ से ?

भाइयो ! इस मनुष्यभव में उस ज्ञान प्राप्ति का उत्तम सुयोग मिला है जो अनन्तभव के दुःख दारिद्र को दूर कर सकता है। बारं बार ऐसा सुयोग नहीं मिला करता। तू प्रभु है, तुझे अपनी दया नहीं आती ! जन्म-मरण की पराधीनता का अपार त्रास है। बहुत हो चुका ! अब क्षणभर के लिये भी संसार नहीं चाहिये। राग-द्वेष अज्ञान रहित जो सत्स्वरूप है उसी को समझना है उसी में स्थिर होना है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहिये ऐसा निर्णय करके पूर्व मान्यता का आग्रह यथार्थ ज्ञान के द्वारा छोड़कर निर्दोष सत्समागम से स्वरूप को समझना चाहिये। अपनी तैयारी के बिना आन्तरिक उत्साह के बिना क्या हो सकता है ? जिनवाणी में अशुभ से बचने के लिये शुभ का उपदेश दिया गया है किन्तु उस शुभ की मर्यादा पुण्यबन्ध तक ही सीमित है।

व्यवहार भेद करने के लिये नहीं है किन्तु जो परमार्थस्वरूप वीतरागी निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप है उसे पकड़कर उसमें स्थिर होने के लिए है ऐसा ध्येय पहले से ही होना चाहिये। परनिमित्त के भेद से रहित अन्तरंग में वस्तु परिपूर्ण है। यदि यह समझले तो यह कहा जा सकता है कि बीच में आनेवाला व्यवहार (शुभराग) उपचार से निमित्तरूप से उपस्थित था किन्तु शुभराग तो संसार ही है शुभके फल

से बड़ा देव हो या राजा हो और अशुभ के फल से भले ही नरक का नारकी हो, वे दोनो ससारपक्ष की अपेक्षा से समान ही हैं, इसलिये शुभभावरूप व्यवहार से भी आत्मा को कोई लाभ नही है ऐसा जान लेने पर भी व्यवहार आयेगा, किन्तु यदि उसमें धर्म माने तो वह श्रद्धा मिथ्या है।

प्रथम भूमिका में भी साधारण सज्जनके योग्य अच्छा आचरण तो होता ही है। ब्रह्मचर्य के प्रति प्रीति होती है, अनीतिका त्याग होता है, सत्य का आदर होता है, किन्तु यह सब कुछ अपूर्व नही है ऐसा तो अनन्तवार चित्तशुद्धि का कार्य करके और उसीमे सब कुछ मानकर जीव अटक गया है तथापि उसका (शुभ का) निषेध नही है। क्योंकि जो तीव्र क्रोध मान माया लोभ मे फँसा हुआ है उसके अन्तरग मे बिल्कुल अविकारी सच्चिदानन्द भगवान आत्मा की बात कैसे जम सकती है ? इसलिये पहले अविरोधी तत्त्व को समझने की पात्रता के लिये शुभ व्यवहार के आँगन में आना चाहिये, किन्तु यदि शुभ मे ही रत होकर उसकी अपेक्षा से रहित, निर्मल अविकारी स्वभाव की श्रद्धा न करे तो चित्तशुद्धि के उस शुभव्यवहार का फल ससार ही है जिसे जीव अनन्तवार कर चुका है।

निरावलम्बी तत्त्व की दृष्टि होने के बाद जबतक वीतराग नही हो जाता तबतक अशुभ से बचने के लिये शुद्धदृष्टि के लक्ष्य से युक्त व्रत, तप, पूजा, भक्ति, प्रभावना इत्यादि शुभभाव सम्बन्धी प्रवृत्ति मे ज्ञानी भी लगता है, परन्तु जो उस शुभभाव मे ही धर्म मानता है अथवा यह मानता है कि उसके द्वारा गुण प्रगट होते हैं वह ससार में परिभ्रमण करता है।

जीव को कभी शुद्धनय का पक्ष नही हुआ। पर का आश्रय, उपाधि अथवा विकार मुझमें नही है, मैं अविनाशी अखण्ड ज्ञाता-दृष्टा हूँ ऐसे शुद्धनय से जीव ने शुद्धस्वभाव की दृढता कभी अनन्तकाल में भी नही की। मैं परनिमित्त के सम्बन्ध से रहित अकेला स्वतन्त्रतया पूर्ण

ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी श्रद्धा का बल कभी अन्तरंग में उद्भूत नहीं हुआ।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु! तुझे अपनी ही बात समझ में न आये यह कैसे हो सकता है!! कभी अन्तरंगमें परमार्थ से हिताहित का निर्णय नहीं किया, उसका उपदेश भी प्राय नहीं मिलता क्वचित् कदाचित् परमार्थ का उपदेश होता है किन्तु जगत् का बहुभाग बाह्य प्रवृत्ति में पुण्य की शुभ क्रिया में ही धर्म मानता है।

इस जगह पर पाँच हजार रुपया खर्च कर दिये जावें तो धर्म लाभ होगा यदि रथयात्रा या समयात्रा निकाली जाय तो महती धर्म प्रभावना होगी इसप्रकार बाह्य में रुपये-पैसे से धर्म की मान्यता बना लेते हैं अर्थात् आत्मा को जड़ का कर्ता मान लेते हैं किन्तु सच तो यह है कि बाहर की एक भी क्रिया अथवा संयोग-वियोग आत्मा के आधीन नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। अनन्त पुद्गल परमाणु सब स्वतंत्र हैं और आत्मा भी स्वतंत्र है एक दूसरे का कुछ कर नहीं सकता।

उपसंहार

कोई कहता है कि यदि ऐसा माना जायगा तो दान सेवा औषधालय इत्यादि परोपकारके कार्य कोई नहीं करेगा। किन्तु वह यह नहीं जानता कि कोई किसी का कर ही क्या सकता है? जिस समय जो कुछ होना होता है वह होता ही रहता है उसमें अज्ञानी यह मान लेता है कि मैंने किया। ज्ञानी के तृष्णा को कम करने का जैसा शुभभाव होता है वैसा अज्ञानी नहीं कर सकता। बाह्य के संयोगानुसार तृष्णा कम या बढ़ नहीं होती किन्तु अपने भाव में अपने आप से ही तृष्णा को घटाबढ़ी स्वयं होती रहती है।

ऐसी सूक्ष्म बात कोई मनुष्य नहीं समझ पाता इसलिये वह कहता है कि रुपये-पैसे से धर्म होता हो तो बताइये मैं पच्चीस-पचास हजार रुपया खर्च करने को तैयार हूँ क्योंकि वह जानता है कि इतना रुपया खर्च कर देने पर भी मेरे पास उससे कहीं अधिक सम्पत्ति शेष

रह जायगी । किन्तु इससे तो वह परवस्तु मेरी है, मैने दूसरे को वह दी, इसप्रकार पर का स्वामित्व बनाकर कर्ता होता है। जबतक वह पर के कर्तृत्व की मान्यता को नही छोडेगा तबतक वह अज्ञानभाव-बधनभाव है। कुछ लोग कहते हैं कि मैं आसक्ति रहित और फल की इच्छा के विना यह क्रिया करता हूँ, किन्तु उसने जो यह माना है कि मै पर का कुछ कर सकता हूँ यही पर के ऊपर की अनन्त आसक्ति है।

ज्ञानी के शुभराग का भी आदर नही होता तथापि उक्तप्रकार का शुभराग होता है। जहाँ ऐसी भावना होती है कि परमाणु मात्र भी मेरा नही है वहाँ तीव्र तृष्णा हो ही नही सकती। गृहस्थ दशा में ज्ञानी होगा तो वह दान, पूजा, प्रभावना इत्यादि मे स्वभाव की प्रतीति के साथ तृष्णा को कम करके स्वभाव के प्रति सतोष बढ़ायेगा, अज्ञानी ऐसा कदापि नही कर सकेगा। अज्ञानी के पर का स्वामित्व है, इसलिए वह यदि पाँच हजार रुपये खर्च करेगा तो पर के अभिमान को लेकर वह यही गीत गाया करेगा कि मैंने पाँच हजार रुपया खर्च किये हैं। किन्तु जब ज्ञानी तृष्णा को कम करता है तब यदि कोई उससे कहे कि 'आपने बहुत बडा दान किया' तो वह मानेगा कि मुझे तो इसने जड पदार्थ का स्वामी बना दिया, यह तो उसके लिये गाली देने के समान हुआ। ज्ञानी समझता है कि रुपया-पैसा मेरा था ही नही, जिसे लोग दान कहते हैं वह (रुपया) तो अपने ही कारण से गया है, वह मात्र जड की क्रिया हुई है, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ।

मैं निर्ममत्व, ज्ञाता-दृष्टा के रूप में—ज्ञातास्वरूप हूँ, तृष्णा रहित स्वभाव के लक्ष से तृष्णा को कम करके राग हीन करके समता की, वह भाव मेरा था। इसप्रकार ज्ञानी किसी बाह्य प्रवृत्तिमें स्वामित्व नही मानता, पर की क्रिया को अपना कर्तव्य नही मानता। अशुभभाव दूर करने पर जो शुभभाव रहता है वह भी मेरा भाव नहीं है, इसप्रकार धर्मी तो अविकारी धर्म का ही कर्ता रहता है, वह विकार का कर्ता कभी नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि इतनी सूक्ष्म बातें सुन समझकर हमें इतनी गहराई में उतरने का क्या काम है राग-द्वेष ही तो दूर करना है न ? तो जिस पर राग होता हो उस वस्तु का त्याग करदो इससे राग भी दूर हो जायगा। किन्तु भाई ! रागरहित निरावलम्बी तत्त्वके अस्तिस्वभाव को यथार्थ जाने बिना 'त्याग करो राग को दूर करो' ऐसा कहने वाले नास्ति से (निज लक्ष्य के बिना—पर लक्ष्य से) अनित्य संयोगाधीन दृष्टि करके सन्तुष्ट हुये हैं उनके वास्तव में राग का अभाव नहीं होगा। बहुत होगा तो मंदकषाय करेंगे, जिससे पुण्यबन्ध होगा। पर लक्ष्य से राग को कम करना चाहता है अर्थात् बाह्यक्रिया से गुण मानता है कि मैंने ऐसा किया इतना त्याग किया इतनी प्रवृत्ति की इसलिये इतने गुण प्राप्त किये, किन्तु क्या तुझमें गुण नहीं हैं। भीतर पूर्ण पवित्ररूप अनन्तगुण भरे हुए हैं उनका विश्वास कर तो उन अखण्ड गुणों के बल से निर्मलता प्रगट होगी।

निरावलम्बी ध्रुव एकरूप परमार्थ ज्ञानस्वरूपकी दृढ़तारूप स्वाश्रय का पक्ष जीव ने कभी नहीं किया। लोगों को अन्तरंग सूक्ष्म तत्त्व की रुचि नहीं है इसलिये बाह्यचर्चा को सुनने के लिये बहुत से लोग इकट्ठे हो जाते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान सम्बन्धी बात जल्दी नहीं समझते। शुभ करनी के बिना पुण्य का आधार लिये बिना धर्म नहीं होता पुण्य तो आवश्यक है ही। साधन की अनुकूलता के बिना धर्म नहीं होता ऐसी पराश्रय की बातें घर-घर सुनने को मिलती हैं किन्तु उस सब लौकिक व्यवहार को छोड़कर गुण गुणी का विचार करते हुए मन के सम्बन्ध से शुभ-विकल्प होता है वह भी मेरा नहीं है इस प्रकार व्यवहार को गौण करके मात्र अखण्ड परमार्थ ध्रुवस्वभाव को लक्ष्य में लेने का उपदेश बहुत विरल है क्वचित् कदाचित् ही मिलता है इसलिये उपकारी श्री गुरुदेव ने ऐसे शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश मुख्यता से दिया है।

अशुभभाव से बचने के लिए तो शुभ का अवलम्बन ठीक है किन्तु उस शुभभाव के द्वारा तीनलोक और तीनकाल में भी धर्म नहीं

हो सकता। यहाँ तो मान्यता को बदलवाने का उपदेश है। धर्म आत्मा का अविकारी स्वभाव है, उस स्वभाव को गुरु के द्वारा जानकर, यथार्थ ज्ञान का अभ्यास करके, विपरीत धारणा का त्याग करके तथा यह मानकर कि मै विकार का कर्ता नही हूँ, पुण्य के शुभ विकल्प मेरे स्वभाव में नही हैं तथा वह मेरा कर्तव्य भी नही है, ऐसा मानकर निर्मल पर्याय के भेद का लक्ष गौण करके अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभावको श्रद्धा के लक्ष मे लेना सो शुद्धनय का विषय है और उसका फल मोक्ष है। शुद्धनय का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होने से पूर्व की है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक हो हूँ, पर का स्वामी अथवा कर्ता-भोक्ता नही हूँ, शुभ या अशुभ विकार मात्र करने योग्य नही है, इसप्रकार स्वभाव की अपूर्व प्रतीति गृहस्थ दशा मे हो सकती है। चाहे बडा राजा हो या साधारण गृहस्थ, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्ष का बालक, किन्तु सभी अपने अपने स्वभाव से स्वतत्र पूर्ण प्रभु हैं, इसलिये अन्तरग में स्वभाव की प्रतीति कर सकते हैं।

जहाँ तक जीव व्यवहारमग्न है और बाह्य साधन से धर्म मानता है, क्रियाकाण्ड की बाह्य प्रवृत्ति से गुण मानता है वहाँ तक पर से भिन्न अविकारी अखण्ड आत्मा निरावलम्बी है ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्मा के ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नही हो सकता।

इस विषय का विशेष श्रवण-मनन करना चाहिये और परमार्थ निर्मल वस्तु का निरन्तर बहुमान होना चाहिये। अपनी सावधानी, उत्साह और पुरुषार्थ के बिना अपूर्व फल प्राप्त नहीं होता।

बारहवीं गाथा की भूमिका

जो परमार्थ से आदरणीय नही है तथापि परमार्थ में जाते हुये बीच में आजाता है वह व्यवहारनय किसी-किसी को किसी समय प्रयोजनवान है, यह बात यहाँ कहते हैं।

पर-निमित्त के भेद से रहित एकरूप अखण्ड वस्तु को लक्ष्यमें लेना सो निश्चय (परमार्थ) है और वीतराग, अविकारी पूर्णशुद्ध दृष्टि

के अभेद विषय के बल से राग को दूर करके अंशतः अन्तरंग में स्थिरता-लीनता करना सो व्यवहार है। शुभभाव असद्भूत व्यवहार है। और जो आंशिक निर्मलता बढ़ती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चय का विषय एकरूप श्रद्धा करना है उसमें साधक-साध्य जैसे निर्मल पर्याय के भेद नहीं हैं।

पूर्ण निर्मलदशा प्राप्त होने से पूर्व अल्प समयके लिये व्यवहार आये बिना नहीं रहता। यदि इसप्रकार न माने तो उसे साधकभाव की खबर नहीं है। किसी भी यथार्थ प्रतीतिके साथ ही यदि अंतमुहूर्त के लिये ध्यान में स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त करे तो उसमें भी बीच में निर्मलता के घोलन-मनन का सूक्ष्म विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

अभेद स्वभावी द्रव्यका बल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके प्रारंभ का और पूर्णता का कारण है। जिन्हें मोक्ष जाने में विलंब होता है वे अकषायदृष्टि सहित शुभराग में अर्थात् पूजा भक्ति स्वाध्याय ध्यान इत्यादि में रुक जाते हैं। एतावन्मात्रेण व्यवहार किसी किसी के किसी समय होता है किन्तु वह वीतरागता के लिए कारणभूत नहीं होता। किसी समय कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्म-प्रतीति की भूमिका में निरन्तर ध्यान में नहीं रह सकता इसलिये यह व्यवहार आये बिना नहीं रहता किन्तु जब अभेद स्व-विषय करके ध्याता ध्यान और ध्येय के विकल्प से कुछ छूटकर अन्तरंग में एकाग्र (स्वभाव में लीन) होता है उस समय शुभभावरूप व्यवहार नहीं होता। अर्थात् अभेददृष्टि में स्थिरताके समय भेदरूप विकल्प छूट जाते हैं। जब आन्तरिक स्वरूप में लीनता-स्थिरता है तब व्यवहार नहीं है। निश्चय दृष्टि में व्यवहार अभूतार्थ है।

सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड ध्रुवस्वभाव है उसकी यथार्थ प्रतीति के साथ जब आत्मा एकाग्र होता है तब अभेद आनन्द का अनुभव होता है उस समय सिद्ध परमात्मा के समान अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद मिलता है।

सम्यग्दृष्टि पुण्य-पाप के कर्तव्य को अपना नही मानता। मैं पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकार का नाशक हूँ, जड परमाणु मात्र मेरा नही है, मै पर का स्वामी नही हूँ, परमार्थ से मै पुण्य-पाप रागादि का कर्ता नही हूँ, इसप्रकार स्वभाव की अखण्ड प्रतीति अन्तरग से गृहस्थ दशा मे भी सम्यग्दृष्टि के होती है।

जो शुभवृत्ति उठती है वह आत्मा के लिये लाभकारक नही है, सहायक नही है किन्तु सम्यग्दर्शन होने से पूर्व और सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्र मे स्थिर होने से पहले अशुभभावो को दूर करने के लिये शुभभावो का अवलम्बन आता है उसे व्यवहार कहा जाता है।

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, और उनके द्वारा कहे गये मिथ्या धर्म की श्रद्धा का त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहे गये धर्म का आदर सर्वप्रथम होना चाहिये। जबतक सत्यकी ओर की भक्ति जागृत नही होती तबतक परमार्थस्वभाव की महिमा नही आती। पहले तृष्णा मोह ममता को कम करके राग की दिशा की ओर से करवट बदल लेना चाहिये। तीव्र क्रोधादि कषाय को मन्द करके, सच्चे देव शास्त्र गुरु की पहिचान करके, उसके प्रति बहुमान करके, रुचि पूर्वक श्रवण मनन के द्वारा अतरग मे स्वाधीन परमार्थ का विचार करना चाहिये। जो पहिले शुभभाव नहीं करता उसे सम्यग्दर्शन नही होता, किन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि शुभभाव सम्यदर्शन का कारण है।

सच्चे देव गुरु शास्त्र और नवतत्त्वों की पहिचान करके तथा उस ओर शुभभाव को लगाकर राग को सूक्ष्म करके अन्तरगके आँगनमें आये बिना सम्यग्दर्शन नही होता। किन्तु शुभभाव–चित्तशुद्धि से भी सम्यग्दर्शन नही होता। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व शुभ व्यवहार आता तो है किन्तु यदि श्रद्धा मे उसका अभाव करे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब शुभ को उपचार से निमित्त कहा जाता है।

के अभेद विषय के बल से राग को दूर करके अंशतः अन्तरंग में स्थिरता-लीनता करना सो व्यवहार है। शुभभाव असद्भूत व्यवहार है। और जो आंशिक निर्मलता बढ़ती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चय का विषय एकरूप श्रद्धा करना है उसमें साधक-साध्य जैसे निर्मल पर्याय के भेद नहीं हैं।

पूर्ण निर्मलदशा प्राप्त होने से पूर्व अल्प समयके लिये व्यवहार आये बिना नहीं रहता। यदि इसप्रकार न माने तो उसे साधकभाव की खबर नहीं है। किसी भी यथार्थ प्रतीतिके साथ ही यदि अंतर्मुहूर्त के लिये ध्यान में स्थिर होकर केवलज्ञान को प्राप्त करे तो उसमें भी बीच में निर्मलता के घोलन-मनन का सूक्ष्म विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

अभेद स्वभावी द्रव्यका बल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके प्रारंभ का और पूर्णता का कारण है। जिन्हें मोक्ष मार्ग में विलंब होता है वे सकषायदृष्टि सहित शुभराग में अर्थात् पूजा भक्ति स्वाध्याय ध्यान इत्यादि में रुक जाते हैं। एतावन्मात्रेण-व्यवहार किसी किसी के किसी समय होता है किन्तु वह वीतरागता के लिए कारणभूत नहीं होता। किसी समय कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्म-प्रतीति की भूमिका में निरन्तर ध्यान में नहीं रह सकता इसलिये यह व्यवहार आये बिना नहीं रहता किन्तु जब अभेद स्व-विषय करके ध्याता ध्यान और ध्येय के विकल्प से छूट छूटकर अन्तरंग में एकाग्र (स्वभाव में लीन) होता है उस समय शुभभावरूप व्यवहार नहीं होता। अर्थात् अभेन्दृष्टि में स्थिरताके समय भवरूप विकल्प छूट जाते हैं। जब आन्तरिक स्वरूपमें लीनता-स्थिरता है तब व्यवहार नहीं है। निश्चय दृष्टि में व्यवहार अभूतार्थ है।

शुद्धनय का विषय अखण्ड ध्रुवस्वभाव है उसकी यथार्थ प्रतीति के साथ जब आत्मा एकाग्र होता है तब अभेद आनन्द का अनु भव होता है उस समय सिद्ध परमात्मा के समान अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद मिलता है।

सम्यग्दृष्टि पुण्य-पाप के कर्तव्य को अपना नही मानता। मै पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकार का नाशक हूँ, जड परमाणु मात्र मेरा नही है, मैं पर का स्वामी नही हूँ, परमार्थ से मैं पुण्य-पाप रागादि का कर्ता नही हूँ, इसप्रकार स्वभाव की अखण्ड प्रतीति अन्तरग से गृहस्थ दशा में भी सम्यग्दृष्टि के होती है।

जो शुभवृत्ति उठती है वह आत्मा के लिये लाभकारक नही है, हायक नही है किन्तु सम्यग्दर्शन होने से पूर्व और सम्यग्दर्शन होने के ाद चारित्र मे स्थिर होने से पहले अशुभभावो को दूर करने के लिये ुभभावो का अवलम्बन आता है उसे व्यवहार कहा जाता है।

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, और उनके द्वारा कहे गये मिथ्या धर्म ी श्रद्धा का त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सर्वज्ञ वीतराग के ारा कहे गये धर्म का आदर सर्वप्रथम होना चाहिये। जबतक सत्यकी ओर की भक्ति जागृत नही होती तबतक परमार्थस्वभाव की महिमा नही आती। पहले तृष्णा मोह ममता को कम करके राग की दिशा की ओर से करवट बदल लेना चाहिये। तीव्र क्रोधादि कषाय को मन्द करके, सच्चे देव शास्त्र गुरु की पहिचान करके, उसके प्रति बहुमान करके, रुचि पूर्वक श्रवण मनन के द्वारा अतरग मे स्वाधीन परमार्थ का विचार करना चाहिये। जो पहिले शुभभाव नही करता उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि शुभभाव सम्यदर्शन का कारण है।

सच्चे देव गुरु शास्त्र और नवतत्त्वो की पहिचान करके तथा उस ओर शुभभाव को लगाकर राग को सूक्ष्म करके अन्तरगके आंगनमें आये बिना सम्यग्दर्शन नही होता। किन्तु शुभभाव–चित्तशुद्धि से भी सम्यग्दर्शन नही होता। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व शुभ व्यवहार आता तो है किन्तु यदि श्रद्धा में उसका अभाव करे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब शुभ को उपचार से निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वामित्व रखकर पर का कर्ता होता है और ज्ञानी 'मैं पर का कुछ नहीं कर सकता' इसप्रकार साक्षीभाव से मात्र ज्ञाता रहता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद ज्ञानी जब निम्न भूमिका में अधिक कालतक स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता तब विकल्पदशा में अशुभ से बचने के लिये तत्त्व के विचार श्रवण मनन इत्यादि में और संसार के विकल्प में भी कभी युक्त होता है तथापि यह कभी नहीं मानता कि मैं इस शुभाशुभ प्रवृत्ति का कर्ता हूँ इससे मुझे लाभ होगा।

जिसे अन्तरंग से तत्त्व को समझने के प्रति उत्साह नहीं है वह अपने को शक्तिहीन मानकर कहा करता है कि 'मैं इस तत्त्व को नहीं समझ सकता' किन्तु सर्वज्ञभगवान ने अपने साक्षात् केवलज्ञान में समस्त जीवों को सिद्ध समान देखकर स्पष्ट कहा है कि तू भी मेरे ही समान सिद्ध है इसलिये इन भावों को हटा दे कि मैं इस तत्त्वको नहीं समझ सकता।

सर्व जीव हैं सिद्धसम जो समझे सो होय'

अनादिकालीन अज्ञानको दूर करके एक समय में सबको जान लेने की शक्ति प्रत्येक जीव में प्रतिसमय विद्यमान है किन्तु उसे प्रगट करने के लिये पहले का धारण किया हुआ विपरीत आग्रह छोड़ देना चाहिये।

जैसे नारियल (श्रीफल) में जटा होती है बक्कल होता है और भीतर ऊपर की लालरंग की पतली खाल होती है किन्तु यह सब उस मीठे सफेद गोले से भिन्न है यथार्थ में तो भीतरका वह सफेद गोला ही खोपरा है इसीप्रकार स्थूल शरीररूपी जटा तैजसरूपी खाल और कर्मरूपी बक्कल आत्मा के नहीं हैं। और वर्तमान राग-द्वेषरूपी ललाई भी दूसरे की ओर की है वह आत्मा की नहीं है भगवान आत्मा तो ज्ञानानंद अनंतगुण का रसकंद है। त्रैकालिक एकरूप अखण्ड ज्ञान शक्ति से पूर्ण है इसप्रकार की श्रद्धा जबतक न करे तबतक धर्म का अंश भी नहीं होता। जबतक नारियल में गीलापन है तबतक भीतरका गोला उससे पृथक नहीं होता और तबतक गोले की ओर की चिकाश

को गौणरूप से लक्ष्य में रखना पडता है । इसीप्रकार शुद्ध द्रव्यदृष्टि मे पूर्ण कृतकृत्य परमात्मा हूँ ऐसा अखण्ड तत्त्व का विषय श्रद्धा में लिया, तथापि उसके साथ ही सम्पूर्णतया राग-द्वेष दूर नही होजाता क्योकि चारित्र की अपेक्षा से कचास मौजूद है, इसलिये स्थिर नही हो सकता । वहाँ शुभभाव का अवलम्बन करना होता है इसलिये उसे असद्भूत व्यवहार कहा जाता है । वह व्यवहार राग है और इसीलिये वीतरागता नही होती ।

सम्यग्ज्ञान होते ही जीव पूर्ण निर्मल नही हो जाता, बीच मे विकल्प आते हैं इसलिये पूर्ण निर्मलता को प्रगट करने की भावना करना, स्थिरता की वृद्धि करना, इत्यादि जो व्यवहार—साधकभाव है वह पूर्ण होने से पहले न रहे ऐसा नही होता ।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।१२।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥ १२ ॥

अर्थ—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्ण ज्ञान—चारित्रवान हो गये हैं उन्हे शुद्ध आत्मा का उपदेश देनेवाले शुद्ध-नय को जानना चाहिये । और जो जीव अपरमभाव से अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान—चारित्र के पूर्णभाव को नही पा सके, जो कि साधक अवस्था मे ही स्थिर हैं वे व्यवहार के द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा—ज्ञान—चारित्ररूप हो गये हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजनभूत है क्योकि उनके पूर्ण होनेका विकल्प नही रह गया है, किन्तु जिसने पूर्ण निर्मल की श्रद्धा की है और जो साधकदशारूप मध्यमभाव का अनुभव करता है उसे राग को दूर करके क्रमश आशिक स्थिरताको बढानेका व्यवहार प्रयोजनभूत है ।

पुण्य शुभभाव है और पाप अशुभभाव है, किन्तु वे दोनो (शुभ—अशुभ) अशुद्धभाव हैं । उनसे रहित निर्मल, शुद्ध, अखण्डानद

की श्रद्धा करके पूर्ण ध्रुवस्वभाव का विषय (लक्ष्य) जिनने किया है, किन्तु जो पूर्ण चारित्रदशा को प्राप्त नहीं हुए, मध्यमदशा (चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक) में वर्तमान हैं वे जब स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकते तब उनके शुभ भावरूप व्यवहार होता है किन्तु उस शुभभावके अवलम्बन से गुण प्रस्फुटित नहीं होता। परमार्थ की रुचि से ही आगे बढ़ा जा सकेगा—ऐसी मान्यता से गुण प्रस्फुटित होता है। मन—वाणी—देह तथा पुण्यके शुभभाव की अपेक्षा से रहित सम्यकदर्शन होने से पूर्व की यह बात है। सम्यकदर्शन होने से पहले भी ऐसा अभिप्राय होना चाहिये।

तत्त्व की यथार्थ प्रतीति होने पर अन्तरंग में जो आंशिक स्थिरता प्रगट होती है उसे श्रावक की पाँचवीं भूमिका कहते हैं। शुद्ध दृष्टि के बल से तीन कषायों की चौकड़ी का अभाव करके अन्तरंग में चारित्र की विशेष स्थिरता प्रगट करने वाली मुनि दशा छट्ठे गुणस्थान में होती है और उसमें विशेष स्थिरता एकाग्रता निर्विकल्प ध्यानदशा सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थान में मुनि के होती है। उससमय बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं होता "मैं अनुभव करता हूँ आनन्द लेता हूँ" ऐसा विकल्प नहीं होता वह तो अन्तरंग में स्वरूप अखण्ड आनन्द अनुभव करते हैं। वे जब सविकल्प दशा में होते हैं तब (छट्ठे गुणस्थान में) तत्त्व का मनन शिष्य को उपदेश देना शास्त्रों की रचना करना इत्यादि शुभ व्यवहार तथा आहारादि सम्बन्धी विकल्प बीच में आजाते हैं।

जो पूर्ण वीतरागी हो चुके हैं उनके व्यवहार नहीं होता विकल्प नहीं होता किन्तु छद्मस्थ के पूर्ण निर्मल दशाके लिये ध्यान करते हुए जब वह सीधा एकाग्र नहीं रह सकता तब शुभभावरूप व्यवहार आजाता है। जैसे किसी मंजिल पर जाने के लिये जब कुछ सीढ़ियाँ चढ़ लेते हैं तब मंजिल दिखाई देती है और मंजिल में क्या क्या है वह सब देखने पर उसका यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु मंजिल पर पहुँचे बिना वहाँ की वस्तुओं का साक्षात् पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता इसलिये मंजिल पर जाते हुए बीच की सीढ़ियों को छोड़ने के

लिये ही ग्रहण किया जाता है। इसीप्रकार चौथे गुणस्थानमे पहुँचने पर आत्मा की ज्ञान दर्शन सुख समृद्धि की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान होता है और पूर्ण स्वभाव के लक्ष से आशिक अनुभव होता है, किन्तु पूर्ण साध्यदशा तक पहुँचने का व्यवहार शेष रह जाता है। चौथे गुणस्थान मे पूर्ण अखण्ड साध्य वस्तु की सीधी और सच्ची दृष्टि तो होजाती है किन्तु अभी वह प्रगटरूप से पूर्णसाध्य दशा को नही पहुँच सका, इसलिये वहाँ बीच मे अस्थिरता के भेदो को उलघने के लिये शुभ व्यवहार का अवलबन आये बिना नही रहता। किन्तु वे सब भेद (मलिनता के भाव और निर्मलता के अश) छोडने योग्य है। इसप्रकार पहले से ही जान लिया था इसलिये ऐसा होते समय भी यथावत् जानता है। दृष्टि अखण्ड निश्चय पर है, उसमे बीच में साधक भाव के और विकार के —ो भेद होते हैं वह भेदरूप व्यवहार अभेदका कारण नही है। स्थिरता-प चारित्र की निर्मल अभेद दशा उस भेद से (व्यवहार से) प्रगट ही होती, किन्तु अखण्ड के बल से निर्मलता बढती है। अनन्त आनंद ा रसपिंड भगवान आत्मा है, इसकी यथार्थ श्रद्धा करके, विकल्प से छूटकर जब अन्तरग में स्थिर होता है तब पूर्ण का लक्ष होते ही पूर्ण की जाति के आशिक आनन्द का अनुभव होता है।

सिद्ध भगवान को जैसा अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द होता है उसीप्रकार के आनन्द का अश चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्दर्शन के होते समय ही होता है। उसके बाद भी किसी-किसी समय चौथे—पाँचवें गुणस्थान मे अनुभव करते हुये—अभेद एकाकार होते हुए वैसा आशिक आनन्द आता है।

जैसे किसी को उत्तराधिकार में कोई मकान मिला हो और वह उसका मालिक हो गया हो तब उसे उस मकान का स्वय उपयोग करने के लिये वहाँ का मात्र कूडा—कचरा ही साफ कराना शेष रह जाता है, इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि जीव को पूर्ण अखण्ड-निर्मल केवलज्ञान का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है, त्रैकालिक ध्रुव अखड ज्ञान का स्वामी हुआ है अर्थात् उसने श्रद्धा में इसका निश्चय कर लिया है कि मैं निरावलबी

निर्मल परिपूर्ण है किन्तु जबतक वह उसके अनुसार स्थिर नहीं हो जाता तबतक उसे क्रमश मलिनता (राग-द्वेषरूपी कूड़ा-कचरा) को दूर करने के लिए प्रयत्नपूर्वक के बल से स्थिरता करनी शेष रह जाती है। उसमें जो निर्मलता के अंश बढ़ते हैं वे सब तथा जो बीच में शुभ भाव आते हैं वह सब व्यवहार है। और समस्त ध्रुव स्वभाव को अभिन्नरूप से पूर्णस्वरूप से लक्ष में लेना सो निश्चय है।

टीका—जो पुरुष अन्तिम ताव से निकले हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तुके उत्कृष्ट भावका अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम द्वितीय आदि अनेक तावों के परम्परा में पकाए जानेवाले अशुद्ध स्वर्ण की भाँति अपूर्ण साधकभाव की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध स्वर्ण के अर्थीको पहले से ही ध्यान होता है कि सोना तांबारूप अथवा किसी अन्य पर धातुरूप नहीं हुआ वर्तमान अवस्था में पर-धातु के आरोप से अशुद्धत्व कहलाता है उस समय भी खोटवाले सोने के शुद्ध स्वभाव की उत्कृष्टता पर लक्ष रखकर मलिनता को दूर कर देता है। जब कि सोना सम्पूर्ण निर्मल-खोटरहित हो जाता है तब फिर उसे भट्टी के पाकरूप व्यवहार की आवश्यकता नहीं रहती इसीप्रकार शुद्ध आत्मा की प्रतीति होने से पूर्व वर्तमान अपूर्ण अवस्थाके समय त्रैकालिक पूर्ण ध्रुव स्वभावकी श्रद्धा करके पूर्ण निर्मलता प्रगट करने के लिये ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा अन्तरंग में जो एकाग्र होना पड़ता है सो व्यवहार है। देह की क्रिया में पुण्य में शुद्ध के लक्ष से रहित मात्र शुभराग में व्यवहार नहीं है किन्तु अविकारी अखण्ड की श्रद्धा के बल से विकल्प टूटकर अंतरंग में ध्रुव स्थिरता के अंश बढ़ते हैं वह चारित्र सद्भूत व्यवहार है। श्रद्धा के निश्चय अभेद विषय में सम्पूर्ण भेदों का निषेध है।

निश्चय शुद्ध अखण्ड ज्ञायक स्वभाव अविकारी पूर्ण है उसकी श्रद्धा करके उसमें स्थिर होकर जो पूर्ण वीतराग हो गये हैं वे उत्कृष्ट स्वर्ण के अनुभव की भाँति पूर्ण अभिन्न रागरहित-वीतराग हैं, किन्तु जिन्हें पूर्ण की श्रद्धा तो है किन्तु चारित्र नहीं है उन्हें पूर्ण निर्मलदशा (जो अपनी निज वस्तु में ही शक्तिरूप से विद्यमान है) को प्रगट करने

के लिये चारित्र की स्थिरता करने का व्यवहार ध्यान विचार मननरूप से रहता है।

जैसे शुद्ध स्वर्ण के प्राप्त होनेपर सौटच से कमके सोने की चाह नही रहती उसीप्रकार जिसे पूर्ण केवलज्ञानदशा प्राप्त हुई है उसे अपूर्ण निर्मल अशो के भेद की आवश्यक्ता नही रहती।

पूर्ण अविचल एक स्वभावरूप एकभाव केवलज्ञानी वीतरागी के प्रगट हो चुका है, उनने भी श्रद्धा मे पहले ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव को लक्ष मे लिया था, उनकी मान्यता मे पुण्य-पाप के विकारका कर्तृत्व—आश्रियत्व नही था, पहले से ही व्यवहार का आदर नही था, पश्चात् पूर्णदशा प्राप्त होनेपर निमित्तरूप से भी नही रहता, तथापि साधक-भाव मे वीच में व्यवहार का वलपूर्वक अवलम्वन आजाता है, जो कि आगे कहा जायेगा।

आत्मा निरपेक्ष निर्विकार ध्रुव वस्तु है, उसमें बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाभेद तथा दर्शन—ज्ञान—चारित्र आदि गुण—भेदों का ज्ञान करके ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये कि—त्रैकालिक ध्रुव पूर्णस्वरूप वर्तमान में भी अखण्ड है, यह प्रारभिक मुख्य धर्म है, पश्चात् पूर्ण स्थिरता करने में जितनी भूमिका की निर्मलता बढे उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है।

जो पुरुष पहले दूसरे तीसरे इत्यादि अनेक तावो की परपरा से पकनेवाले अशुद्ध स्वर्णके समान वस्तु की अनुत्कृष्ट मध्यमभाग—साधक-भाव की स्थिरता का अनुभव करते हैं उन्हे अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान पूर्ण केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट साध्यभाव का अनुभव नही होता।

'राग को दूर करके स्थिरता करूं' इसमे मनका सयोग और पर की अपेक्षा होती है, वह अशुद्ध अवस्था वर्तमान में होती है। राग का अमुक अश मे दूर होना और अमुक अश में रहना तथा अशतः स्थिरता की वृद्धि होना सो व्यवहार है। भिन्न—भिन्न भूमिकाके अनुसार अनेक प्रकार से और पूर्व अवस्था से भिन्न—भिन्न भावरूप से जिसने

भिन्न-भिन्न (उत्पाद व्ययरूप) एक-एक भाव स्वरूप अनेकभाव दिखाए हैं ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आया हुआ उसकाल में प्रयोजनवान* है।

इसप्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को यथावत् जानना प्रयोजनवान है। जैसे चौदहवें गुणस्थान से नीचे के गुणस्थान में जितने प्रमाण में मलिनता एवं निर्मलता के अंश हैं उन्हें उतने अंश में जानना सो व्यवहार है और पर-निमित्त के भेद से रहित त्रैकालिक एकरूप अक्रिय आत्मा को पूर्ण सामर्थ्यरूप अखण्ड जानना सो निश्चय नय अथवा परमार्थ है। उसे शुद्धदृष्टि के द्वारा लक्ष में लेकर भेद को गौण करके पूर्णरूप वस्तु को ध्रुवरूप से श्रद्धा का अभेद विषय बनाना सो सम्यकदर्शन है।

सम्यकदर्शन श्रद्धा गुण की अवस्था है इसलिये वह भी व्यवहार है। पुण्य के लक्ष से अंशतः स्थिर होने के लिये जो राग दूर करने के विकल्प उठते हैं-भेद होते हैं वह असद्भूत व्यवहार है। परवस्तु में अथवा देहादि की क्रिया में आत्मा का किंचित्मात्र भी व्यवहार नहीं है। शुभराग को आदरणीय मानना सो अज्ञान है।

अपूर्व परमार्थ-की श्रद्धा अत्यंत दुर्लभ वस्तु है तथापि जो समझने के लिये तयार होता है उसे सुलभ है। पर में कर्तृत्व-मोक्तृत्व से रहित सर्वज्ञके न्यायानुसार यथार्थ तत्व को जानकर जब यथार्थ श्रद्धा करता है तब उसी समय अन्तरंग में अपूर्व आनन्द आता है। मैं आत्मा हूं मैं अपूर्व आनन्द का वेत्ता हूं ऐसा विकल्प भी जब बुद्धि में से दूर हो जाता है तब आत्मानुभव सहित निश्चय सम्यकदर्शन हो जाता है और तब अपूर्व आह्लाद का अनुभव होता है। हे भाई! ऐसा वस्तु स्वभाव अनन्तकाल में कभी नहीं जान पाया जो जितना जाना वह

* प्रयोजन=प्र+योजन। प्र=विशारूप म, अवस्था भेद। योजन=युक्त करना, जुड़ना। अखण्ड वस्तु के आश्रय से जितने अवस्था के भेद हों उनमें ज्ञान को जोड़ना सो प्रयोजन है। त्रैकालिक द्रव्य के साथ वर्तमान अवस्था की संधि करना सो प्रयोजन है।

सब पर का ही जाना है। पर से कभी किसी को लाभ–अलाभ नहीं होता। पुण्य, दया, दानादि की जो शुभभावना उत्पन्न होती है वह भी आत्मा के लिये लाभकारक नही है, प्रस्तुत उस भाव को अपना मानने से ससार मे परिभ्रमण करने का लाभ मिलता है! इस तत्व को एक–दो दिन मे नही समझा जा सकता। जिसे साम्प्रदायिक पक्षपात अथवा मोह है उसे तो यह बात सुनने मे भी कठिन मालूम होती है।

भगवान आत्मा अरूपी सदा ज्ञान–आनन्द का पिण्ड है। उसके गुण भी अरूपी हैं और पर्यायें भी अरूपी हैं। उसमें परवस्तु का ग्रहण या त्याग किसी भी प्रकार से नही है। आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न है, पर का कर्ता नही है, जिसे यह ज्ञान नही है वह यह मानता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है' किन्तु ऐसा कभी होता नही है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से तीनकाल और तीनलोक मे भिन्न–भिन्न है। भिन्न वस्तु पर का कुछ नही कर सकती। प्रत्येक आत्मा अपने भाव मे अनुकूल या प्रतिकूल जान या मान सकता है इतना ही कर सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नही कर सकता।

आत्मा ने पर को कुछ पकड नही रखा है कि जिससे उसे छोडना पडे। मात्र उसने विपरीत मान्यता बना रखी है कि मैं पर पदार्थ को ग्रहण करता हूँ, छोडता हूँ, पर से मुझे लाभ होता है, और इसप्रकार रागद्वेष का अज्ञानभाव से ग्रहण कर रखा है, इसलिये स्वलक्ष करके सम्यक्ज्ञान भाव से उस अज्ञान भाव को छोड़ना ही जीव की क्रिया है। देह की क्रिया आत्मा के आधीन नही है, तथापि जो यह मानता है कि मैं देह की क्रिया को कर सकता हूँ वह देह और आत्मा को एक मानता है।

मैं पर के कर्तृत्व–भोक्तृत्व से रहित अखण्ड ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण हूँ, परमाणु मात्र मेरा नही है, मन के सबन्ध से किंचित् मुक्त होकर जहाँ अन्तरग में स्थिर हुआ कि वहाँ मिथ्याश्रद्धा और मिथ्या-ज्ञान का यथार्थ त्याग (व्यय) और निर्मल सम्यक्दर्शन–ज्ञान का

उत्पाद होता है। उस (सम्यग्दर्शन) के बिना व्रत तप चारित्र आदि सच्चे नहीं होते। संसार के माने हुए व्रत तप इत्यादि संसारके खाते में ही जाते हैं। मन वाणी देह की क्रिया से पुण्य-पाप अथवा धर्म नहीं होता। यदि स्वयं विवेक पूर्वक तृष्णा और राग को कम करे, कषाय को सूक्ष्म करे तो पुण्य बन्ध होता है धर्म नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्त होने को कह रहे हैं।

आत्मा अरूपी सूक्ष्म है। उसका सम्पूर्ण विषय अंतरंग में है। उसका कोई भी कार्य बाह्य प्रवृत्ति के आधीन नहीं है। शुभभाव भी विकार है उससे अविकारी गुण प्रगट नहीं हो सकता। ऐसा ही स्वरूप त्रिकाल में होने पर भी अज्ञानी उसके द्वारा मानी हुई अनादि कालीन विपरीत मान्यता के आग्रह को नहीं छोड़ता और स्वभाव की बात को सुनने या उसका विचार करने में उसे भारी घबराहट मालूम होती है। किन्तु जिसे वास्तविक सुख-शान्ति की चाह है उसे तो अपनी समस्त बाह्यमान्यताओं का त्याग करना ही होगा। ज्ञानी की दृष्टि से देखा जाय तो तीनोंकाल सम्बन्धी विपरीत मान्यता का सम्यग्दृष्टि में त्याग हो ही जाता है।

सम्यग्दर्शन का विषय परमार्थ है किन्तु सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा गुण की निर्मल अवस्था व्यवहार है। पूर्ण अखण्ड को लक्ष में लेना सो परमार्थ रूप निश्चय है। स्थिरता के जो भेद होते हैं उन्हें जानना सो व्यवहार है दूसरा व्यवहार नहीं है। लोग यह मानते हैं कि पर-वस्तु, और शरीर इत्यादि की क्रिया एवं पुण्य इत्यादि व्यवहार है और उससे निश्चय प्रगट होता है, किन्तु यह सारी मान्यता अज्ञान है। अन्तरंग में जो शुभभाव की वृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वभाव में सहायक नहीं है इतना ही नहीं किन्तु जो निर्मल पर्याय के भेद होते हैं उसकी सहायता से भी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। मात्र अखण्ड द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। यह बात जीव ने कभी नहीं सुनी इसलिये उसे यह नई मालूम होती है और कठिन मालूम

होती है। किन्तु परावलम्बन से गुण होता है—लाभ होता है, शुभरागके व्यवहार से निश्चय धर्म होता है, इसप्रकार मानने वाले निज गुण का घात करते हैं। जो यह मानते हैं कि अमुक वस्तु का त्याग करने से निज गुण का प्रकाश होगा उन्हे अपने आन्तरिक पूर्ण गुण की शक्ति का विश्वास नही है। तीनलोक और तीन काल में भी व्यवहार से परमार्थ प्रगट नही हो सकता।

परमार्थ—श्रद्धा होने के बाद गुण की निर्मलता की वृद्धि के अनुसार जिस गुणस्थान में जैसी स्थिति होती है वहां वैसा ही व्यवहार आजाता है। जबतक पूर्ण केवलज्ञान नही होता तबतक जो स्थिरता करनी शेष रहती है वह भी व्यवहार है। अभेद की दृष्टि सहित गुणकी निर्मलता के जो भेद होते हैं वह व्यवहार है। देह की क्रिया में, पुण्य में अथवा बाहर अन्यत्र कही व्यवहार नही है। बाह्य-मान्यता का आग्रह समझकर छोडे बिना परमार्थ रूप अन्तरग तत्त्व की अपूर्व बात जगत को नही रुचती, किन्तु इसे समझे बिना धर्म नही होता, वीतराग का धर्म तो यही है। वीतराग अपनी कोई सकुचित हद नही बांधते, वीतराग को किसी का पक्ष नही होता। सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि व्यवहारनय पर की अपेक्षा से होने वाले भेद को ग्रहण करता है इसलिये उस भेद के द्वारा गुण की निर्मलता नही होती। पर—निमित्त के भेद से रहित परिपूर्ण, निर्मल, अखण्ड ध्रुवस्वभाव को जानना सो निश्चय है, और यह समझना कि चौदह गुणस्थान तक के जितने भेद होते हैं वे परमार्थ रूप नही हैं, सो व्यवहार है।

व्यवहार का यह अर्थ नहीं है कि 'अमुक प्रवृत्ति करना सो व्यवहार है' किन्तु 'पर्यायके भेदको यथार्थ जान लेना' सो व्यवहारनय* है। जो निर्मलता बढ़ती है सो ज्ञान का विषय है। उस खण्ड-खण्ड रूप अवस्था के भेद को देखने से छद्मस्थ के विकल्प हुए बिना

---

* नय=यथार्थतया जाने हुये पदार्थ में से एक पहलू को मुख्य और दूसरे पहलू को गौण करके जानने वाला ज्ञान। भेद—पराश्रय, उपचार सो व्यवहार है।

नहीं रहते । ऐसा व्यवहार छद्मस्थ के बीच में आता तो है किन्तु ज्ञानी उसे आदरणीय नहीं मानते ।

शुद्ध परिणामिक भाव कहो, अखण्ड ज्ञायक वस्तु कहो अथवा परमार्थ स्वभाव कहो यह सब एक ही है । उस अखण्ड की निर्मल श्रद्धा और निर्मल दशा अखण्ड परमार्थ के बल से प्रगट होती है । भेद के बल से विकल्प से शुभभाव से अथवा किसी भी प्रकार के व्यवहार से निश्चयदृष्टि (परमार्थस्वभाव) प्रगट नहीं होती ।

यदि कोई कहे कि—प्रथम भूमिका तो तैयार करनी ही चाहिये ? किन्तु इस प्रकार की आवश्यकता ही नहीं है । लोक व्यवहारमें भी भले घर के लोग कहते हैं कि स्वप्न में भी कुशील का सेवन नहीं करना चाहिये । अनीति असत्य परस्त्रीगमन चोरी इत्यादि हमारे कुल में नहीं हो सकते । इसप्रकार जिसके लौकिक सज्जनता की महिमा होती है उसके भी अमुक तुच्छ वृत्तियों का विकार सहज ही छूट जाता है । धर्मात्मा जीव तो लोकोत्तर उत्तम—परिवार का है लोकोत्तर परमार्थ में सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मा की जाति का ही है । मैं उन्हीं जैसा हूं ऐसी श्रद्धा में उत्कृष्ट स्वभाव की महिमा होने पर अमुक राग-द्वेष के भाव सहज ही छूट जाते हैं ।

मेरा स्वभाव, मेरी आत्मजाति पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव को प्राप्त परमात्मा जैसी है । मैं अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्त बल इत्यादि अनन्तगुणों का पिंड हूं । उस शक्ति के बल से भ्रांति का नाश और कुछ राग-द्वेष का सहज ही ह्रास होजाता है ।

पर—लक्ष से चाहे जितना करे तो उससे राग द्वेष मंद हो सकते हैं किन्तु आत्मप्रतीति के बिना सर्वथा अभाव नहीं हो सकता । अनन्तकाल व्यतीत हो गया उसमें बहुत कठिन आयम अनन्तबार किये किन्तु परमार्थ को नहीं समझ पाया । अंधकार को नाश करनेके लिये झाडू या सूप इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती किन्तु प्रकाश ही आवश्यक होता है । उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सम्यक्ज्ञान का प्रकाश आवश्यक होता है ।

शंका:—शुभभाव से आगे क्यों नहीं बढा जा सकता ?

समाधानः—अनतबार शुभभाव किये तथापि अंशमात्र भी धर्म नहीं हुआ। जैसे वृक्ष की जड को सुरक्षित रखकर यदि उसके पत्ते तोड लिये जायें तो वे अल्पकाल मे पुनः पीक उठते हैं–उग आते हैं; उसी प्रकार अज्ञानरूपी जड को सुरक्षित रखकर यह माने कि मैंने राग-द्वेष को कम कर लिया है तो उससे कोई लाभ नही है, परमार्थ से राग-द्वेष कम नहीं हुआ है क्योंकि वह पुन अंकुरित हो जाता है और बढ़ने लगता है।

अखण्ड दृष्टि की ही सच्ची महिमा है, जहाँ न विकार है और न भेद है। त्रैकालिक ध्रुव अखण्ड स्वभाव को लक्ष में लेने पर मोक्ष-पर्याय भी उसके अन्तर्गत हो जाती है, इसलिये बन्ध–मोक्ष के भेद भी श्रद्धा के अखण्ड विषय में नही हैं, व्यवहार में ही बन्ध–मोक्ष है। यदि ऐसा न हो तो बन्ध को दूर करके मुक्त होनेका उपदेश ही वृथा सिद्ध होगा। दृष्टि के शुद्ध होने पर दृष्टि के अखण्ड लक्ष के बल से राग को दूर करके स्थिरता होती ही रहती है।

इसप्रकार तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था है। मोक्ष का उपाय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप अपूर्णपर्याय) तीर्थ और पूर्ण निर्मल अवस्था की प्राप्ति तीर्थफल है। परमार्थरूप निश्चय वस्तु में मोक्षका मार्ग और मोक्ष ऐसे जो दो भग होते हैं सो व्यवहार है, और अखण्ड वस्तुस्वरूप को लक्ष में लेना सो निश्चय है।

सर्वज्ञ भगवान ने एक वस्तु में व्यवहार और निश्चय दोनो कहे हैं। चने को भूनने पर कचास का नाश और स्वाद का उत्पाद होता है, और दोनो अवस्थाओ में चने का ध्रौव्यत्व बना रहता है, इसीप्रकार आत्मा मे भूलरूपी कचास और दु खरूपी कषायलापन अज्ञानभाव से–अवस्थादृष्टि से होता है। किन्तु जिसे वह भूल और दुःख मिटाना है उसे भूल और विकार से रहित आत्मा के ध्रुव स्वभावकी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना चाहिये। इससे अपूर्ण अवस्था का क्रमशः

नाश और पूर्ण निर्मल अवस्था की उत्पत्ति[1] होती है और उन दोनों अवस्थाओं में आत्मा एकरूप ध्रुवरूप से स्थिर रहता है। अज्ञान[2] और दुःख की अवस्था के समय भी आत्मा में पूर्णज्ञान–आनन्दस्वभाव भरा हुआ है। उस स्वभाव में अज्ञान और दुःख को नाश करने की शक्ति प्रतिक्षण विद्यमान है। उस निरपेक्ष अखण्ड निर्मल स्वभाव में अभेद दृष्टि का बल होने पर विकारी अवस्था का नाश और अनुपम आनन्द की उत्पत्ति हो सकती है। वर्तमान अवस्था के समय भी त्रैकालिक पूर्ण शक्ति ध्रुवरूप से भरी हुई है। उसमें दुःख या भूल नहीं है। भूल और विकाररूप अवस्था तो वर्तमान एक–एक समयमात्र की (प्रवाहरूप से–अनादि की) है। नित्य अखण्ड ध्रुवस्वभाव के बल से उस भूल और विकार का नाश हो सकता है।

भेद को जानने वाला व्यवहार है। परमार्थ में वह भेद ग्राह्य नहीं है। व्यवहार से परमार्थ नहीं पकड़ा जाता। एकरूप अभेद परमार्थका निश्चय करने पर उसके बल से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वही पुरुषार्थरूप व्यवहार है। शास्त्र में कहीं भी व्यवहार नहीं है। जगत को यह रुचे या न रुचे किन्तु तीनलोक और तीनकाल में यह बात अपरिवर्तनीय है। अहो! यह अपूर्व बात जिसकी समझ में आजाती है उसका तो कहना ही क्या है। किन्तु जिसे यह बात प्रेम से सुनने को मिलती है उसका भी महाभाग्य है। जो हीरा शाण पर चढ़ता है उसका मूल्य तो अधिक होता है किन्तु उसकी जो रज गिरती है उसका भी पर्याप्त मूल्य आता है। वीतराग के मार्ग में मात्र परमतत्त्व के ही गीत गाये हैं। कोई यथार्थ को न समझे किन्तु सुनने में उत्साह रखे तो भी ऐसा उत्तम पुण्य–बंध हो जाता है कि जिससे भविष्य में ऐसा उत्तम तत्त्व सुनने का योग पुनः प्राप्त होता है। यदि वर्तमान में ही

---

१ मोक्ष—आत्मा की अंतिम से अंतिम पूर्ण निर्मल अवस्था अथवा विकार से सर्वथा मुक्त होने पर कर्म–बन्धन से छूट जाना।

२ अज्ञान—अपने वास्तविक स्वभाव को न जाननेवाला मिथ्याज्ञान,
३ दुःख—अपने सुख गुण की विपरीत अवस्थारूप विकार।

पुण्य का निषेध करके अपूर्व पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप को समझे तो अपूर्व गुण [धर्म] का लाभ होता है। पुण्य का आदर करना अविकारी आत्मा का अनादर करना है। अनंत गुण का पिण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा जब अपने गुण से विपरीत चलता है तब पुण्यादि होता है। पुण्य तो गुण की जलन है। हे प्रभु! पुण्य-पाप से तेरे गुणो की हत्या होती है।

आत्मा अविकारी अखण्ड है। पुण्य-पाप विकार में युक्त होने से बधन होता है उसे ठीक मानना वह ऐसा है कि जैसे अपने पैर को कटवाकर कोई हर्ष मानता है। आत्मा के गुण जलकर राख हो जाते हैं तब पुण्य होता है। जो कि-क्षणभर में उड जाता है ऐसे पुण्य में क्या मिठास है! तू तो अपने आनन्दरस से परिपूर्ण प्रभु है, तुझे उसकी महिमा की प्रतीति क्यो नही होती!

माता पुत्र को 'सयाना बेटा' कहकर सुलाती है, तब उससे विपरीत रीति से ज्ञानीजन स्वरूप की अचित्य महिमा दिखाकर तुझे अनादिकालीन अज्ञानरूपी नीद मे से जगाते हैं। पुण्य-पाप-विकार तेरा स्वरूप नही है, किन्तु वर्तमान अवस्थामात्र का विकार है, उसका तथा निर्मल अवस्था के भेद का लक्ष गौण करके त्रिकाल एकरूप ज्ञायक को लक्ष में ले तो परमार्थ और व्यवहार दोनो का ज्ञान-सम्यक्ज्ञान होता है, किन्तु वस्तु को यथार्थतया परिपूर्ण नही जानता। यदि यथा-वत् वर्तमान अवस्था को न जाने तो पुरुषार्थ करके राग-द्वेष का नाश और गुण की निर्मलता का उत्पाद नही हो सकता।

जैसे सोने को शुद्ध जानने के बाद ही आंच दी जाती है इसीप्रकार पहले सर्वज्ञ वीतराग ने जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही सर्वज्ञके न्याय, युक्ति, प्रमाण से और सत्समागम से जाने, पश्चात् त्रैकालिक अभेद एकाकार ज्ञायकरूप से अगीकार करे, श्रद्धा के अभेद विषय में अनुभव करने के बाद यथार्थ वस्तु मे नि:सदेहता आती है कि मैं त्रिकाल में ऐसा ही हूँ, स्वतत्र हूँ, पूर्ण हूँ, उसमें अवस्था के भेद गौण हो जाते हैं। वह यह जानता है कि एकरूप ध्रुव वस्तु के विषय में अनेक भेद आदरणीय नही हैं, किसी समय उसे जानना (व्यवहारनय)

प्रयोजनवान है तथापि साधक को सम्पूर्ण काल (परमार्थ) से अखंड ध्रुव स्वभाव लक्ष में लेना ही मुख्य है ।

प्रश्न—आत्माको जानने के बाद राग-द्वेष कैसे दूर होता है ?

उत्तर—मैं पूर्ण हूं, अखण्ड हूं ऐसे पवित्र स्वभाव की प्रतीति के बल से पूर्ण की ओर का झुकाव बढ़ता है और उससे राग-द्वेष का नाश हुए बिना नहीं रहता । लोग यह मानते हैं कि बाहर की कोई प्रवृत्ति करने पर गुण [लाभ] होता है ऐसा मानने वाले अपने में विद्यमान अनन्तशक्ति से युक्त अनन्त गुणों को नहीं मानते । मैं अनन्त गुणों का पिंड हूं पर से तथा विकार से भिन्न हूं ऐसी प्रतीति करे और अन्तरंग में यथार्थ निर्णय करे कि मैं अनादि अनन्त स्वतन्त्र हूं ज्ञानानंद से परिपूर्ण हूं जो क्षणिक विकार दिखाई देता है वह मैं नहीं हूं इसप्रकार अखण्ड गुण की दृढ़ श्रद्धा के बल से विकार दूर होता है ।

विकार की अवस्था और क्षणिक विकार के दूर हो जाने पर जो क्षायिक निर्मल अवस्था होती है वह भी अभेददृष्टि में ग्राह्य नहीं है मात्र व्यवहार से ज्ञातव्य है । उस पर्याय के भेद पर लक्ष करके रुकना नहीं चाहिये । मैं अखंड ज्ञायक हूं इसप्रकार अभेद श्रद्धा का विषय ही मुख्य है । उसका ज्ञान करके राग को दूर करके निर्मल गुण में स्थिरता करना सो चारित्र है । यह तीनों निर्मल गुण की अवस्थाएं हैं । सम्यकश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को भगवान ने व्यवहार कहा है क्योंकि ज्ञायक वस्तु अनन्तगुणों का एकरूप पिंड है । उसमें अशुद्धताका नाश और शुद्धता (शुद्ध अवस्था) का उत्पाद अथवा दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन भेद करना सो व्यवहार है । आत्मा का व्यवहार पर में नहीं है ।

एकरूप स्वभाव को न मानकर पुण्य-पाप विकार मेरा कर्तव्य है मैं पर का कर्ता हूं पर मुझे हानि-लाभ करता है इत्यादि मान्यता के साथ रागद्वेषरूप में अनेक विकारों में परिवर्तन होता है यही संसार* है । स्त्री धन पुत्र शरीर इत्यादि पर में आत्मा का

* "संसार=संसरणं इति संसारः" अर्थात् एकरूप न रहकर भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभ्रमण करना अथवा सम्यक्स्वभाव से हट जाना ।

ससार नही होता, किन्तु उनमे अपनेपन की जो बुद्धि है सो संसार है। ससार आत्मा की विकारी अवस्था है, और मोक्ष आत्मा की पूर्ण निर्मल अवस्था है। जो ससार-मोक्ष आदि तीनोकाल की सम्पूर्ण अवस्थाओ का अभेद पिंड है, वही अनन्त गुणो का पिंड आत्मा है। उसके अभेद लक्ष से सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। उस परमार्थस्वरूप मे जो अभेद निश्चयरूप श्रद्धा है सो व्यवहार है। उस श्रद्धा के द्वारा अभेद स्वरूप की ओर एकाकार दृष्टि का वल लगाने पर स्वसवेदन बढता है अर्थात् अन्तरग अनुभवरूप आनन्द का भोग वढता जाता है।

पुण्य-पाप रहित स्वावलम्वी निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अवस्था का प्रगट होना सो व्यवहार है, तीर्थ है और अभेद स्वभावकी दृष्टि के वल से अन्तर गुण की निर्मलता के द्वारा पूर्ण निर्मल केवलज्ञान का प्रगट होना सो तीर्थ का फल है। इसप्रकार पुण्य-पाप के भाव से रहित मोक्ष का मार्ग और मोक्ष दोनों व्यवहार है।

सम्यक्दर्शन भी अवस्था है क्योकि वह श्रद्धा गुण की पर्याय है, इसलिये वह व्यवहार है। राग-द्वेष और सकल्प-विकल्प का वेदन करना मेरा स्वरूप नही है। मैं अखण्ड ज्ञायकरूप से एकाकार ध्रुव हूँ, ऐसी अभेददृष्टि के वल से अभेद स्वसवेदनरूप से जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है वह व्यवहार है। यह कहना कि-सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन अवस्थाओ के द्वारा निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट हुई है, सो व्यवहार-कथन है, क्योकि मोक्षमार्ग अर्थात् अपूर्ण पर्याय से मोक्ष प्रगट नही होता किन्तु उसका अभाव होने पर मोक्ष प्रगट होता है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कारण और मोक्ष उसका कार्य है-यह व्यवहार है। मोक्ष का निश्चय कारण द्रव्य है। पूर्ण अखण्ड द्रव्यके वल से मोक्षदशा प्रगट होती है वह अखण्ड सामर्थ्यरूप वस्तु की ही महिमा है उस अखण्ड का लक्ष करना सो निश्चय-अभेद दृष्टि है। निश्चय का विषय निरपेक्ष अखण्ड ध्रुव वस्तु है।

ऐसी बात अनादिकाल से कही कभी सुनी न हो और अनादिकाल से जिसे मानता आया है उससे भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न

हों तो उनका मेल कहाँ और कैसे बिठाया जाय। जैसे दुकान में हल्दी आदि विविध मसालों के बहुत से खाने भरे हों और हल्दी की ही जाति के और मसाले आयें तो उसी खाने में भर देते हैं किन्तु हल्दी से भिन्न जाति का उच्चप्रकार का माल आता है तो उसे रखने के लिये पुराने मसाले के खाने खाली करना पड़ते हैं और इसके लिये दुकानदार जल्दी निर्णय कर लेता है उसीप्रकार अपूर्व आत्मधर्म के लिये अनादिकालीन विपरीत मान्यता के खाने खाली करने का पुरुषार्थ आवश्यक होता है। आत्मा अनादि-अनन्त है न तो उसका प्रारम्भ है न अन्त है और वह त्रिकाल स्वसत्ताक्‍रूप से बना रहेगा। उसे किसी भी काल में किसी भी क्षेत्र में अथवा किसी भाव में पर-सत्ता के आधीन होना नहीं होता। संयोग को जानने वाला सदा असंयोगी ज्ञाता स्वरूप है। उसे जाने बिना जितना भी कुछ करता है वह सब वृथा है।

अनादिकाल से कभी यथार्थ वस्तु का विचार नहीं किया। "मैं हूँ तो मेरे स्वरूप को समझने का प्राप्त करने का उपाय भी होना ही चाहिये- वह तो है ही। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण स्वरूप को समझने की सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को ग्रहण करने की और परमात्मदशा-सिद्ध दशा प्रगट करने की शक्ति प्रतिसमय त्रिकाल विद्यमान है। तथापि विपरीत मान्यता की जड़ें बहुत गहरे तक पहुँची हुई हैं इसलिये वह उसे नहीं मानता। अपने स्वरूप को समझना आने को ही कठिन मालूम हो-ऐसा नहीं हो सकता किन्तु रुचि नहीं है और अनादिकाल से अपने स्वरूप का अनभ्यास बना हुआ है तथा पर के प्रति भ्रम है इसलिये उसे कठिन मानता है।

जहाँ पूर्ण स्वरूप निश्चय का आश्रय हो वहाँ भेदरूप व्यवहार होता है। किन्तु यह बात तीनकाल और तीनलोक में यथार्थ नहीं हो सकती कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त हो जाता है। निश्चय-परमार्थ की श्रद्धा से पूर्व और श्रद्धा के पश्चात् शुभभावरूप व्यवहार होता तो है किन्तु उससे निर्मलता प्रगट नहीं होती। मैं अनंत

के बल से क्रमश बढ़ते–बढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट होती है। वह दोनों व्यवहार हैं। मोक्षदशा प्रगट होने से पूर्व शुद्धदृष्टि पूर्वक अशुभ से बचने के लिये शुभ का अवलम्बन होता है वह असद्भूत व्यवहार है। इन (व्यवहार और निश्चय) दोनों नयों के ज्ञान की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है कि—

> "जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुयइ।
> एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥"

अर्थ —भगवान कहते हैं कि हे भव्यजीवो! यदि तुम जिन मत को प्रवर्तित करना चाहते हो तो अखण्ड परमार्थदृष्टि और तदाश्रित अवस्था में होने वाले भेद को जानने वाली व्यवहारदृष्टि (व्यवहार और निश्चय दोनों नयों) की अविरोधी संधि को मत छोड़ो क्योंकि व्यवहार नय के बिना तीर्थ–व्यवहार मार्ग का नाश हो जायगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायगा।

कोई कहता है कि–मुझे अच्छा' (कल्याण) करना है तो उसका यह आशय हुआ कि जिसमें बुराई का अंश न आये किन्तु संपूर्ण अच्छा रहे नित्य स्थिर रहे उसके उपाय में किसी अन्य का आश्रय न लेना पड़े। जो ऐसा होता है वह यथार्थ हित– अच्छा' कहलाता है।

जिसे हित करना है वह अहितरूप वर्तमान अवस्था को बदलना चाहता है और हितयुक्त अवस्था को प्रगट करके उसमें स्थिर होना चाहता है। क्योंकि यदि अपनी अवस्था विकाररूप–अहितयुक्त न हो तो अहितपन से रहित हितयुक्तता होने की अपेक्षा कहाँ से आयेगी? मैं मात्र हित का इच्छुक हूँ इसलिये जो हित है वह बना रहेगा और उस हित में जो विरोधरूप अहितपन है उसे अलग कर दूंगा इसप्रकार नित्यस्थायी और अवस्था को बदलने वाली दो अपेक्षाएँ (निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों की दृष्टि) हो गई। जिसे आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रगट करना है उसे यह दो नय (ज्ञान की दो अपेक्षाएँ) जानना चाहिये।

कोई कहता है कि 'मुझे भूल और विकार दूर करना हैं। जो दूर हो सकता है वह अपने स्वभाव में नही है और जिसका नाश करना चाहता है वह रखने योग्य त्रैकालिक स्वभाव से विरोधी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो नित्य एकरूप स्थायी है वह अच्छा है—ग्राह्य है, और विरोधभाव दूर करने योग्य है। इसप्रकार ध्रुवस्वभावके आश्रयसे अविरोधीभाव का उत्पाद और विकारी भाव का व्यय करना सो हित करने का उपाय है।

वस्तु में त्रिकाल सुख है, उसे भूलकर जो विकार के दुखो का अनुभव कर रहा था उसकी जगह अविकारी नित्य स्वभाव के लक्ष से भूल को दूर करके भूल रहित स्वभाव मे स्थिर रहने का अनुभव करने पर प्रतिसमय अशुद्धता का नाश और निर्मलता की उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि वीतराग के मार्ग को प्रवर्तित करना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों अपेक्षाओ को लक्ष मे रखना होगा।

जो उत्पाद-व्यय है सो व्यवहार है, और जो एकरूप ध्रुव वस्तु है सो निश्चय है—यह दोनो आत्मा मे हैं। परद्रव्य में, देह की क्रिया में या पुण्य में व्यवहार और आत्मा में निश्चय, इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु में नही हैं।

अखण्ड ध्रुवस्वभाव के अभेद विषयरूप से यथार्थ श्रद्धा करने पर उसमें खोटी श्रद्धा का नाश, सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल स्थिरता की अशतः उत्पत्ति और अखण्ड वस्तु ध्रुव। यथावत् अखड और खण्ड को जानने वाले दो नय वीतराग स्वभाव को प्रगट करने के लिये जानना आवश्यक हैं। नित्य एकरूप वस्तु की प्रतीति और आश्रय के बिना बदलकर कहाँ रहा जायेगा? इसलिये यदि परमार्थरूप ध्रुव निश्चय को नही जाना जायगा तो वस्तु का नाश हो जायगा, और वस्तु का नाश मानने से अवस्था का भी नाश हो जायगा। और यदि वर्तमान अवस्था को वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहारनय का विषय पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग लोप हो जायगा। क्योंकि अखण्ड वस्तु का लक्ष वर्तमान पर्याय के द्वारा होता है और पर्याय का सुधार द्रव्य के लक्ष से होता है। पर्याय तो वर्तमान वर्तनरूप अवस्था है, उसे

वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहार धर्म–मोक्षमार्ग का लोप हो जायगा।

आत्मा अनादि अनन्त वस्तु है पर से भिन्न और अपने अनन्त गुण एवं त्रिकाल की अवस्था से अभिन्न है। जिसमें प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। यदि अवस्था न बदले तो दुःखरूप अवस्था को दूर करके सुख नहीं हो सकता। सभी जीव आनन्द–सुख चाहते हैं किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि वह कहाँ है और उसे प्राप्त करने का क्या उपाय है। सुख और सुख का उपाय अपने में ही है किन्तु उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं है। पर में कल्पना से सुख मान रखा है किन्तु वास्तव में पर के आश्रय से सुख नहीं हो सकता। सबको चिरस्थायी सुख चाहिये है किसी को दुःख अथवा अपूर्ण सुख नहीं चाहिये। अनन्तकाल से सुख के लिये सभी प्रयत्न करते हैं इसलिये यह स्वतः सिद्ध है कि लोग कहीं सुख के अस्तित्व को स्वीकार तो करते ही हैं, और उसे प्राप्त करने का उपाय भी अपनी कल्पना के अनुसार करते हैं। दूसरे को मारकर परेशान करके अपमान के प्रसंग में उसकी हत्या करके भी आई हुई प्रतिकूलता का नाश करना चाहते हैं। अज्ञानी जीव पहले मरण को महात्रासदायक मानता था किन्तु कोई अनादर अथवा बाह्य प्रतिकूलता का प्रसंग आने पर उससे दूर होने के लिये अब जीने में दुःख मानकर मरण को सुख का कारण मानता है। इसप्रकार जगत के प्राणी किसी भी प्रकार से सुख को प्राप्त करने के लिये हाथ पैर पीटते हैं इसलिये यह सिद्ध है कि वे सुख का और सुख के उपाय का अस्तित्व तो स्वीकार करते ही हैं किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि वास्तविक सुख क्या है वह कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है इसलिये वे दुःखी ही बने रहते हैं।

अब यहाँ यह कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार किसप्रकार आता है।

लोग धर्म के नाम पर बाह्य–प्रवृत्ति में व्यवहार मानते हैं। वे यह मानते हैं कि यदि पुण्य करेंगे या शुभभाव करेंगे तो लाभ होगा।

किन्तु वे उसमे नही देखते जो आत्मा ही अनन्तगुण का धाम—पूर्ण सुख का सत्तास्थान है। सुख के लिये मृत्यु का इच्छुक अज्ञानभाव से वर्तमान समस्त सयोगो से छूटना चाहता है, इसलिये परवस्तु के बिना अकेला रहूँ तो सुख होगा ऐसा मानकर एकाकी रहकर सुख लेना चाहता है, इसलिये यह स्वीकार करता है कि—मात्र अपने मे ही अपना सुख है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो पर के आश्रय से रहित सुख रहता है वही सच्चा सुख है। इससे तीन बातें निश्चित होती हैं।

(१) सुख है (२) सुख का उपाय है (३) पर के आश्रय से रहित स्वय अकेला पूर्ण स्वाधीन सुखस्वरूप स्थिर रहने वाला है। ऐसा होने पर भी अपने को भूलकर दूसरे से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। सुख की पूर्ण प्रगट दशा मोक्ष है और पूर्ण सुख को प्रगट करने का उपाय मोक्षमार्ग है।

आनन्द आत्मा में है, इसकी खबर न होना सो अज्ञानभाव है। और ज्ञान—आनन्द मुझमे ही है, पर के सम्बन्ध से मेरा ज्ञान—आनन्द नही है, ऐसी खबर होना ज्ञानभाव है।

मात्र तत्त्व (अपने शुद्धस्वभाव) मे विकार (पुण्य-पापके शुभाशुभभाव) नही हो सकते, किन्तु आत्माके साथ कर्म—जड रजकण का जो निमित्त है उस के अवलम्बन से वर्तमान विकार होता है। अशुभ भाव को छोडकर तृष्णा को कम करने के लिये शुभभाव ठीक हैं, किन्तु उन शुभभावो से अविकारी आत्मा का धर्म नही हो सकता। आत्मस्वरूप को यथार्थतया नही समझता और आँखें बन्द करके बैठा रहता है, तब अँधेरा ही तो दिखाई देगा और बाहर जड़ की प्रवृत्ति दिखाई देगी। अज्ञानी यह मानता है कि रुपया पैसा देने से धर्म होता है—परमार्थ होता है किन्तु रुपया पैसा तो जड है, उसके स्वामित्व का भाव ही विकारी है। जड वस्तु जीवके आधीन नही है। जो स्वामित्व भाव से राग और पुण्य के काम करता है उसे अरूपी, अतीन्द्रिय, साक्षीस्वरूप, ज्ञाता-दृष्टास्वभाव की प्रतीति नही है। पहले से ही किसी भी ओर से कोई विरोध न आये ऐसी दृढ़ श्रद्धा के द्वारा सर्वज्ञ के

न्यायानुसार आत्मा में अखण्ड पूर्ण वस्तु का निर्णय करना चाहिये उसके बिना पर का कर्तृत्व-स्वामित्व माने बिना नहीं रहता।

मोक्षरूपी फलके लिये निश्चयनय और व्यवहारनय-इन दो अपेक्षाओं को जानना चाहिये। दही को बिलोकर मक्खन निकालने के लिये जब मथानी चलाई जाती है तब उसमें रस्सी तो एक होती है किंतु उसके छोर दो होते हैं उसमें से जब एक छोर को खींचते हैं तब दूसरे छोर को छोड़ देने से काम नहीं चल सकता और जब दूसरी ओर के छोर को खींचते हैं तब पहले छोर को नहीं छोड़ देते। और एक ही साथ दोनों छोरों को खींचने से काम नहीं चलता तथा एक ही साथ दोनों छोरों को छोड़ देने से भी काम नहीं चलता किन्तु एक को खींचते समय दूसरे को ढीला करने से मथानी चलती है दही बिलोया जाता है और तब मक्खन निकलता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा अनादि अनन्त है अपनी अनन्त गुणरूपी शक्ति से एकरूप है उसे अभेद ध्रुवरूप जानना सो निश्चय है। उस निश्चय के द्वारा जब अखण्ड वस्तु पर भार देना होता है तब विकार और निर्मल अवस्था के भेद गौण हो जाते हैं। अवस्था के बिना द्रव्य का लक्ष नहीं होता और वस्तुके लक्षके बिना अवस्था निर्मल नहीं होती। ग्यारहवीं गाथा में त्रैकालिक अखण्ड स्वभाव की मुख्यता होने से और अवस्था के जितने भेद होते हैं वे सब क्षणिक होने से उन्हें अभूतार्थ कहकर व्यवहारनय को गौण किया था किन्तु यदि अवस्था का निषेध करे तो विकार का नाश और अविकारी निर्मल अवस्था का प्रगट होना कैसे बन सकता है? मोक्षमार्ग में दो प्रकार जिस-जिस भूमिका में जैसे होते हैं उन्हें यदि वैसा न जाने तो ज्ञान की भूल होजाती है और ज्ञान की भूल से व्यवहार तथा परमार्थ दोनों में भूल हो जाती है इसलिये सच्चा पुरुषार्थ नहीं हो सकता और जिनमार्ग (वीतराग मार्ग) का नाश हो जाता है। इसलिये भगवान ने कहा है कि-यदि निर्मल आनन्द की पूर्ण अवस्था प्रगट करना चाहते हो तो दोनों अपेक्षाओं को ध्यान में रखना।

यदि वर्तमान में विकार न हो तो दुःख का वेदन किसे हो ? देह को तो कुछ खबर होती नही है और ज्ञाताने अपनी वर्तमान अवस्था में जो परसम्बन्धके लक्ष से भूल तथा विकार किया है वह क्षणिक अवस्था मात्र के लिये है। विकार अविकार की विपरीत दशा है। वर्तमान अवस्था मे प्रवर्तमान विकार अखण्ड ध्रुवस्वभाव के लक्ष से दूर होजाता है। विकार का नाश और अविकारी अवस्था का होना तथा उसे जानने वाली व्यवहारदृष्टि एव नित्य अखण्ड वस्तु की लक्षभूत निश्चयदृष्टि दोनो प्रयोजनवान हैं। अर्थात् ज्ञान करने योग्य हैं।

निश्चय और व्यवहार दोनो भीतर अरूपी तत्व में हैं, उसे जाने विना निर्मलता का पुरुपार्थ नही होता। अखण्ड तत्वके आश्रयपूर्वक जानने में हेय–उपादेय का विवेक करने वाला ज्ञान निर्मल होता है; पूर्ण निर्मल होने पर भेदरहित केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान प्रमाण होता है। जैसे मक्खन के तैयार हो जाने पर मथानी की रस्सी के दोनो छोर को पकडने का काम पूरा हो जाता है, उसीप्रकार पूर्ण वीतरागतारूप केवलज्ञान के हो जाने पर पूर्ण प्रमाण हो जाता है, और तब वहाँ दो नयो का भेद नही रहता, उसमें निश्चय व्यवहार के दो पहलू गौण–मुख्य नही होते।

जहाँ पूर्ण वीतरागदशा नही होती वहाँ बीचमे शुभभावरूप व्यवहार आये विना नही रहता। वह शुभभाव असद्भूत व्यवहार है। वह वस्तु मे नही होता किन्तु परावलम्बन से नया होता है। अखण्ड निर्मल के लक्ष से जितनी स्थिरता होती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चयदृष्टि में भग की अपेक्षा नही होती। आत्मा अखण्ड, ध्रुव, एकाकार, ज्ञायक है, ऐसे अकषायभाव के लक्ष से अमुक अश में निर्मलभाव प्रगट होते हैं, उसके साथ जितना शुभभाव होता है उसे उपचार से शुद्धिमे निमित्त कहना सो असद्भूत व्यवहार कहलाता है। किन्तु जिसकी यथार्थ निरावलम्बी दृष्टि नही है उसका शुभभाव उपचाररूप व्यवहार भी नही है।

अशुभ से बचने के लिये शुद्धस्वरूप के सन्मुख रहकर अपनी

भूमिका के अनुसार ज्ञानी के शुभभाव होता है किन्तु उससे वह लाभ नहीं मानता। वह यह जानता है कि–जितना राग दूर हुआ उतना भाव निर्मल होता है। वह यह कदापि नहीं मानता कि–शुभभाव में युक्त होना राग को दूर करने का उपाय है किन्तु वह यह मानता है कि अखण्ड निर्मलस्वभाव पर निमलश्रद्धा को शक्ति लगाने से अभेद में एकाग्र दृष्टि से उन्मुख होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। शुभ की प्रवृत्ति से राग मंद होता है किन्तु उसका अभाव नहीं होता। शुभ प्रवृत्ति धर्म का सच्चा उपाय नहीं है किन्तु विशुद्ध स्वरूप के अभेद लक्ष से स्थिर होना सच्चा उपाय है। अन्तरंग विषयका मेल किसी बाह्य प्रवृत्ति के साथ नहीं होता गुण–गुणी से प्रगट होता है, इसकी विधि अन्तरंग तत्वदृष्टि वाले ही जानते हैं।

भावार्थ—सोलहंवी सोना प्रसिद्ध है यदि सोलहसे किंचित् न्यून हो तो उसमें पर-संयोग की कालिमा रहती है इसलिये तांबेके उपचार से सोना अशुद्ध कहलाता है। वही सोना जब ताव देते देते अन्तिम ताव से उतरता है तब सोलहवी शुद्ध सोना कहलाता है। जिन लोगों को सोलहवे सोने का ज्ञान श्रद्धान और प्राप्ति हो चुकी है उन्हें उससे कम के सोने का कोई प्रयोजन नहीं होता किन्तु जिन्हें सोलहवी शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें सोलहवी से कम का सोना भी प्रयोजनवान होता है। इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ पुद्गल के संयोग से अशुद्ध–अनेकरूप हो रहा है। सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायकत्व मात्र का ज्ञान श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति–यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्गल संयोगजनित अनेक रूपता को कहने वाला अशुद्धनय कुछ प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं होता किन्तु जहांतक शुद्ध भाव की प्राप्ति नहीं हुई वहांतक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापद प्रयोजनवान है। जिन जीवों को सोलहवी शुद्ध स्वर्ण की भांति पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हो गया है उन्हें श्रद्धा ज्ञान चारित्र के भेदों को जानना शेष नहीं रहता वह उनका लाभ तो पहले ही हो चुका है। आत्मा में उत्क्रान्तिक्रम की चौदह भूमिकाएँ हैं। उनमें धर्म का प्रारंभ चौथी भूमिका (चतुर्थ गुणस्थान) से निर्विकल्प अनुभव सहित श्रद्धा

के द्वारा पूर्णस्वरूप आत्मा की प्रतीति होने पर होता है। पश्चात् अखण्ड निर्मल वस्तु के लक्ष के बल से क्रमशः निर्मलता बढकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। वहाँ पूर्णरूप स्व–वस्तु में पूर्ण निर्मल पर्याय की एकता होकर अखण्ड प्रमाण होता है। फिर निश्चय–व्यवहार की गौणता–मुख्यता के भेद नही रहते।

यद्यपि गन्ने मे रस होता है किन्तु छिलके के सयोग को देखने पर रस अलग नही दिखाई देता, तथापि रस और छिलका भिन्न है ऐसे ज्ञान के बल से रस और छिलका अलग किया जाता है। तिल में जो खली होती है वह तैल का स्वरूप नही है, तथापि उसमें वर्तमान में तैल है यह जानने पर तैल के लक्ष से खली को जुदा किया जाता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा के पुद्गल कर्म के सयोग से अवस्था मे राग, द्वेष, अज्ञान के विकारीभाव होते हैं वे वर्तमान एक–एक समयमात्र के हैं, और अन्तरग में अखण्ड स्वभाव पूर्ण अविकारी ध्रुव है, यह जानले तो विकार दूर किया जा सकता है। भेद के लक्ष से राग होता है, और अखण्ड ज्ञायक के लक्ष से राग दूर होता है।

आचरण का अर्थ इसप्रकार है.—आ=अनादि अनन्त एकाकार ज्ञान–आनन्दस्वरूप आत्मा है उसकी मर्यादा में, चरण=चलना, जमना, स्थिर होना। पुण्य–पाप के भेद से रहित अकषाय भाव की स्थिरता को सर्वज्ञ भगवान ने चारित्र कहा है। ऐसा समझे बिना मात्र बाह्य–प्रवृत्ति को चारित्र मानले और व्यवहार–व्यवहार किया करे किन्तु समझे कुछ भी नही तो उसे धर्म कहाँ से होगा?

स्फटिक मणिमें जैसे अपनी योग्यता से लाल–काला प्रतिबिम्ब दिखाई देता है तथापि वह उसका मूल स्वभाव[1] नही है, इसीप्रकार आत्मा में अज्ञानभाव से पुण्य–पापरूप अवस्था होने की योग्यता है। वह विकारी अवस्था आत्मा में होती है, उसका कर्ता अज्ञानी जीव स्वय है, उसमें परवस्तु निमित्त कहलाती है। मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, पर

---

१ स्वभाव=जो पर–निमित्त के आश्रयके बिना एकरूप स्थिर रहे।

का कर्ता हूँ ऐसी मान्यता–भूल करने की योग्यता जीव में न हो और पर–निमित्त बलात् भूल कराये ऐसा नहीं हो सकता ।

क्षणिक विकार मेरा स्वभाव नहीं है देहादिक कोई परवस्तु मेरी नहीं है, मैं प्रकाशित एकरूप ज्ञायक हूँ विकार का नाशक हूँ– ऐसी श्रद्धा सम्यकदर्शन है ।

मुझमें कर्म का आवरण नहीं है जड़कर्म अपनी जड़ अवस्था के रूप में अपने क्षेत्र में रहता है, उसके आश्रय से होने वाला विकार भी परमार्थ से मेरा नहीं है मैं अज्ञान भाव से उसका कर्ता बन गया था । मेरा स्वभाव त्रिकाल अविकारी है ऐसे स्वभाव की प्रतीति में पर–निमित्त का भेद–विकार दिखाई नहीं देता । आत्मा के साथ एक आकाश क्षेत्र में दूसरी वस्तु है उसके निमित्त से अपनी योग्यता से भूल के कारण पुण्य–पाप के भाव वर्तमान अवस्थामात्र तक होते हैं वे मेरे हैं करने योग्य हैं इसप्रकार जो मानता है उसे यह श्रद्धा नहीं है कि आत्मा विकार का नाशक और सदा अविकारी स्वभाव है । मेरे स्वभाव में कमी नहीं है विकार नहीं है पर का संयोग नहीं है, मेरा स्वभाव किसी के आधीन नहीं है ऐसी स्वतंत्र प्रभुस्वभाव की श्रद्धा होने पर निर्विकल्प अनुभव सहित अखण्ड प्रभुदृष्टि में पूर्ण की प्रतीति होती है ।

इस यथार्थ समझ के बिना दृष्टि में परिपूर्ण स्वभाव यथार्थ तया लक्ष में आये बिना निर्मल स्वभाव के लक्ष से विकारी अवस्था का नाश निर्विकारी अवस्था का उत्पाद (व्यवहार) और अविनाशी अखण्ड वस्तु प्रभु है (निश्चय) ऐसी व्यवहार–निश्चय की अविरोधी संधि नहीं हो सकती ।

कोई रजकण की क्रिया मेरी नहीं है । अंगुलि संचालन भी आत्मा के आधीन नहीं है । परवस्तु का कोई कार्य कोई आत्मा व्यवहार से भी नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़वस्तु भिन्न–भिन्न है स्वतंत्र है । प्रत्येक वस्तु में अवस्था की उत्पत्ति, विनाश और वस्तुत्व के रूप में स्थिर रहना (उत्पाद, व्यय ध्रौव्य) निज से

ही होता है। किसी की क्रिया किसी के आधार से नहीं होती। किसी को किसी से हानि-लाभ नहीं हो सकता। पर के अवलम्बन से आत्मा मे होने वाला विकारीभाव क्षणिक अवस्था तक ही है, वह आत्मा का ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं विकार का नाशक और गुण का रक्षक हूँ-ऐसी यथार्थ प्रतीति के विना पूर्ण स्वरूप की प्रतीतिरूप सम्यक्दर्शन की आत्मानुभव सहित प्राप्ति नही होती। जो वाह्य प्रवृत्ति से और वाह्यमे ही धर्म मान वैठे हैं वे तत्वज्ञान का विरोध करते है, क्योंकि उन्हे पर से भिन्न अविकारी परमार्थस्वरूप का अनादिकाल से विस्मरण और पर का स्मरण विद्यमान है। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कही गई वस्तु अनादि-कालीन अनभ्यास के कारण समझना दुर्लभ हो गई है, वैसे वह स्वभावत सहज है, यदि स्वत. तैयार होकर समझना चाहे तो दुर्लभ नही है। पुण्य-पापकी भावना प्रतिक्षण वदलती रहती है, वह आत्माका ध्रुवस्वभाव नही है। ऐसे अविकारी स्वभाव की प्रतीति होने के वाद जवतक वीतराग नहीं हो जाता तवतक ज्ञानी जीव शुभाशुभभाव में युक्त होकर भी अन्तरग से उसका कर्ता नही होता और उस भाव को करने योग्य नही मानता।

जहांतक आत्मा पर से निराला, अखण्ड, ज्ञायक, असग है, उसकी परमार्थ से यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान की प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो वहांतक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन-वचनो का सुनना और धारण करना आवश्यक है। किन्तु जिसे श्रवण ही नही करना है अथवा श्रवण करने के बाद जिसे सत्य-असत्य की तुलना नही करनी है वह यह क्योकर निश्चय करेगा कि सच्चा उपदेश कौनसा है। पहले इतनी तैयारी के विना वह न तो सत्य का जिज्ञासु है और न सत्य का शोधक या इच्छुक ही है।

जगत के समस्त धर्म, सभी देव और सभी गुरु सच्चे हैं, यह मानना सत्य और असत्य को एकसा मानने की मूढता के समान है, अविवेक है। जव बाजार में दो पैसे की हण्डी लेने जाता है तव उसे खूब ठोक-वजाकर परीक्षा करके लेता है, तथा बाजार की अन्य कोई

भी चीज जो असी दुकानदार देता है उसे वैसी ही आँख बन्द करके नहीं ले लेता तब फिर जो परमहितरूप आत्मा है जिसके यथार्थ स्वरूप को जानने पर भ्रम-भव की भूल मिट जाती है उसमें अज्ञान क्यों रहता है ? अपूर्व वस्तु को समझाने में सच्चा निमित्त कौन हो सकता है इसकी पहले यथार्थ पहिचान करनी चाहिये। जो भोला यथार्थ वस्तु को समझने की परवाह नहीं करते और मध्यस्थ रहकर शोधकरूप से सत्य क्या है इसकी तुलना नहीं करते एवं चाहे जैसा उपदेश सुनकर उसमें 'हाँ जी हाँ' किया करते हैं वे ध्वजपुच्छ के समान हैं।

जैसे वर्षा के दिनों में बालक धूल के घर बनाते हैं किन्तु वे रहने के काम में नहीं आते उसीप्रकार चैतन्य अविनाशी स्वभाव क्या है ? उसे समझे बिना अपनी विपरीत मान्यताके अनुसार शुभ विकल्प से बाह्य क्रिया से, पुण्य-पाप में धर्म माने मनावे किन्तु उससे अनित्य अशरण और दुःखरूप संयोग ही मिलता है। वह असंयोगी शाश्वत शांति का लाभ प्राप्त कराने के काम में नहीं आता। इसलिये जो सुखस्वरूप आत्मा है उसकी पहिचान स्वयं अपने आप निश्चित करनी पड़ेगी। अवस्था में भूल करनेवाला मैं हूँ, भूल को—दुःख को जानने वाला 'मैं' सुखरूप या दुःखरूप नहीं हूँ संयोगी अवस्था बदलती है किन्तु मैं बदल कर इसी में मिल नहीं जाता अथवा नाश को प्राप्त नहीं होता भूल और विकारी अवस्था का नाश अभ्रान्त—अविकारी अवस्था की उत्पत्ति और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहने वाला मैं ध्रुवरूप हूँ। यह उपदेश पूर्वापर विरोध रहित है अथवा नहीं इसका निर्णय जिज्ञासुओं को करना चाहिये।

बहुमत को देखकर खोटे को खरा नहीं कहा जा सकता। हमारी देवी के बराबर बड़ा और कोई विश्व में नहीं है ऐसा तो भील इत्यादि भी कहा करते हैं। भला अपनी मानी हुई वस्तु को कौन हलका कहेगा ? प्रत्येक दुकानदार अपने माल को ऊँचा कहकर उसकी प्रशंसा करता है किन्तु ग्राहक उसकी परीक्षा किये बिना योंही नहीं ले लेता देख भालकरही लेता है। इसीप्रकार जिससे यथार्थ उपदेश मिलता

है ऐसे वीतरागी वचन कौन से हैं, और उनमे क्या कहा गया है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वीतराग के वचन में कही से भी कोई विरोध नही आसकता। प्रत्येक तत्व भिन्न और स्वतंत्र है। जीव अनादि-काल से समय-समय पर वर्तमान क्षणिक अवस्था में भूल और विकार करता चला आया है, वह भूल और विकार त्रैकालिक शुद्धस्वभाव के लक्ष से स्वाधीनतया दूर किया जा सकता है। राग द्वेष की अवस्था को जानकर, राग-द्वेप रहित अविनाशी स्वरूप को जाना और उसकी श्रद्धा के द्वारा राग को दूर करने का उपाय करके वीतरागदशा प्रगट की, इसमे निश्चय और व्यवहार दोनो की अपेक्षा आगई। इसप्रकार एक तत्व में दो प्रकार हैं—जिसे यह खबर नही है उसे वीतराग के वचन की यथार्थ पहिचान नही है।

पहले यह जानना होगा कि—यथार्थ उपदेश कहाँ से प्राप्त होता है, उसकी परीक्षा करनी पडेगी। जहाँ अपने में अपूर्व तत्वको समझनेकी जिज्ञासा होती है वहाँ सत्य को समझाने वाले मिल ही जाते हैं, समझाने वाले की प्रतीक्षा नही करनी पडती यदि कदाचित् ज्ञानी का योग न मिले तो सच्ची आंतरिक लगन वाले जीव को पूर्वभव के सत् समागम का अभ्यास याद आजाता है। उपदेश के सुन लेने से तत्व को समझ ही लिया जाता हो सो बात नही है, किन्तु जब समझने की तैयारी हो तब उपदेश का निमित्त उपस्थित होता है। और जब स्वय समझता है तब निमित्त का आरोप करके उसे उपकारी कहा जाता है। यदि मात्र सुनने से ही ज्ञान होजाता हो तो यह सबको होना चाहिये। घडे के साथ घी का सयोग होने से वह (घी के आरोप से) व्यवहार से 'घी का घडा' कहा जाता है, और पानी के सयोग से पानी का घडा कहलाता है किन्तु वास्तव में वे घडे मिट्टी के होते हैं। इसीप्रकार जिसमे सत्य को समझने की शक्ति थी उसने जब सत्यको समझा तब साथ ही सयोग भी विद्यमान था इसलिये विनय-भाव से व्यवहार में यह आरोपित करके कहा जाता है कि—उस सयोग से धर्म को प्राप्त किया है। यदि निश्चय से ऐसा मानले तो कहना

होगा कि उसने दो तत्वों को भिन्न नहीं माना है। जब जन्म-मरण के दुःख और पराधीनता की वेदना मालूम हो और यह श्रद्धा में आये कि कोई अनित्य संयोग मुझे शरणभूत नहीं है तब शरणभूत वस्तु क्या है सत् क्या है यह जानने की अन्तरंग से उत्कट आकांक्षा उत्पन्न होती है इसप्रकार अपूर्व सत् क्या है यह जानने के लिये तैयार हुआ और सत् को जाना तब जिस ज्ञानी का संयोग होता है वह निमित्त कहलाता है।

प्रश्न—समझने वाला बिना ही सुने यथार्थ-अयथार्थ का निश्चय कैसे करेगा ?

उत्तर—जहाँ आत्मा की पात्रता होती है वहाँ श्रवण करने को मिलता ही है किन्तु यथार्थ–अयथार्थ का निश्चय करने वाला आत्मा स्वयं ही है। एकबार स्वयं जागृत होने पर संदेह नहीं रहता। जहाँ मुक्त होने की तैयारी हुई अनन्तकाल के जन्म–मरण का नाश और अविकारी मोक्षभाव की उत्पत्ति तथा प्रारम्भ हुआ वहाँ संदेह रह ही नहीं सकता। मैं नित्य स्व-रूप से हूँ पर–रूप से नहीं हूँ तब फिर मुझे परवस्तु लाभ या हानि नहीं कर सकती। जो ऐसा निःसंदेह विश्वास करता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ मुझमें पराधीनता नहीं है उसके भव शेष नहीं रहता। किन्तु जिसके भव का संदेह दूर नहीं होता उसे निःसंदेह स्वभावका सन्तोष और सर्व-समाधान रूप शान्ति प्रगट नहीं होती। यथार्थ वस्तु की प्रतीति होने के बाद चारित्र की अल्प अस्थिरता रहती है किन्तु स्वभाव में और पुरुषार्थ में संदेह नहीं रहता ?

अज्ञात स्थान में अपने आदमी को निधड़क पैर उठाकर चलने का साहस नहीं होता क्योंकि उसे यह शंका बनी रहती है कि यह मार्ग सीधा होगा या कहीं कुछ टेढ़ा–मेढ़ा होगा ?

प्रश्न—जब कोई मार्ग बताये तभी तो वह चल सकेगा ?

उत्तर—दूसरा तो मात्र दिशासूचन ही कर सकता है कि भाई ! सीधे मार्ग को सीध में चले जाओ। यह सुनकर जब अपने को उसको

सज्जनता का विश्वास होता है तभी उस दिशा मे नि·शक होकर कदम वढाता है। इसीप्रकार सच्चे उपदेश को सुनकर भी यदि स्वय नि सदेह न हो तो उसका आतरिक वल निर्मल स्वभाव की ओर उन्मुख नही हो सकता। वह यह मानता है कि वहुत सूक्ष्म वातो को समझकर और वहुत गहराई मे जाकर क्या लाभ है? अपने से जो कोई करने को कहता है सो किया करो, ऐसा करते करते कभी न कभी लाभ हो जायेगा'। किन्तु जवतक अपने स्वाधीन पूर्णरूप स्वभाव को जानकर उसमे नि सदेह दृढता न करे तवतक स्वभाव में स्थिर होने का काम नही हो सकता।

प्रश्नः—कोई विश्वास पूर्वक कहे तभी तो माना जायेगा?

उत्तर—जव निज को अन्तरग से विश्वास का सन्तोष होता है और जो अपने को अनुकूल वैठता है उसे मानता है तव निमित्त में आरोपित होकर कहता है कि मैंने इससे माना है, किन्तु वास्तव मे तो मानने वाला उसे ही मानता है जो अपने भाव से अनुकूल वैठना है। जैसे कोई घनवान की प्रशसा करता है तो वह वास्तव में उस घनिक व्यक्ति की प्रशसा नही करता, किन्तु अपने मन में घन का वडप्पन जम गया है इसलिये उस जमावट के गुण गाता है, इसीप्रकार जब अपने अन्तरग में वात जम जाती है तव निमित्त मे आरोपित करके यह कहा जाता है कि-मैंने यह प्रस्तुत व्यक्ति से समझा है। (जैसे घी का घडा कहा जाता है)

जो अनादिकाल से सत्यस्वरूप को नहीं जानता, उसने सत् को समझने की जिज्ञासा पूर्वक तैयारी करके यह कहा कि जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है उन वीतराग वचनो को सुनना चाहिये और धारण करना चाहिये, उसमें जहाँ सत् उपादान होता है वहाँ सत् निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा मेल बताया है। असत् उपदेश सत् के समझने में निमित्त नही होता। सत्समागम की महिमा बताने के लिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि "दूसरा कुछ मत ढूंढ़, मात्र एक सत्

पुरुष को ढूंढकर उसके चरणकमल में (आज्ञाङ्क* में) सद्भाव समर्पित करके प्रवृत्ति किये जा फिर भी यदि मोक्ष न मिले तो मेरे पास से लेना"। त्रिकाल के ज्ञानियों ने जिसप्रकार निःशंक स्वभाव की प्रतीति की है करते हैं और करेंगे उसी के अनुसार जो निःशंक होकर चला जाय वह वापिस हो ही नहीं सकता—मोक्ष को अवश्य प्राप्त करेगा"—ऐसा विश्वास दिलाते हैं।

जिसे सत् की यथार्थ आकांक्षा उत्पन्न हुई है उसे यथार्थ उपदेश मिले बिना नहीं रहता। जैसे जंगल में जो अंकुर बढ़ने के लिये उगे हैं उन्हें वर्षा का निमित्त मिले बिना नहीं रहता। इसीप्रकार जिसने अन्तरंग स्वभाव से पूर्ण सत् को प्राप्त करने की तैयारी की है उसके लिये अनुकूल निमित्त (निमित्त के स्वतंत्र कारण से) उपस्थित होता ही है। किसी को भी तैयार होने के बाद निमित्त के लिये रुकना नहीं पड़ता ऐसा त्रिकाल नियम है। ऐसा वस्तुतत्त्व स्वतंत्र है। निमित्त की संयोगरूप से उपस्थिति मात्र है किन्तु वह उपस्थित वस्तु किंचित् मात्र सहायता नहीं कर सकती क्योंकि प्रत्येक वस्तु सदा भिन्न-भिन्न है और सम्पूर्ण स्वतंत्र है। स्वतंत्र वस्तु को किसी दूसरी वस्तु की सहायता नहीं होती।

जो ऐसे तत्त्वज्ञान का विरोध करते हैं वे वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय पर्याय में उत्पन्न होकर तुच्छदशा को प्राप्त होते हैं और उसी में अनन्तकाल तक अनन्त जन्म-मरण करते हैं। तब सत् का विरोध करने से चैतन्यशक्ति अत्यंत हीन होकर रुक जाती है और वह अनन्त काल में दो इन्द्रिय के रूप में भी उत्पन्न नहीं होते।

जिन्हें सत् के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिये मात्र ज्ञानी के द्वारा कही गई विधि से स्वतंत्र सत् को ही समझना है और मोक्ष ही प्राप्त करना है ऐसे यथार्थ जिज्ञासा के अंकुर जिनके अन्तरंग में अंकुरित हुए हैं उन्हें सदुपदेशक का समागम अवश्यमेव प्राप्त होता है।

---

* आज्ञा—ऐसा स्वतंत्र स्वभाव है उसका ज्ञान। आ—मर्यादा, ज्ञा—ज्ञान।

अमुक उपदेश मे यथार्थता है या नही, इसका यथार्थ निर्णय करने में आत्मा स्वयं ही कारण है। वह किसी के आधीन नही है—ऐसा अकारण स्वतन्त्र द्रव्य है। क्योंकि वह स्वय अनादि-अनन्त सत्-स्वरूप है। अपनी परवाह करे तो सत् समझ में आये—समझने का उत्साह निज में से ही आता है और उसमे स्वय ही कारण होता है। जहाँ यथार्थ का निर्णय करने की अपनी तैयारी है वहाँ वैसा ही निमित्त उपस्थित होता है। समझने के बाद उपचार से विनय के लिये कहा जाता है कि —

क्या प्रभु चरणन में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
वह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरन आधीन॥

[आत्मसिद्धि पद १२५]

इसप्रकार जिसके गुण का प्रकाश हुआ है वह सत् की पहिचान होने से बहुमान करके उसकी महिमा को गाता हुआ कहता है कि—हे प्रभु! आपने मुझे निहाल कर दिया, आपने मुझे तार दिया। किन्तु वह अन्तरग मे जानता है कि मैं स्वत करने वाला हूँ और तरने का उपाय भी मुझमे ही विद्यमान है, तथापि निमित्त मे आरोप करके उसका बहुमान करता है। इसमें अपनी ही स्वतन्त्रता की विज्ञप्ति है।

शास्त्रो में व्यवहार से बहुत कुछ कथन आता है, जो कि घी के घडे और पानी के घडे की भाँति व्यवहारिक सक्षिप्त कथन शैली है, उसका परमार्थ अलग होता है। कोई द्रव्य पर-सत्ता के आधीन नही है। जिसने अनादिकाल से सत्स्वरूप को नही समझा वह भी जब समझने को तैयार होता है तब सत् को समझाने वाला निमित्त अवश्य उपस्थित होता है। जब स्वय भीतर लक्ष करके स्वयं—स्वत. समझता है। तब पर वस्तु निमित्तमात्र होती है, तथापि वह उपकारी कहलाती है। समझने के समय निमित्त को और सुनने की ओर के राग को भूलकर, अन्तरग में स्वलक्ष से ही समझा है, इसका कारण स्वय अनन्त शक्तिरूप स्वतन्त्र द्रव्य है।

इसप्रकार यथार्थ जिन वचन–वीतराग वचन से समझना चाहिए, उसमें समझने वाले का भाव अपने उपादान का है। वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा इसका निर्णय करता है कि यथार्थ उपदेश का निमित्त कौन है यह सच्चे पुरुषार्थ से निज की अपूर्व जागृति करता है। वह पहले निश्चय करना चाहिये कि किसका वचन सत्य माना जाय। जो कुछ सुनने को मिलता है वह पूर्व–पुण्य का फल है। पुण्य परवस्तु है वह परवस्तु का संयोग कराता है किन्तु उससे धर्म नहीं होता। वर्तमान में जीव सत्य को सुनने की जिज्ञासा करता है तथा ऐसा भाव करता है कि–संसार सम्बन्धी राग को छोड़कर सत् समागम करूँ सत्य को सुनने जाऊँ, इसप्रकार की सत् की ओर की रुचि तथा शुभ भावों का करना पूर्वकृत पुण्य का फल नहीं किन्तु वर्तमान का नया पुरुषार्थ है।

वर्तमान के अशुभभाव को बदलकर नवीन प्रयत्न से शुभभाव किया जा सकता है। धर्म को सुनने की ओर की वृत्ति भी शुभभाव है। अशुभभाव को बदलकर नवीन शुभभाव करने से नवीन पुण्य–बन्ध होता है तथापि वह कुछ अपूर्व नहीं है क्योंकि इस जीव ने पुण्य तो अनन्तबार किया है। किन्तु यह उपदेश यथार्थ है या नहीं, और उसके कहने का आशय क्या है इसे ठीक समझकर वस्तु का यथार्थ निर्णय करना सो वर्तमान में किया गया अपूर्व पुरुषार्थ है।

ग्यारहवीं–बारहवीं गाथा की टीका में कुछ अपेक्षाएँ आती हैं उनका विवेचन यहाँ किया जारहा है —

ग्यारहवीं गाथा में कहा है कि–सम्यग्दर्शन का लक्ष अखण्ड ध्रुव वस्तु पर है। उसके बल से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और मोक्ष की अवस्था होती है। वह अवस्था है–भेद है। जैसे पानी का सहज स्वच्छ स्वभाव ढक गया है यह कहना व्यवहार–उपचारमात्र है क्योंकि स्वभाव में अन्तर नहीं पड़ता। अवस्था ढकती है और अवस्था प्रगट होती है तथापि पर्यायके उपचारमात्र से कह दिया जाता है कि पानी का स्वभाव ढक गया। इसीप्रकार उपचार से कहा जाता है कि–प्रबल

कर्म के मिलने से आत्मा का सहज ज्ञायकभाव ढक गया है, किन्तु सहजभाव नित्य एकरूप स्वभाव है, उसमे ढकने और प्रगट होने की अपेक्षा परमार्थ से नहीं होती, मात्र अवस्था (पर्याय) मे मलिनता-निर्मलता का भेद होजाता है। वर्तमान अवस्था पर-सयोग के आधीन हुई है वैसा ही जो अपने को मान लेता है उसे यह खबर नही होती कि अपना अखण्ड सहज ध्रुव स्वभाव कैसा है। जिसे सहज वस्तु-स्वरूप की प्रतीति नही होती उसका सपूर्ण आत्मा ढक गया है—ऐसा पर्यायदृष्टि से कहा जाता है। जिसे त्रैकालिक वस्तु की प्रतीति होगई है उसकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है और उसका द्रव्य प्रगट हुआ है ऐसा उपचार से कहा जाता है। एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करता है—ऐसा कहा सो त्रैकालिक ज्ञायकभाव का वर्तमान पर्याय मे अनुभव हुआ इस अपेक्षा को लक्ष में रखकर कहा गया है। जिसे निर्मल पर्याय का अनुभव नही है उसे अपनी अखण्ड वस्तु का अनुभव नहीं है ऐसा कहा है।

सम्यक्दृष्टि भूतार्थ नय के आश्रित है; व्यवहारनय अभूतार्थ है, अर्थात् बध-मोक्ष की अवस्था, सम्यक् और मिथ्याज्ञान की अवस्था तथा अशुद्ध और शुद्ध इत्यादि अवस्थाके भेद व्यवहारनयका क्षणिक और अनेकरूप विषय है। उस भेद के लक्ष से निर्मलता प्रगट नहीं होती। अल्पज्ञ को भेद के ऊपर लक्ष जाने पर राग हुए बिना नहीं रहता। और अनन्तशक्तिरूप अखण्ड वस्तु ध्रुव है—भूतार्थ है, उसका विषय करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विकल्प दूर होजाता है। इसलिये विकल्प और भेदरूप क्षणिक भाव को अभूतार्थ कहा है। भूतार्थ और नित्य स्थायीवस्तु का विषय करने पर निर्मल श्रद्धा और निर्मल ज्ञानरूप अवस्था प्रगट हुई इसलिये उपचार से सहज ज्ञायकभाव वस्तु प्रगट हुई—यह कहा है।

किसी तालाब में बहुत मोटी काई जमी हुई थी। कुछ समय के बाद काई फट गई, उसमें से एक कछुए ने जो कि जन्म से ही काई के नीचे पानी में रह रहा था ऊपर आकर आकाश की ओर देखा

तो उसे पहली बार ही तारामण्डल और उसके मध्य में चमकता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा दिखाई दिया। इस चमकते हुए दृश्य को देखकर–चन्द्रमा के दर्शन करके कछुए न सोचा कि–आज यह चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है ऐसा तो पहले कभी नहीं देखा था। इस प्रकार उस कछुए की दृष्टि से चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है। इसी प्रकार जब यह जाना कि–*आत्मा पर से निराला, अविकारी विकास* पूर्ण है तब ऐसा परम अद्भुत द्रव्यस्वरूप पहले कभी नहीं जाना था इसलिये यहाँ कहा जाता है कि सम्पूर्ण आत्मा नया हो जाता है। यहाँ भेदविज्ञान सहित शुद्धनय के द्वारा अखण्ड विकास पूर्णरूप का लक्ष करने पर वर्तमान अवस्था में अखण्ड ज्ञायकस्वभाव ज्ञात होने पर पर्याय का अनुभव हुआ है उसे सम्पूर्ण ज्ञायक स्वभाव ज्ञात हुआ है इसप्रकार अर्थ का कथन समझना चाहिये।

जैसे कछुए ने कभी चन्द्रमा नहीं देखा था वह दूसरे कछुओं से कहे कि–*मैंने आज सारा चन्द्रमा अपनी आँखों से देखा है। किन्तु* जिसने कभी चन्द्रमा की बात भी न सुनी हो और कभी उसके सम्बन्ध में कुछ जाना भी न हो ऐसे उसके कुटुम्बीजन तो यही कहेंगे कि तेरी बात मिथ्या है तू यह नई गप्प कहाँ से लाया? सच तो यह है कि चन्द्रमा नया नहीं है किन्तु कछुए की दृष्टि उस पर नहीं थी और अब उसकी दृष्टि चन्द्रमा पर गई पड़ी है इसलिये वह कहता है कि–मैंने नया चन्द्रमा देखा है। चन्द्रमा को देखने वाले कछुए की बात को दूसरे कछुए नहीं मानते। आत्मा स्वभाव से असंग मुक्त ही है किन्तु अवस्थादृष्टि से आवृत या अनावृत (पर–निमित्त के भेद की अपेक्षा से) कहा जाता है सो व्यवहार है। वास्तव में तो अपनी अज्ञान और विकाररूप अवस्था से हीन परिणमन किया था जो कि आवरण है। पर से आवृत हुआ अथवा सम्पूर्ण आत्मा का ढका हुआ है यह कहना उपचार मात्र है इसीप्रकार उपचार से कहा जाता है कि—

क्या प्रभु चरणन में धरूँ, आत्मा से सब हीन।
यह तो प्रभु ने ही दिया, रहूँ चरण आधीन॥

हे प्रभु ! आपने मुझे सम्पूर्ण आत्मा दिया है ऐसा विनय से कहते हैं, किन्तु क्या सचमुच कोई आत्मा दे सकता है अथवा उसकी पर्याय दी जासकती है। कोई किसी को नही दे सकता तथापि यहाँ उपचार से कहते हैं कि—हे प्रभु ! आपने मुझे अखण्ड आत्मा प्रदान किया है। इसीप्रकार वर्तमान अवस्था से अखण्ड के लक्ष से पर्याय के प्रगट होने पर कहा जाता है कि सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव प्रगट हुआ है। उस प्रतीतिरूप प्रगट निर्मल अवस्था मे उसकी विषयभूत अखण्ड वस्तु का आरोप करके उस अपेक्षा मे यह कहा जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु नई ही प्रगट हुई है। जो शुद्धनय तक पहुँचे हैं (यहाँ बारहवी गाथा में शुद्धनय का विषय केवलज्ञान पर्याय ली है, किन्तु वास्तव मे शुद्धनय का विषय अखण्ड-पूर्ण वस्तु है।) जो पुरुष अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का (केवलज्ञान का) अनुभव करते हैं, (शक्तिरूप से पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव तो था किन्तु शुद्धनय के द्वारा अखण्ड को लक्ष में लेकर प्रतीति पूर्वक स्थिर होकर जो अंतिम अवस्थारूप पूर्ण केवलज्ञान का अनुभव करते हैं) उनके शुद्धनय का विषय अपूर्ण नहीं रहा, किन्तु वे उसके फल वीतरागता का ही अनुभव करते हैं। केवलज्ञान अखण्ड प्रमाणरूप है, उसमें नयभेद नही होता इसलिये उसे व्यवहारनय का विषय नही माना तथापि केवलज्ञान ज्ञानगुणकी अवस्था है इसलिये व्यवहार है।

सोने को प्रथम-द्वितीय आदि ताव देने पर—अथवा शुद्ध होने पर सोना शुद्ध हुआ कहलाता है, उसीप्रकार यहाँ शुद्धनय से अचलित एक स्वभावरूप एक भाव प्रगट हुआ कहा है। वहाँ वस्तु तो शुद्ध ही थी किन्तु शुद्धनय के द्वारा अखण्ड का लक्ष करने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की क्रमशः पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उस अपेक्षा से सम्पूर्ण आत्मा प्रगट किया ऐसा शुद्धनय केवलज्ञान समान होने से जाना हुआ प्रयोजनवान् है। (यहाँ जो पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट हुई उसमें सारी वस्तुका आरोप है) शुद्धनय को केवलज्ञान का विषय करने वाला कहा है और सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका के समान (सौटची शुद्ध सोने के समान)

केवलज्ञान के समान कहा है इसप्रकार जो केवलज्ञानरूप विषय प्रगट हुआ उसे और विषय करने वाले-दोनों को समान कहा है। उसमें से केवलज्ञान का लक्ष करने वाले शुद्धनय को कारण मानकर उसका कार्य (शुद्धनय का फल) वीतरागता-केवलज्ञान हुआ, उसका कारणमें आरोप करके केवलज्ञानकी प्रत्यक्ष अवस्था को शुद्धनय कह दिया है। शुद्धनय ज्ञान का अंश है उसके द्वारा जो प्रत्यक्ष केवलज्ञान हुआ है वह उसका (शुद्धनय का) प्रगट हुआ विषय है उसका उपचार करके जो विषय प्रगट हुआ उसे शुद्धनय कह दिया है।

(१) द्रव्य प्रगट नहीं होता किन्तु पर्याय के द्वारा स्व द्रव्य के आलम्बन से निर्मल अवस्था प्रगट होती है तथापि स्वाश्रय से जो नवीन अवस्था प्रगट हुई उसे कारण में कार्य का उपचार करके यह कह दिया है कि द्रव्य प्रगट हुआ है। जैसे वस्तु की यथार्थ प्रतीति होने पर यह कहा जाता है कि-सम्पूर्ण वस्तु की प्राप्ति हुई है।

(२) शुद्धनय का विषय अखण्ड द्रव्य होने पर भी केवलज्ञान पर्याय को उपचार से ही शुद्धनय का विषय कहा है। पर्याय के अनुभव को उपचार से द्रव्य का अनुभव कहा है।

(३) शुद्धनय ने जिस केवलज्ञान को अपना विषय बनाया उसे शुद्धनय के फलरूप से (विकल्प रहित प्रगट भाव को) शुद्धनय कह दिया है। केवलज्ञान में विकल्प-भेद नहीं है इस अपेक्षा से यद्यपि केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय कह दिया है।

(४) केवलज्ञान पर्याय है व्यवहार का विषय है, तथापि उसे प्रमाण की अपेक्षा से शुद्धनय का विषय कह दिया है।

यद्यपि कथन पद्धति भिन्न है तथापि उसमें अपेक्षा का मेल करते है, यह कहते हैं —यद्यपि यह कहा है कि शुद्धनय को केवलज्ञान में अनुभव करते हैं किन्तु वहाँ अनुभव तो सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान का है उसमें द्रव्य अथवा पर्याय को विषय करने वाला क्रमरूप ज्ञान नहीं है इसलिये केवलज्ञान में नय नहीं है। नय तो अपूर्ण ज्ञान में होता है तथापि वहाँ शुद्धनय वाला हुआ प्रयोजनवान है, अर्थात् तत्सम्बन्धी ज्ञान यथार्थ

होगया है, उसमें युक्त होना (जुडना) शेष नही रह गया है, और यह ज्ञात हो गया है कि—केवलज्ञानरूप सम्पूर्ण स्वरूप क्या है, अब कुछ विशेष जानना शेष नही रहा, यही प्रयोजन है। केवलज्ञान प्रमाण प्रगट हुआ है, नय प्रगट नही हुआ, किन्तु नय का विषय अखण्ड द्रव्य मे अभेदरूप से जुड़ गया है।

केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय का विषय कहा है। जो केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हुई है वह व्यवहार है, उसे शुद्धनय का विषय प्रगट हुआ कहा है, अर्थात् जो पर्याय प्रगट हुई है उसे द्रव्य का प्रगट होना कहा है, इसप्रकार जिसे यथार्थ वस्तु की प्रतीति की प्राप्ति हुई उसे वस्तु की—ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति हुई ऐसा कहने में प्रतीतिरूप प्रगट हुई पर्याय में पूर्ण वस्तु का विषय किया गया कहलाता है, क्योकि—द्रव्य का लक्ष करने वाली पर्याय स्व-द्रव्य के आश्रय से नई प्रगट हुई है, उसमें द्रव्य प्रगट हुआ है अथवा सहज एक ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ है इसप्रकार कारण मे कार्य का उपचार करके कहा जाता है। द्रव्य का अनुभव नही हो सकता किन्तु पर्याय का अनुभव होता है, वस्तु वेदी नही जाती। यदि अवस्था को अपनी ओर करे तो अच्छे-बुरे की भेदरूप आकुलता का वेदन नहीं होगा, किन्तु परलक्ष से अच्छा—बुरा मानकर मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ यो कल्पना करके आकुलता का वेदन करता है। शुभाशुभ-पुण्य-पाप की भावना ही आकुलता है।

सर्वज्ञ भगवान का उपदेश तलवार की धार के समान है। उसके द्वारा जो यथार्थ वस्तु को समझ लेता है वह भव—बन्धनको काट देता है। अनन्तकाल से सत्य को नही समझा था, उसे जब समझा तब अखण्ड ध्रुव वस्तु के लक्ष से निर्मल पर्याय प्रतीति भाव से प्रगट हुई, उसका अभेद स्व-विषय अखण्ड आत्मा है इसलिये उसकी प्रतीति की प्राप्ति को स्वरूप की प्राप्ति कहा जाता है, और यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव कर लिया किन्तु सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव नहीं होता, लेकिन वर्तमान में रहने वाली अवस्था का अनुभव होता है।

आत्मा में शक्तिरूप से सदा ध्रुवरूप में अनन्तगुण विद्यमान हैं, 'गुण प्रगट हुआ' इस कथन का अर्थ यह है कि—गुण की निर्मल पर्याय प्रगट हुई। शास्त्रों में पर्याय का गुण में और गुण का द्रव्य में आरोप करके कथन करने की पद्धति है। यदि अखण्ड वस्तु की पहिचान करानी हो तो प्रस्तुत समझने वाला आत्मा वर्तमान अवस्था के द्वारा समझता है और वर्तमान प्रगट होने वाली अवस्था द्रव्य के आश्रय से द्रव्य से सुधरती है।

बारहवीं गाथा में चारित्र का जघन्य भाव पाँचवें गुणस्थानसे लिया है। अनुत्कृष्ट का अर्थ मध्यम है। प्रारम्भ का चौथे गुणस्थान का जघन्य अंश यहाँ नहीं लेना है। यद्यपि जघन्य भाव स्वरूपाचरण चारित्र सम्यकदर्शन के होते ही चौथे गुणस्थान में आजाता है क्योंकि सामान्य अकेला (विशेष रहित) नहीं होता। प्रथम द्वितीय चतुर्थ आदि पाकों की परंपरा अर्थात् सम्यकदर्शन के बाद अन्तर स्थिरता रूप एकाग्रता की वृद्धि का प्रारम्भ पाँचवें के बाद छट्ठे—सातवें गुण स्थान से लेकर जहाँतक पूर्ण वीतराग न हो वहाँ तक मध्यम भाव की भूमिका है।

जहाँ यथार्थ अनुभव सहित स्वाश्रित अभेद का लक्ष किया वहाँ विकल्प का अभ्यास नहीं होता। फिर जब विकल्प आता है तब साधक भाव का व्यवहार अवश्य आता है। अभी चारित्र की अशक्तिरूप वर्तमान अवस्था में कमी है इसलिये पूर्ण निर्मलदशा तक पहुँचने का व्यवहार (साधक भाव अर्थात् मोक्षमार्ग) है उसका अनुभव पूर्ण उत्कृष्ट भाव को प्राप्त करने से पूर्व रहता ही है।

जबतक पूर्णरूप शुद्ध आत्मा की यथार्थ श्रद्धा की प्राप्तिरूप सम्यकदर्शन की प्राप्ति न हुई हो तबतक जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन वचनों का श्रवण करना आवश्यक है। यथार्थता का लक्ष होने में किसी निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं होती। जब यथार्थ स्वरूप का अंश स्वलक्ष से उदित होता है तब यथार्थ उपदेश अपने भाव से स्वीकृत कहलाता है।

सुनने की ओर का जो शुभराग है वह भी सम्यक्दर्शन का कारण नही है। जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है उस यथार्थ पर भार है। यथार्थ का कारण स्व-द्रव्य स्वय ही है। जो उपदेश मिलता है सो तो सयोगी शब्द हैं, और उसमे जो आशयरूप यथार्थ उपदेश है अर्थात् जो अपनी यथार्थता, असंग ज्ञायक अविकारीपन लक्ष मे आता है वह स्वाश्रित लक्ष निमित्त से नही होता, निमित्त और सुनने के राग को भूलकर जहाँ स्वोन्मुख हुआ और यह ज्ञान किया कि यह वस्तु यथार्थ है वह यथार्थ का छोटे से छोटा अश है। राग से आशिक छूटकर जहाँ यथार्थ नि सदेहपन की प्रगट रुचि होती है वहाँ स्व-विषय से सम्यक्दर्शन होता है, उसमें निमित्त कुछ नही करता।

धर्म को समझने के लिये पहले जो व्यवहार आता है वह क्या है, यह यहाँ कहा जाता है। सुनने से पात्रता नही आती, क्योकि–साक्षात् सर्वज्ञ भगवान के पास जाकर अनन्तबार सुना है तथापि कुछ नही समझा। किन्तु जब तत्व का जिज्ञासु होकर, जो कहा जाता है उसका यथार्थ भाव अपने यथार्थपन से समझ लिया तब अहो ! यह अपूर्व वस्तु है, मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी, अविकारी, असयोगी, ज्ञायक हूँ, ज्ञातास्वरूप हूँ, विकल्पस्वरूप नही हूँ इसप्रकार अन्तरग में स्व-लक्ष से प्रतीति की तब वाणी में जो यथार्थता कहना है वह स्वत. निश्चित् करता है।

सम्यक्त्व होने से पूर्व पांच लब्धियाँ होती हैं, उनमें से जो यथार्थ उपदेश है सो देशनालब्धि है। इसका नियम यह है कि एकबार पात्र होकर सत्समागम से ज्ञानी के पास से ऐसा शुद्धनय का उपदेश कान में पडना चाहिये कि मैं अखण्ड ज्ञानानन्द हूँ, असग हूँ, अविकारी हूँ। इसमें पराधीनता नही है किन्तु जहाँ उपादान तैयार होता है वहाँ सच्चे उपदेश का सयोग अवश्य होता है।

आठवीं गाथा में भी पांच लब्धियो के रूप में बात की गई है। "आँखें फाडकर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है" इसमें क्षयोपशम, देशना, प्रायोग्य और विशुद्ध यह चार लब्धियाँ हैं और "अत्यत आनन्द

से सुन्दर बोध तरंग उछलती है ' यह पाँचवीं करणलब्धि है । यथार्थता क्या है आशय क्या है इत्यादि विकल्प उपदेश सुनते हुए यथार्थता को समझने से पूर्व उठते हैं, जो कि व्यवहाररूप भेद हैं। किन्तु जो वस्तु स्वभाव का यथार्थ लक्ष किया सो अकारण है । संयोग की ओर के लक्ष को भूल गया और स्वाश्रय में स्थिरता करने के लिये कुछ रुक गया सो उसमें अपना ही कारण है ।

उपादान में तैयारी का जैसा पुरुषार्थ होता है वैसा ही निमित्त (उसके कारण से) उपस्थित होता ही है। कोई किसी के आधीन नहीं है । उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं । जिसकी सत् को समझने की तैयारी होती है उसके ऐसा पुण्य तो होता ही है कि—यथार्थ का विचार करने पर यथार्थ संयोग अवश्य मिलता है ।

निमित्त का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कहने में आता है कि निमित्त के बिना कार्य नहीं होता किन्तु निमित्त से भी नहीं होता । यदि निश्चय से यह माने कि निमित्त से समझा है तो आशय में बड़ा अन्तर होता है स्वतंत्र उपादान–निमित्त का ऐसा मेल है । किन्तु उसका अर्थ परमार्थ से जैसा है वैसा ही समझना चाहिये । श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि—

> "बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीति,
> पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थीति ।
> यही नहीं है कल्पना, ये ही नहीं विभंग,
> कयि नर पंचम काल में, देखी वस्तु अभंग ।"

साक्षात् ज्ञानी के पास से सुनना ही चाहिये—यह कल्पना नहीं है, किन्तु जिसके उपादान में सत् की तैयारी होचुकी है उसे ऐसा साक्षात् निमित्त अवश्य मिलता है । जब तृषातुर को पानी की चाह होती है और उसे पानी की तीव्र आकांक्षा होती है तब यदि उसका पुण्य हो तो उसे पानी मिले बिना नहीं रहता इसीप्रकार जहाँ अन्तरंग से परमार्थ तत्त्व को समझने की अपूर्व आकांक्षा होती है सत् की ही तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत् उपदेश का निमित्त उसके स्वतंत्र

कारण से उपस्थित होता है। जो प्रत्यक्ष में सद्गुरु के आशय को समझकर स्व-लक्ष करता है वह यथार्थ तत्व के रहस्य को इस काल में भी प्राप्त कर लेता है, इसप्रकार उपादान और निमित्त का सहज सयोग तो होता ही है ऐसी अनादिकालीन मर्यादा है। अन्तरग मे यथार्थता है इसलिये उसके आदर से जो सत् की वात रुचती है वह अपने भाव से ही रुचती है, पर से नही।

प्रश्नः—इसमें व्यवहार क्या है ?

उत्तरः—जिनसे उपदेश सुना उनपर शुभराग से भक्ति-बहुमान होता है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और मिथ्या आचरण का आदर दूर करके राग की दिशा वदली जाती है। ससार के स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा कुटुम्ब, तथा देहादि का राग कम करके, ससारपक्ष के राग से अधिक राग देव, गुरु, शास्त्र और धर्म सम्बन्धी रहता है। जितना अशुभराग कम किया जाता है, उतना शुभराग होता है। वहाँ शुभराग का भी निषेध करके यथार्थ तत्वको समझे तो शुभभाव को व्यवहार कहा जाता है किन्तु उस शुभराग की सहायता से यथार्थता नही आती। अशुभ से बचने के लिये शुभ राग करे किन्तु मात्र राग ही राग रहे और यथार्थ कुछ भी न करे तो राग से वांधा हुआ पुण्य भी अल्पकाल मे छूट जाता है।

यदि जिन-वचनोके आशय का विचार करते हुए यथार्थता का अश प्रगट करे और अपनी ओर अशत. आये तो उस यथार्थता को निश्चय कहा जासकता है। उपदेश को सुना तथा सुनने का शुभराग किया उसे व्यवहार (उपचार से निमित्त) कहा जाता है।

इसमें 'यथार्थ' के गूढ अर्थ की वात है, वह समझने योग्य है। यद्यपि उपादान से काम हुआ है निमित्त से नही हुआ तथापि निमित्त की उपस्थिति थी। मन से आत्माका खूब विचार करने से यथार्थ प्रतीति नही होती। आत्मा तो मन, वाणी, देह शुभराग और उसके अवलम्बन से पृथक् उस पार है। उसको ग्रहण करने का विषय गम्भीर है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ परमार्थ से कोई सम्बन्ध नही है, किन्तु अज्ञान से पर के साथ सम्बन्ध मान लिया है। जो स्वतत्र सत् स्वभाव

को पर से लाभ हुआ मानता है वह पर को और आत्मा को एक हुआ मानता है और वह अपने को असत्क मानता है—अपने में शक्ति नहीं मानता। किन्तु जो 'नहीं' है उसे कहां से लायेगा? यथार्थता का अर्थ पराधीनता नहीं किन्तु पूर्ण स्वाधीनता है। उसमें कमी होनता या विकारिता नहीं होती।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और उनकी दिव्यध्वनि भी परवस्तु है सुनने वाले और समझने वाले को उसका निमित्तमात्र संयोग है तत्सम्बन्धी सुनने का राग पराश्रित विकारभाव है। उससे असंयोगी अविकारी तत्व को लाभ कैसे हो सकता है? यदि निमित्त पर दृष्टि रखे तो निमित्त के लक्ष से होने वाला ज्ञान संयोगाधीन कहलायगा। और संयोग तथा राग क्षणिक है। क्षणिक संयोग (परवस्तु) के आश्रय से होने वाला परावलम्बी ज्ञान भी नाशवान है।

लोगों की ऐसी धारणा है कि किसी दूसरे की सहायता से लाभ हो सकता है कोई मुझे देदे किसी के आशीर्वाद से कल्याण हो जाये इसप्रकार जीव पर से आत्मा का लाभ चाहता है किन्तु यदि अपनी निज की अनन्त शक्ति पर विश्वास न करे तो कोई सत्समागम में रहकर भी क्या कर करेगा? किसी को दूसरे से तीनलोक और तीन काल में भी कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता। यदि अपनी सावधानीसे सत् के प्रति आदरभाव लाकर सत्समागम करे तथा सच्चे देव गुरु, शास्त्र का आदर स्थिर रखकर कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र का किंचित्मात्र भी आदर न करे तो उसे सत् के निमित्त की ओरका शुभराग होता है। यथार्थ उपदेश सुनने पर जो जब निज को निजरूप मानता है अंतरंगमें अनुभव द्वारा यथार्थता ग्रहण की जाती है तब देव गुरु शास्त्र का शुभ राग तथा उपदेश निमित्त कहलाता है।

जिन-वचन को सुनकर उसके आशय को ग्रहण करने के बाद यथार्थ की धारणा होती है। जिन से यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे वीतराग वचनों का श्रवण करना चाहिये वहां ऐसा कहा है वहां स्वाधीन वीतरागता पर भार दिया है। किसी का तत्व किसी के

आधीन होकर प्रगट होता है ऐसा बताने वाले वीतराग के वचन नहीं होसकते। इसमें से अनेकानेक सिद्धान्त निकलते हैं। प्रत्येक आत्मा तथा अपने आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक चेतन तथा जडवस्तु अनादि-अनन्त, स्वतत्र वस्तु है। किसी का द्रव्यगुण पर्याय किसी अन्यके आधीन नही है। कोई किसी के गुण अथवा किसी पर्याय को नही बनाता, कोई किसी का कर्ता नही है। प्रत्येक वस्तु की सम्पूर्ण शक्ति स्वतत्रता से सदा परिपूर्ण बनी रहती है, उस शक्ति को प्रगट करने के लिये किसी सयोग, क्षेत्र, काल या आश्रय की आवश्यकता नही होती। गुणके लिये किसी निमित्तकी प्रतीक्षा नही करनी पड़ती। अपने गुण की दूसरे से आशा रखना अपने को अकिंचित्कर मानना है। वीतराग के निस्पृहता होती है, वे सबको पूर्ण स्वतत्र प्रभुरूप घोषित करते हैं।

यदि कोई यह कहे कि-मैं तुमको समझाये देता हूँ तो समझना चाहिये कि-उसने उस व्यक्ति को परतत्र माना है और उसकी स्वतत्रता का अपहरण किया है। लोगो को परोपकार की बातें करने वाला बहुत अच्छा मालूम होता है किन्तु वास्तव में तो अपना उपकार या अपकार अपने भावो से अपने में ही होता है। उसे पर-सयोग से हुआ कहना घी का घडा कहने के समान व्यवहारमात्र है, इसलिये वह परमार्थ से बिल्कुल अयथार्थ है। लोग व्यवहार में घी के सयोग से मिट्टी के घडे को घी का घडा कहते हैं, तथापि वे उसके वास्तविक अर्थ को समझते हैं।

इसीप्रकार शास्त्र में कही-कही निमित्त से कथन होता है किंतु उसका परमार्थ भिन्न होता है। उस कथन को समझते हुये यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये कि किसी से किसी का कोई कार्य नही होता।

कोई विचार करता है कि-जिसका सत् स्वत स्वभाव है ऐसी पूर्ण वस्तु को समझने वालो के अभिप्राय का निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये, जैसा वे समझे हैं वैसा ही हमें भी समझना है, इसप्रकार अपने को ग्रहण करने के आदर भाव से सत् समागम करे तो वह सत्समागम व्यवहार से निमित्त कहलाता है।

सत्समागम में स्वतंत्र सत् की घोषणा होती है कि—अनन्त आत्मा प्रत्येक पर से भिन्न है। मैं सदा निजरूप से हूँ और पररूप से नहीं हूँ तथा परवस्तु मेरेरूप से त्रिकाल में भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु में अपने आधार से स्वतन्त्रतया स्थिर रहकर पर्याय से बदलना होता है। प्रतिसमय वर्तमान पर्याय का व्यय नई पर्याय की उत्पत्ति और वस्तु का अपनेरूप में त्रिकाल स्थिर रहना इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य गुण पर्याय से है और पर की अपेक्षा से नहीं है। सत्समागम और केवली की वाणी भी परवस्तु है मेरी वस्तु नहीं है वह अपनी अपेक्षा से सत् है और पर की अपेक्षा से असत् है।

देव गुरु शास्त्र वीतराग स्वरूप हैं वे क्या कहते हैं यह सुन कर अपने यथार्थ अस्तित्व को स्वीकार करने में यथार्थ का आंशिक बल परमार्थ की ओर उन्मुख होता है। वहाँ सत् तथा सच्चे निमित्त का बहुमान होने से अशुभराग दूर होकर देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभ भाव हुये बिना नहीं रहते।

प० भागचन्द्रजी कृत 'सत्ता स्वरूप' में अरहन्त का स्वरूप बताकर गृहीत मिथ्यात्व को दूर करने का उपाय भलीभांति समझाया है। परमार्थ तत्व के विरोधी कुगुरु कुदेव कुशास्त्र को ठीक मानना सो गृहीत मिथ्यात्व है। मैं पर का कर्त्ता हूँ कर्मों से घिरा हुआ हूँ पर से भिन्न—स्वतंत्र नहीं हूँ शुभराग से मुझे लाभ होता है इसप्रकार की जो विपरीत मान्यता अनादिकाल से चली आरही है सो अगृहीत अथवा निश्चय मिथ्यात्व है। उस निश्चय—मिथ्यात्व को दूर करने से पूर्व गृहीत मिथ्यात्व अथवा व्यवहार—मिथ्यात्व को दूर करना चाहिये।

एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रियके जीव कुगुरु कुदेव आदि के कदाग्रह को ग्रहण नहीं कर सकते किन्तु सैनी पंचेन्द्रिय होकर वीतराग कथित तत्त्वों से विरुद्ध कुगुरु कुदेव कुशास्त्र को मानने लगता है। व्यवहार में भी ऐसी विपरीत धारणा बना लेता है कि—अमुक की मानता की जाय तो सन्तान होगी शीतला को पूजा करने से बालक नहीं मरेगा अमुक देव हमारी रक्षा कर सकता है इत्यादि। इतना ही

नही किन्तु जो लोकोत्तर वीतराग धर्म के नाम पर सर्वज्ञ भगवान से विरुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपदेश देते हैं और परिग्रही को भी मुनि मानते हैं वे सब गृहीत मिथ्यात्व के कीचड मे फँसे हुए हैं, उनकी विनय का परित्याग करना चाहिये। इसमे द्वेष नही किन्तु सत्य का ही समादर है।

जो जीव धर्म के नाम पर उत्कृष्ट पुण्यबन्ध करके अनन्तबार नवमे ग्रैवेयक तक गया और नग्न दिगम्बर मुनि होकर निरतिचार महाव्रतो का पालन किया तथा गृहीत मिथ्यात्व का त्याग किया तथापि 'शुभराग से लाभ होता है' ऐसे पराश्रयरूप व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष होने से उसके निश्चय-मिथ्यात्व बना रहा। उसे अन्तरग से अपने ऐसे स्वतत्र स्वभाव की बात नही रुची कि—मैं पर से भिन्न, निरावलम्बी, अविकारी हूँ, इसलिये उसका भव-भ्रमण दूर नही हुआ।

मै जन्म-मरण को दूर करने वाला अखण्ड गुणस्वरूप हूँ, इस-प्रकार की रुचि से होने वाला सत् का आदर यथार्थ है—निश्चय है, और उपदेश व्यवहार है। यथार्थ की देशना को ग्रहण करने वाला यथार्थ को ग्रहण करता है तब पहले प्रारभिक अश (यथार्थ का अश) निरावलम्बीरूप से प्रगट होता है, वह यथार्थ चारित्ररूप निर्मलभावका कारण है।

जिससे जन्म-मरण और भ्रान्ति का नाश होता है ऐसे यथार्थ जिन-वचनो को सुनना, धारण करना तथा उनके कथन के आशय का निर्णय करके ऐसी दृढता करना चाहिये कि—कोई कुतर्कवादी धर्म के नाम पर अन्यथा कथन करेगा तो उसका तत्काल ही स्पष्ट निषेध कर देंगे। पर से, शुभभाव से, शुभराग की क्रिया से अथवा इसीप्रकार बाह्य से कोई लाभ होना बताये अथवा झूठे तर्क से कोई यह कहे कि शुभ कार्य करते-करते क्रमश. गुण प्रगट होंगे तो उसका भी स्पष्ट निषेध कर देना चाहिये, और नित्य-सत्य वस्तु के बोध को ऐसी दृढता के साथ धारण कर रखे कि कालान्तर मे किसी भी सयोग मे स्वय सशय में न पडे।

मतिज्ञान के चार भेद हैं —

(१) अवग्रह—वस्तु के बोध को ग्रहण करना।

(२) ईहा—वस्तु क्या है इसके निश्चय करने का विचार करना।

(३) अवाय—यह वस्तु ऐसी ही है अन्यथा नहीं है ऐसा निर्णय करना।

(४) धारणा—जिस ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कालान्तर में संशय तथा विस्मरण न हो।

इसप्रकार नित्य स्वभावाश्रित जिस स्वतत्व की धारणा से धारण किया उस सत्के निर्णय की अस्ति है यदि उससे विरोधी असत् बात को सुने तो उसे उसकी नास्ति होती है अर्थात् निषेध होता है। इसप्रकार यथार्थ वस्तु क्या है इसका बोध मतिज्ञान में धारण कर रखे।

जबतक निःसंदेह होकर यथार्थ तत्व को न जाने तबतक बारम्बार उसी बात को अस्ति-नास्ति पूर्वक सुने और अस्ति की ओर भार देकर लक्ष को स्थिर करे तो वहाँ सहज ही शुभराग होजाता है। लोग कहते हैं कि यदि शुभ व्यवहार न किया जाय अथवा शुभराग न करें तो धर्म कैसे किया जायेगा? किन्तु अस्तिस्वभाव की ओर लक्ष और भार दिया कि वहाँ राग की दिशा बदल ही जाती है।

यहाँ जिस वस्तु को सुना है उसे अविरोधी रूप में ऐसा दृढ़ करे कि उसमें कदापि संशयरूप विरोध न आये इसप्रकार भलीभाँति परिचय करके विरोध को दूर करके अविरोधी तत्व को भलीभाँति समझना चाहिये और परमार्थ तत्व क्या है तथा उसे बताने वाले सच्चे देव गुरु शास्त्र एवं नव तत्व का यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना चाहिये क्योंकि यह प्रारम्भ से ही प्रयोजनभूत तत्व है।

जैसे दूर देश में माल का लेनदेन करने के लिये आढ़तिया रखा जाता है उसके साथ थोड़ा सा परिचय होने के बाद यह विश्वास जम जाता है कि वह ईमानदार है—उसने न तो किसी को ठगा है और

न हमे ही धोखे मे डाल रहा है। इसके बाद बहुत लम्बे समय तक वह विश्वास बना रहता है और उसके प्रति कोई शका नही होती। इसीप्रकार सच्चे देव गुरु शास्त्र को अविरोधरूप से जानने पर अल्प परिचय मे ही यह निश्चय होजाता है कि उनमे कही किसी भी प्रकार से कोई विरोधी तत्व नही है। इसके बाद कोई मिथ्यात्यागी साधुवेशी अथवा कोई भी चाहे जैसी युक्तिपूर्वक विरोध भाव को लेकर धर्म सम्बन्धी तर्क करे तो भी स्वतत्व मे और देव, गुरु, शास्त्रमे किंचित्-मात्र भी शका नही होती, तथा किसी भी प्रकार मन नही उलझता। किन्तु जिसे सत्य का मूल्य नही है और जिसे सत्य के प्रति सुदृढ श्रद्धा नही है वह कहता है कि 'हम क्या करें ? हमें तो त्यागी–साधु युक्ति और तर्क द्वारा जो जैसा समझाते हैं अथवा कहते हैं वह हमें स्वीकार करना ही होता है।' किन्तु उन्हे यह खबर नही होती कि इससे तो उनका सम्पूर्ण स्वतत्र तत्व ही लुट जाता है। इसलिये सद्गुरु की ठीक परीक्षा करनी चाहिये। यह कहना घोर अज्ञान है कि हमारी तो कुछ समझ में ही नही आता और अज्ञान कोई भला बचाव नही है।

सद्गुरु को यथार्थतया पहिचानने के बाद उनके प्रति सच्ची भक्ति होती है। जिनसे यथार्थ वस्तु सुननेको मिली है उनके प्रति भक्ति का शुभराग होता ही है। तत्व को यथार्थ समझने के बाद भी उसको विशेष दृढता से रटते हुए उसे बारम्बार रुचिपूर्वक सुने और उस सच्चे निमित्त को उपकारी जानकर उसका बहुमान किया करे। उसमे परमार्थ से अपने गुण का बहुमान है, इतना ही नही किन्तु व्यवहार से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को यथार्थ तत्व का कहने वाला जानकर उनकी ओर भक्ति विनय बहुमान होता है, अर्थात् भक्ति का शुभराग हुए बिना नही रहता। अविकारी यथार्थ स्वभाव का जो लक्ष है और उसका जो रटन है, उसके बल से जितना राग कम होता है उतना अपने लिये लाभ मानता है, और जो रागद्वेष है उसे बन्धका कारण जानकर अन्तरग से समस्त राग को त्याज्य मानता है।

यदि कोई देव गुरु शास्त्र सम्बन्धी शुभराग को ग्राह्य माने अथवा उस शुभराग को लाभकारक माने या उसे करने योग्य समझे तो वह वीतराग के प्रति का राग नहीं किन्तु राग का राग है। क्योंकि उसे वीतरागताके गुण की प्रतीति नहीं है कि मैं राग का नाशक हूं।

वीतराग का उपदेश आत्मा को पर–सम्बन्ध से रहित, अविकारी पूर्ण निर्मल स्वतंत्र बताने वाला होता है। आत्मा के साथ जो संयोगी कर्म (एक क्षेत्र में) है उससे आत्मा बद्ध नहीं है किन्तु परमार्थ से अपनी भूल के बन्धनभाव से बद्ध है। बन्ध और मोक्ष किसी की पराधीनता से नहीं होते किन्तु आत्मा के भाव से होते हैं। यहाँ ऐसे यथार्थ वचन हैं या नहीं इसप्रकार श्रवण करने वाले को अपनी निज की तैयारी और उपदेश की परीक्षा करने का उत्तरदायित्व लेना होगा।

आत्मा का ऐसा पराधीन और शक्तिहीन स्वरूप नहीं है कि किसी पर से लाभ हो अथवा कोई दूसरा समझाये तो तत्त्व प्रगट हो। तत्त्वको श्रवण करनेका भाव भी शुभविकल्प या शुभराग है। उस पर–संयोग से और राग से असंयोगी अविकारी वीतराग स्वरूप प्रगट नहीं होता। किन्तु स्वतन्त्रता यथार्थता क्या है इसके अर्थ को जब स्वयं उमंगपूर्वक अनुभवपूर्वक प्रगट करे तब उपदेश और उसे सुनने को ओर के शुभराग पर आरोप करके उसे निमित्त कहा जाता है।

जो वचन आत्मा को पर से बन्धनयुक्त बतलाते हैं उनका अर्थ यह हुआ कि जब पर–पदार्थ मुक्त करे तब आत्मा मुक्त होगा। और ऐसा होने से आत्मा पराधीन एवं शक्तिहीन कहलायेगा। जो शक्तिहीन होता है या पराधीन होता है वह स्वतन्त्र पृथक तत्त्व नहीं कहा जासकता। कोई यह मानते हैं कि समस्त आत्मा एक परमात्मा के अंश हैं सब मिलकर एक अखंडरूप वस्तु है, किन्तु ऐसा मानने से स्वाधीन सत्ता का अभाव होजायेगा। वास्तव में तो इस मान्यता में प्रत्यक्ष विरोध आता है क्योंकि संसार में रहकर भी प्रत्येक आत्मा अलग–अलग अकेला ही दुःख भोगता है।

कोई कहता है कि "देह से मुक्त होने पर आत्मा एक पर

मात्मा की सत्ता में मिल जाता है।" किन्तु यदि यह सच हो तो—अर्थात् दुःखो के भोगने मे अकेला और सुखदशा मे किसी की सत्ता मे मिल जाने वाला हो तो उसमे स्वतन्त्रता कहाँ रही? इसलिये उपरोक्त मान्यता मिथ्या है। इसप्रकार यथार्थ स्वतन्त्र स्वरूप मे विरोधरूप मान्यताओ को दूर करके यथार्थ परिपूर्ण स्वतन्त्र वस्तु का निर्णय करने के लिये आत्मा में से निश्चय का अश प्रगट करना होता है। अविकारी निरावलम्बी, अभंग स्वभाव की श्रद्धा विकार का नाश करने वाली है, ऐसे यथार्थ तत्व को बताने वाले का निर्णय करने वाला भी आत्मा ही है।

प्रथम उपदेश सुनने पर परमार्थ की अप्रगट रुचि की है, उस उपदेश मे यथार्थता कैसे आशय की है, मैं किसप्रकार असग, अविकारी, निरावलम्बी हूँ, यह परमार्थ से सुनकर जो निराला स्वतत्व की ओर झुकने वाला निश्चय का अश है सो परमार्थ से श्रद्धा का कारण है।

मैं पर से बद्ध नही हूँ, परवस्तु मेरा हानि—लाभ नही कर सकती, मैं रजकरण तथा राग से पृथक् हूँ, मात्र अज्ञान से (अपनी भूल से) बन्धा हुआ था। विकार क्षणिक है, वह मेरा नित्यस्वभाव नही है, मैं नित्य ज्ञायक हूँ, इसप्रकार का अप्रगट आशय जब अतरग मे आता है तब भाव बचन को दूर करने का आशिक उपाय प्रारम्भ होता है। जब अव्यक्त रुचि यथार्थ तत्व की ओर प्रारम्भ हुई तब सुनने का अवलम्बन छोडकर अपनी ओर लक्ष किया और सत् को स्वीकार करने वाले यथार्थ को स्वीकार किया, उतना ही अयथार्थ से भिन्नरूप को समझने का यथार्थ उत्तरादायित्व आजाता है। इसप्रकार श्रवण होने पर अपने भाव से स्वत लाभ निकाल लेता है, राग से लाभ नही होता। जहाँ परवस्तु पर लक्ष होता है वहाँ राग का विषय होता है, वह राग विकार है। मैं रागरूप नही हूँ, ज्ञानरूप हूँ, इसप्रकार अविकारी असगभाव उपदेश में कहना चाहते हैं, ऐसा अभिप्राय वह अन्तरग लक्ष से निश्चित् करता है।

अहो! यह वस्तु ही निराली है, पूर्ण है, अविकारी है, इसप्रकार

यथार्थ को जिस भाव से निश्चित् करता जाता है वह भाव यथार्थ निश्चय का अंश होने से यथार्थ निर्विकल्प परमार्थ का कारण है। किन्तु राग से पर से अथवा साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु की वाणी से परमार्थतः अंशमात्र धर्म नहीं होता। किन्तु पराबलम्बन से छूटकर अन्तरंग से निश्चय करे कि वे जो कुछ कहते हैं सो ऐसा ही है और जब यह समझ लेता है तब देव गुरु के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है तथा वह उनकी भक्ति करता है। उसके गुण के प्रति भक्ति है अर्थात् यथार्थ स्वतंत्र तत्व की पहिचानयुक्त गुणरूप होने का लक्ष है। राग-द्वेष अज्ञान पराश्रय से होता है जो कि क्षणिक है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार जो प्रतीतिपूर्वक राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करता है वह जिन (जीतने वाला) है। इसमें अनेक भावों का समावेश होजाता है जैसे–विकार जीतने योग्य है उसे जीतने वाला अविकारी है विकार क्षणिक और एक समयकी अवस्था वाला है तथा उसका नाश करने वाला स्वभाव विकार रहित त्रिकाल–स्थायी है। यद्यपि विकार में अनन्तकाल व्यतीत होगया है तथापि स्वभाव में ऐसी अपारशक्ति है कि वह एक समय में ही उस विकार अवस्था को नाश कर अनन्त अविकारी शुद्ध शक्ति को प्रगट कर सकता है। विकारी अवस्था में पर के आश्रय से अनन्त विकार कर रहा था, उसे दूर करके *जब स्वतंत्र स्वाश्रय के द्वारा ध्रुवस्वभाव की ओर जाता है तब* जो अनन्त अविकारी भाव अपने में पहले से ही विद्यमान था वही भीतर से प्रगट होजाता है वह कहीं पर से अथवा बाहर से नहीं आता। विकार के होने में अनेक प्रकार के निमित्त होते हैं, शुभराग भी पर के लक्ष से होता है। मुझमें परवस्तु की नास्ति है। पर के द्वारा मुझे त्रिकाल में भी कोई गुण-दोष या हानि-लाभ नहीं होसकता और मैं भी पर का कुछ नहीं कर सकता। शुभराग भी विकार है विकार अविकारी गुण के लिये सहायक नहीं होसकता। इसप्रकार पूर्ण स्वतंत्रता को बताने वाला यथार्थ ज्ञानी है। अपने में यथार्थ को स्वीकार करने वाले समझाने वाले वीतरागी गुरुको उपकारी निमित्त मानने से शुभ

रागरूप भक्ति-भाव उछले बिना नही रहता । अभी रागदशा विद्यमान है इसलिये उसे कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र की ओर न लेजाकर सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति परिचय के बहुमान से शुभ-भक्ति और विनय करता है । इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व सच्चे निमित्त की ओर का शुभ-व्यवहार अवश्य होता है । किन्तु यदि दूसरा समझा दे अथवा दूसरे से समझा हुआ माने तो स्वय पराधीन सिद्ध होगा, किन्तु त्रिकाल मे भी आत्मा पराधीन नही है, उसे कोई दूसरा सहायक नही होसकता ।

परमार्थ जिनेन्द्र के स्वरूप को बताने वाला वीतरागी गुरु कौन है, क्या जीतना है, जीतने वाला कौन है, अवगुण का नाश करके सदा गुणरूप स्थिर रहने वाले का क्या स्वरूप है, इत्यादि का यथार्थ निर्णय न करे और मात्र सुनता रहे तो कोई बाहर से कुछ नही दे देगा । स्वय जैसा भाव करेगा वैसा फल मिलेगा । मैं निरावलम्बी, अविकारी, स्वतत्र हूँ, असग हूँ ऐसी प्रतीति के बिना पुण्य-पाप करके अनन्तबार चौरासी में जन्म-मरण किया । धर्म के नाम पर शुभभाव से अनेक क्रियायें करके अनन्तबार देवलोक में गया । पाप करके देवलोक में नही जाया जाता किन्तु पुण्य करके ही जासकते हैं, इसलिये उस पुण्य के शुभभाव नवीन (अपूर्व) नही हैं । अपूर्व क्या है यदि ऐसी यथार्थ को समझने की उमग हो तो यथार्थ सत् को समझाने वाले वीतरागी गुरु को पहिचानले और उनका आदर करे, किन्तु यदि अपनी शक्ति को स्वीकार करके स्वय न समझे तो उसे निमित्त नही समझा सकता । जो समझता है वह अपने आप समझता है, तब वह अपनी पहिचान का बहुमान करने के लिये गुरु को उपकारी मानकर उनकी विनय करता है । समझनेके बाद जबतक राग दूर नहीं होजाता तबतक सत् के निमित्तो की ओर शुभराग रहता ही है । जिसे अपने स्वरूप को समझने की रुचि होती है उसे मुमुक्षु रहकर सत्समागम को ढूंढना होता है और सत् की पहिचान होने पर देव, गुरु, शास्त्र के प्रति शुभराग का होना इतना सुनिश्चित होता है जैसे प्रातः के बाद सन्ध्या का

होगा। क्योंकि उसमें स्व-सत्ता से चिदानन्द सूर्य का प्रखण्ड—अनन्त प्रकाश प्रगट होता है।

वीतराग के वचनों को धारण कर रखने का अर्थ है कि—वे जो कुछ कहते हैं उसे यथार्थ समझना। परवस्तु से पुण्य—पाप से त्रिकालमें भी धर्म नहीं हो सकता। अन्य की सहायता से आत्मा के गुण प्रगट नहीं होते। अन्य से कोई लाभ—हानि नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु त्रिकाल भिन्न है। लाभ-अलाभ अपने भाव से होता है। ऐसी प्रतीति गृहस्थ और त्यागी दोनों के लिये है। अन्य पदार्थ से अथवा द्रव्य दान आदि से पुण्य नहीं होता किन्तु यदि तृष्णा कम करे तो अपने भाव से पुण्य होता है। मात्र पर की हिंसा पाप का कारण नहीं है किन्तु अपना हिंसात्मक प्रमाद—भाव ही वास्तव में हिंसा है, वह अपने ही गुण का घात है। इसमें स्वतंत्र तत्व का निर्णय होता है। वीतराग मार्ग में कोई पक्षपात नहीं है वीतराग सबको वस्तुरूप में स्वतंत्र घोषित करते हैं।

किसी की कृपा से स्वतन्त्र आत्मतत्त्व के गुण प्रगट होते हैं ऐसे पराधीनता को बताने वाले वीतराग के वचन नहीं हैं। पुण्य से शुभराग से अथवा शरीरादि परवस्तु से लाभ होता है आत्मधर्म होता है आत्मा के गुण के लिये ऐसा व्यवहार करना चाहिये ऐसा कथन करने वाले वीतराग के वचन नहीं होते। पुण्य—पाप और धर्म अपने भावानुसार ही होता है।

संसार में दूसरे के लिये कोई कुछ नहीं करता। कोई पुरुष अच्छे वस्त्राभूषण अपनी स्त्री के लिये नहीं लाता किन्तु *स्त्रीके प्रति ममता* है, राग है इसलिये उस राग को पुष्ट करने के लिये जिसे सत्ता बनाया है उस स्त्री आदि में (*राग के खिलोने में*) इच्छित शोभा न होने से वह अपने को अनुकूल नहीं लगती। और जब अपना इच्छित पहनाव—उढाव दिखाई देता है तब उस पर आँखें जमती हैं इसलिये वह जो कुछ करता है अपने राग को पुष्ट करने के लिये करता है। इसीप्रकार लोग अपने पुत्र को पढ़ाते हैं, उसका ब्याह रचाते हैं और उसके नाम

पर बैंक में रुपया जमा कराते हैं यह सब अपने उस लड़के के लिये नही किया जाता किन्तु अपने को तत्सम्बन्धी ममता मे उसके अतिरिक्त कोई दूसरा समाधान दिखाई नही देता इसलिये स्वय उसके नाम से अपनी मोह ममता को पुष्ट करने की सम्पूर्ण चेष्टायें अपने ही राग को पुष्ट करने के लिये करता है। घर मे, समाज में मान प्रतिष्ठा और प्रभाव बना रहे इसलिये मैं दूसरो का कुछ काम करूँ और दूसरो के साथ अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखूँ, ऐसा भाव करके अपने बडप्पनके राग को पुष्ट करने के लिये यह सब चेष्टायें करता है। कोई पर के प्रति कर्तव्य पालन नही करता, किन्तु विपरीतदृष्टि से पर में अपने राग को आरोपित करता है, अर्थात् वह परवस्तु को अपने राग का विषय बनाकर उसकी रुचि के अनुसार सब कुछ अनुकूल करना चाहता है।

जन्म–मरण इत्यादि सब पराधीनता है। आत्मा पर से भिन्न है, वही आदरणीय है, इसप्रकार जिसे परमार्थ में प्रीति होती है वह यथार्थ की रुचि को पुष्ट करने मे निमित्तरूप सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति के बिना नही रहता। स्मरण रहे कि—भगवान की भक्ति भगवान को अच्छा लगाने के लिये नही होती। सत् की पहिचान के बाद सम्पूर्ण गुण का बहुमान होने से वीतराग की भक्ति उमड़े बिना नही रहती।

मैं स्वतन्त्र, अविनाशी, पूर्ण परमात्मा के समान हूँ, विकल्प अथवा परमाणुमात्र मेरे स्वरूप में नही हैं, यह बताने वाले श्री जिनगुरु और प्रगट परमात्मा की प्रतिमा के प्रति अपने गुणो के स्मरण के लिये तथा अशुभभाव से बचने के लिये बहुमान, स्मरण भक्ति इत्यादि होते हैं। उन देव, गुरु के लिये कोई कुछ नही करता, किन्तु विनय से देव की भक्ति आदि कही जाती है। जैसे कोई मनुष्य राजा की प्रशसा इसलिये करता है कि—उसे निज को वह राजत्व अनुकूल लगता है, इसी-प्रकार जन्म–मरण का अन्त कैसे होता है यह बताने वाले की पहिचान होने पर उसके बहुमान में भक्ति प्रवाहित हुये बिना नही रहती।

जब किसी धनवान के यहाँ इकलौते पुत्र का विवाह होता है तब उसका वमव और उमंग–उत्साह उससे बिना नहीं रहती (इस दृष्टान्त का एक अंश सिद्धान्त में लागू होता है) इसीप्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर अप्रगट लक्ष हुआ है किन्तु अभी निश्चय अनुभव सहित सम्यकदर्शन प्रगट नहीं किया है वहाँ भी निर्दोष वीतराग गुरु मेरी स्वतंत्रता को प्रगट करने वाले हैं मुझे मोक्ष देने वाले हैं इसप्रकार अत्यन्त विनय पूर्वक बहुमान से भक्ति किये बिना नहीं रहता ।

जिसे परमार्थ की रुचि पुष्ट करनी है वह सच्चे देव गुरु, शास्त्र के प्रति शुभराग करके यह पहले जान लेता है कि–सच्चे गुरु कौन हैं। सच्चे गुरु परमार्थ स्वरूप को बताने वाले हैं (निश्चय से तो आत्मा ही अपना गुरु है) वे (गुरु) शिष्य को बतलाते हैं कि सिद्ध और अरहन्त केवलज्ञानी परमात्मा कैसे होते हैं उनका स्वरूप क्या है, जिनसे आत्मा की प्रतीति होती है। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरु विशेष उपकारी हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने आत्मसिद्धि में कहा है कि:—

"प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
ऐसा लक्ष हुए बिना, उगे न आत्म–विचार ।"

सद्गुरु के प्रत्यक्ष उपकार का निर्णय किये बिना वास्तव में आत्मा के विचार का उद्भव नहीं होता। यह बताने वाले प्रत्यक्ष श्री सद्गुरु ही हैं कि–परोक्ष उपकारी श्री जिनदेव कैसे थे और उन्होंने क्या कहा था। यदि सम्पूर्ण स्वभाव को बताने वाले साक्षात् श्री सद्गुरु को न पहिचाने और उनका बहुमान न करे तो पूर्णानन्द परमात्माके स्वरूप को नहीं जाना जा सकता और उनके यथार्थ स्वरूपको समझे बिना पर आप स्वरूप नहीं समझा जासकता इसलिये साक्षात् ज्ञानी को पहिचान कर उनकी विनय करने को पहले कहा है। यदि साक्षात् उपकारी श्रीगुरु को विनय न करे तो अपने परिणामों का अवलोकन करना नहीं आसकता जो कि विवेक की अपनी बहुत बड़ी भूल है। जो साक्षात् ज्ञानी को नहीं पहिचानता, उनकी विनय नहीं करता और परोक्ष

जिनेन्द्र भगवान के गुणो के नाम पर भक्ति–पूजा में ही लगा रहता है उसके अपूर्व आत्मविचार का उद्भव नही हो सकता।

साक्षात् गुरु से यथार्थता को समझने और मानने मे असत् को न मानने का उत्तरदायित्व और यथार्थ को धारण करने की अपनी तत्परता परिज्ञात होजाती है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानी को परम–उपकारी कहा है। जैसे लोक–व्यवहार में सब कहते हैं कि–हमारी दुकान का माल उत्कृष्ट है, इसीप्रकार यदि कोई अपने माने हुए धर्म को अनेक तर्कों से सच्चा कहे,–उत्कृष्ट कहे तो इससे जो जड है वह कही सच्चा नहीं हो सकता।

मुझे कोई दूसरा समझादे, दूसरा तारदे, पुण्यादिक पर की सहायता मिले तो धर्म हो, इसप्रकार पर से धर्म की आशा रखने वाला सत् का जिज्ञासु नही है। किन्तु जिसे स्वतः सुधरना है, पर से कुछ निश्चित् नही करना है और इसप्रकार जो अपने उत्तरदायित्व से सत् की जिज्ञासा मे यथार्थता लाता है वह सत् का सच्चा शोधक है, वह ज्ञानी को भलीभांति पहिचान लेता है। इसके पास अविरोधी सत् है। यही यथार्थ ज्ञानी है, ऐसा यथार्थ निर्णय किये बिना यदि भगवान की प्रतिमा के समक्ष भक्ति करे तो समझना चाहिये कि वह मात्र राग की भक्ति करता है। जिसे सच्चे गुरु की और पूर्णानन्द परमात्मा की पहिचान है उसे पूर्ण की महिमा परिज्ञात होती है, इसलिए वह निर्वि-कार शान्त वीतराग मूर्ति को देखकर अपने में पूर्ण की रुचि का स्मरण करके, वीतरागी देव, गुरु के प्रति बहुमान से भक्ति मे डूब जाता है। उसमें सत् की रुचि होती है और बाहर सच्चे निमित्त का बहुमान–भक्ति करता है। ऐसा शुभराग एक तो पूर्ण वीतराग के नही होता और दूसरे अज्ञानी, अविवेकी के नहीं होता। जहांतक अरागी पूर्ण तत्व की रुचि है और राग दूर नहीं हुआ वहांतक ज्ञानी के अनेक-प्रकार का राग बना रहता है, और उससे राग के निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। उसमे सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति होने वाली

भक्ति का शुभराग मुख्यता से होता है। जिनप्रतिमा शुभभाव में निमित्त है तथा वीतराग का स्मरण करने में निमित्त है ऐसा जो नहीं मानते उन्हें यह खबर नहीं होती कि पूर्ण साध्य एवं प्रारम्भ और बीच का मोक्षमार्ग कैसा होता है तथा वह कैसे प्राप्त किया जाता है।

क्योंकि अभी साधकदशा में राग है इसलिये वहाँ शुभराग के निमित्त का आदर और बहुमान रहता ही है। जिसे रजकण के और राग से रहित विकल्प रहित पूर्ण वीतराग के स्वरूप को पहिचानने की रुचि है उसे सत् की रुचि का मंथन करने में वीतरागी जिनप्रतिमा निमित्त होती है यह जानकर पूर्ण वीतराग की महिमा गाते हैं। पूर्ण वीतराग साक्षात् परमात्मा के विचार में अपनी रुचि है, इसलिये उनके विरह में उनका स्मरण करने में भगवान जिनेन्द्र की प्रतिमा निमित्त होती है। अपने अभिप्राय में परवस्तु लाभ–हानि का कारण नहीं है। अपनी रुचि और तत्परता के अनुसार स्वयं ही अपने आप हिताहितरूप भाव कर सकता है। इसप्रकार जो न समझे और भगवान की मूर्ति के पास ही बैठा रहे स्वतंत्र निरावलम्बी अकषायदृष्टि से, अपने स्वरूप को सँभाल न करे तो भगवान कुछ दे ऐसा आरोप भी नहीं आता।

सम्यकदर्शन होने से पूर्व भी वीतराग के वचनों का श्रवण जिनप्रतिमा का दर्शन पूजा प्रभावना इत्यादि शुभभाव में जीव की प्रवृत्ति होती है क्योंकि पाप से बचने के लिये शुभभाव योग्य है और यथार्थ तत्त्वदृष्टि होने के बाद भी जब आत्मा निर्विकल्प स्थिरता में नहीं रह सकता तब सच्चे देव गुरु की भक्ति और सच्चे उपदेशका श्रवण इत्यादि शुभभाव का अवलम्बन अशुभभाव से बचने के लिये आये बिना नहीं रहता। किन्तु दृष्टि में उस शुभराग का भी आदर नहीं है मात्र अखण्ड निर्विकारी गुण का ही बहुमान है। वह पूर्ण अविकारी की रुचि आत्मा को आगे बढ़ाती है।

चार ज्ञान के धारी भी गणधर देव भी निरन्तर निर्विकल्प ध्यान में स्थिर नहीं रह सकते इसलिये अशुभ से बचने के लिये विशेष ज्ञान का मनन करने को बारम्बार साक्षात् तीर्थंकर प्रभु का उपदेश

सुनते हैं और अपने पद के अनुसार (जबकि—छट्ठे गुणस्थान में होते हैं तब) शुभभाव मे भी प्रवृत्ति करते हैं। गृहस्थो को अशुभराग के अनेक निमित्त हैं अत अशुभराग से बचने के लिये बारम्बार यथार्थ तत्व का उपदेश तथा उपरोक्त शुभ व्यवहार आते हैं किन्तु उस शुभराग की मर्यादा पुण्य-बन्ध जितनी ही है, उससे धर्म नही होता। तथापि परमार्थ रुचि में आगे बढने के लिये बारम्बार धर्म का श्रवण एव मनन करते रहते हैं। जिसे ससार की रुचि है वह बारम्बार नाटक सिनेमा देखता है, उपन्यास—कहानियाँ पढता है—सुनता है, नई बात को जल्दी जान लेता है, इसीप्रकार जिसे धर्म के प्रति रुचि है वह धर्मात्मा बारम्बार यथार्थ तत्त्व का परिचय करके अशुभ से बचने और स्वरूपकी ओर की स्थिरता—रुचि रखनेके लिये बारम्बार शास्त्र—स्वाध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जिनप्रतिमाके दर्शन करता है, पूजा करता है और गुरु—भक्ति इत्यादि शुभभाव में युक्त रहता है तथा राग को दूर करनेकी दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति करता है। विशेष राग को दूर करने के लिये परद्रव्य के अवलम्बन के त्यागरूप अणुव्रत महाव्रतादि का ग्रहण करके समिति—गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पचपरमेष्ठी का ध्यान, सत्सग और शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सब अशुभ से बचने और विशेष राग-रहित भाव की ओर जाने के लिये है।

व्रतादि का शुभभाव आस्रव है, और अविकारी श्रद्धा, ज्ञान तथा निर्विकल्प स्थिरता का भाव बन्ध—रहित निरास्रव है। दृष्टिमें पूर्ण वीतराग निरावलम्बिता है। वर्तमान अवस्था में जितना परद्रव्य का अवलम्बन छोडकर निरावलम्बी स्वरूप मे राग रहित स्थिरता रखे उतना चारित्रभाव है। तत्वज्ञान के यथार्थ होने पर भी गृहस्थदशा में स्त्री, कुटुम्ब, धन, देहादि की ओर अशुभभाव होता है। यथार्थ प्रतीति होते ही सबके त्यागीपन नही होता, इसलिये अशुभ अवलम्बनरूप पाप—राग से बचने के लिए और पुण्य—पापरहित अखण्ड स्वभाव की ओर रुचि बढाने के लिए अकषाय निर्मल दृष्टि का प्रबल आन्दोलन करने पर विशेष राग टूटकर जो अणुव्रत—महाव्रत के शुभभाव आते हैं उसे

व्यवहार मोक्षमार्ग में व्रत कहा है। परवस्तु को छोड़ना या त्यागना व्रत का वास्तविक अर्थ नहीं है। परवस्तु को छोड़ने–त्यागने का व्यवहार आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं होता। किसी भी अपेक्षा से परवस्तु का लेनदेन आत्मा के आधीन नहीं है, क्योंकि आत्मा सदा अरूपी है। दृष्टि के बल से जो परवस्तु की ओर का राग छूटता है वह व्यवहार से यों कहा जाता है कि आत्मा ने परवस्तु का त्याग किया है। जहाँ परवस्तु का प्रवलम्बनरूप राग नहीं रहता वहाँ उसके स्वतंत्र कारण से परवस्तु का संयोग छूट जाता है। आत्मा के पर का कर्तृत्व या स्वामित्व किसी भी प्रकार से नहीं होता, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं होती वह देहादिक पराश्रित प्रवृत्ति में या राग में लीन होकर रुक जाता है।

जो यह मानता है कि परवस्तु छूट गई इसलिये राग छूट गया अथवा देह की या पुण्य की इतनी प्रवृत्ति हुई इसलिये लाभ होगया उसे पृथक आत्मतत्त्व के स्वतंत्र गुण की प्रतीति नहीं है। तत्त्वदृष्टि सहित राग को दूर करने पर राग की निमित्तभूत परवस्तु अपने ही कारण से छूट जाती है। शुभाशुभ राग का निमित्त प्राप्त करके जड़ रजकण पुण्य–पापरूप से अपनेआप अपने ही कारण पुराने कर्मों के साथ बँधते हैं और रागरहित स्वरूप में जितनी स्थिरता की जाती है उस वीतरागभाव का निमित्त पाकर जड़–रजकण उसके ही कारण छूट जाते हैं। ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होता है किन्तु किसी की अवस्था किसी अन्य के आधीन नहीं होती इसलिये ज्ञानी देहादि की प्रवृत्ति से अपने परिणाम का माप नहीं निकालते। ज्ञानी की दृष्टि अखण्ड ज्ञायकस्वरूप पर है उसके बल से जितना राग दूर होता है उतना लाभ मानता है। राग और परद्रव्य कुछ मेरा नहीं है इसप्रकार पर का कर्तृत्व और स्वामित्व छोड़कर एकरूप अविकारी ज्ञानानन्द स्वभाव का स्वामित्व रखता है। दृष्टि में (श्रद्धा में) पर की ओर के राग की आसक्ति छूटने पर चारित्र की स्थिरताके बल से विशेष रागका

त्याग करे तो गृहस्थदशा छूटकर बाह्य में पंच महाव्रतादि शुभ-व्यवहार सहित नग्नदिगम्बर मुनिपद और अन्तरंग में राग को दूर करके भाव मुनिपद ग्रहण करता है। किन्तु यथार्थ दृष्टि के होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्तिके कारण जो विशेष राग कम नही कर सकता वह गृहस्थदशा में रहकर आंशिक राग कम करके, अकषायदृष्टि सहित, अंशत. स्वरूप-स्थिरता को बनाये रखता है। उसके अशुभराग मे न जाने के लिये दान, पूजा, भक्ति, प्रभावना, अणुव्रत आदि शुभभावका व्यवहार हुये बिना नही रहता। वास्तव में अकषाय अखण्ड ज्ञायक की दृष्टि के बल से संवर होता है, व्रतादि के शुभभाव संवर नही, धर्म नही हैं किन्तु आस्रव हैं। किन्तु उस शुभभाव का व्यवहार अशुभभाव को दूर करने में निमित्त होता है, और राग के दूर होने पर जो निर्मलता होती है उसे शुभराग में आरोपित करके व्रतादि को व्यवहार से (उपचार से) मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु यदि निरावलम्बी अविकारी की प्रतीति न हो तो वह उपचार से भी व्यवहार नही कहलाता।

ज्ञानी के निम्नदशा में प्रशस्त राग हुए विना नही रहता किंतु दृष्टि में वह शुभराग का भी कर्ता नही होता। जो राग के स्वामित्व को मानकर शुभराग को करने योग्य समझता है, उससे लाभ मानता है उसे राग के प्रति आदर है, और निरावलम्बी वीतरागी गुण के प्रति आदर नही है।

दृष्टि में शुभ-व्यवहारका अभाव करके (स्वामित्व को छोडकर,) शुभराग को भी करने योग्य न मानकर, परमार्थ से अखण्ड ज्ञानस्वभावी हूँ इसप्रकार स्वभाव पर भार देना परमार्थ-श्रद्धाका कारण है। जो उत्पन्न हुई शुभाशुभवृत्ति का अपने को कर्ता मानता है वह अज्ञानी है। ज्ञानी रागादि का मात्र ज्ञाता होता है, वह रुचिपूर्वक विकार का कर्ता नही किन्तु उसका नाशक होता है। वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से यद्यपि राग रहता है तथापि वह उसका स्वामी नही होता और न उसके प्रति आदर होता है। हाँ, वह बिलकुल निर्विकल्परूप से

स्थिर नहीं रह सकता इसलिये अशुभ में प्रवृत्त न होने के लिये शुभभाव का अवलम्बन होता है।

यदि कोई यह माने कि मैं समझ-बूझकर शुभभाव करता हूँ इसलिये शुभभाव से मुझे सम्यग्दर्शन होजायगा-उससे आगे बढ़ सकूँगा तो यह मान्यता बिल्कुल विपरीत है-गुण की हत्या करने के समान है। कोई ज्ञानी शुभभाव को छोड़कर अशुभ में जाने को नहीं कहता।

सम्यग्दर्शन होने के बाद भी शुभ व्यवहार होता है और विषय कषाय का अशुभराग दूर करके अकषायदृष्टि के बल से स्वरूप-स्थिरता के बढ़ने पर पाँचवें गुणस्थान में बारह व्रत की शुभवृत्ति हुए बिना नहीं रहती इसप्रकार राग के छेदते-छेदते शुभराग रह जाता है वहाँ परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ने के लिये सहज ही अणुव्रत-महाव्रत होते हैं जो किसी की देखादेखी से अथवा आग्रह से व्रत धारण करता है और यह मानता है कि-मैं व्रत कर रहा हूँ उसे मात्र व्रत का अभिमान ही समझना चाहिये। धीर होकर मध्यस्थ होकर यह समझना चाहिये कि सर्वज्ञ वीतराग ने क्या कहा है। संसार तो अनन्तकाल तक रहेगा। अपनी चिन्ता करके सत् के प्रति उत्साहित होकर जो यह भाव करता है कि-अब सब नहीं चाहिये इतना ही क्यों किन्तु कुछ भी नहीं चाहिए, मुझे तो मात्र सत्य को ही समझना है जिसके ऐसा भाव है वही सत्को समझ सकता है। सत् सत् से प्रगट होता है किसी क्रियाकाण्ड से अथवा बाह्य-प्रवृत्ति से प्रगट नहीं होता। अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश ही आवश्यक होता है इसी प्रकार अज्ञान को दूर करनेके लिए यथार्थ ज्ञान आवश्यक है।

निर्मल दृष्टि के बाद राग को दूर करने पर जो शुभराग रह जाता है सो असद्भूत व्यवहार है और जितनी निर्मल स्थिरता होती है सो सद्भूत व्यवहार है। असंग अविकारी ध्रुव अखण्ड ज्ञायकस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा करना सो निश्चय है। श्रद्धाके अखण्ड विषय में निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग और मोक्ष का भी भेद नहीं होता ऐसी शुद्ध निरावलम्बी दृष्टि के बल से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है

वह संवर-निर्जरा है। व्रतादि का शुभ-व्यवहार आस्रव है-बन्धका कारण है, क्योंकि एकरूप ज्ञायक स्वभाव का आश्रय छूटने से राग का उत्थान होता है जो कि स्वाश्रित गुण का अविकारी भाव नही है। जहाँ शुद्ध में स्थिर नही हुआ जासकता वहाँ यदि शुभ का अवलम्बन न हो तो अशुभ में प्रवृत्त होजाता है। जबतक पुण्य-पाप से रहित अविकारी निरावलम्वी स्वभाव की दृढता सहित विकारके नाश की प्रतीतिरूप अखण्ड की श्रद्धा और ज्ञान नहीं होता वहाँ तक व्रत-चारित्र सच्चे नही होते। श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि —

लिया स्वरूप न वृत्ति का, व्रत का कर अभिमान।
गहे नहीं परमार्थ को, लेने लौकिक मान॥

[आत्मसिद्धि पद २८]

मध्यस्थ होकर सर्वज्ञ वीतराग कथित अविरोधी तत्त्व को न समझे और वाह्य-प्रवृत्ति में धर्म माने एव शुभ विकार से लाभ माने, किन्तु देह की क्रिया से तो कही पुण्य होता नही है। यदि शुभभाव हो तो पानुवधी पुण्यका वन्ध होता है। साथ ही मिथ्यादर्शन शल्य की पुष्टि करके, तत्त्वज्ञान का विरोध करके, पुण्यकी स्थिति पूरी करके अनन्तकाल के लिये निगोद में जाता है।

निमित्त की उपस्थिति मात्र होती है, किन्तु वह निमित्त मुझे कही सहायक नही हो सकता, पुण्य से-शुभ से कोई लाभ नही है, ऐसी अविकारी पूर्ण स्वभाव की अविरोधी श्रद्धा जिसे नही है वह सम्यक्-दृष्टि नहीं है, तव फिर वह श्रावक अथवा मुनि तो हो ही कहाँ से सकता है?

यदि अच्छे निमित्त से लाभ होता हो तो ऐसी उत्कृष्ट सगति अनन्तवार प्राप्त हुई है किन्तु किसी को पर के आश्रय से लाभ क्यो नही हुआ? जिसने स्वावलम्वी तत्त्व की दृष्टि प्राप्त की है, निमित्तका और राग का श्रद्धा में अभाव किया है उसके सम्यक् प्रतीति प्रगट होती है। जिसने यथार्थ को समझा है वह वास्तव मे निज से ही समझा है, तथापि वह गुरु का बहुमान किये बिना नहीं रहता। वह सत्-

समागम को प्राप्त करके भी यह मानता है कि मेरी जितनी अपनी तैयारी होगी उतनी ही शक्ति मुझसे प्रगट होगी। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव निमित्त है उस शुभराग से मुझे लाभ नहीं है, किन्तु मेरे स्वरूप में जितनी स्थिरता और निराकुलता होगी उतना ही लाभ होगा। ऐसा जानने पर भी जबतक निर्विकल्प स्थिरता न कर सके तबतक शास्त्राभ्यास और विशेष ज्ञान के लिए उपदेश श्रवण करे, इन्द्रिय-संयममें विशेषता करे और ऐसे ही शुभभाव में लगे तथापि यह न माने कि उससे लाभ होगा। किन्तु अविकारी तत्व की रुचि और उसके बल से जो राग दूर होता है तथा स्थिरता बढ़ती है उससे लाभ माने।

यदि अपनी तयारी हो तब शास्त्र दिशासूचन करता है। यदि शास्त्रों से अथवा अक्षरों से ज्ञान होता हो तो क्या आत्मा में ज्ञान नहीं था? आत्मा अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य इत्यादि अनन्तगुणों की शक्ति का अखण्ड पिंड प्रतिसमय परिपूर्ण है उसकी यथार्थ पहिचान करके अशुभ से बचने के लिये राग को मन्द करके व्रत भक्ति आदि शुभ का अवलम्बन लिया जाता है इतने मात्र के लिये शुभभाव ठीक होता है किन्तु वह धर्म में सहायक नहीं है।

व्यवहारनय को कथंचित् असूतार्थ कहा है। कर्म के निमित्त में युक्त होने से जो गैर लाभ होता है वह सर्वथा अविद्यमान नहीं है। यदि पर्याय को सर्वथा असत्य माना जाय तो पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही न रहे। अशुभराग को दूर करने के लिये शुभभावरूप व्यवहार पुरुषार्थ से होता है अपनेआप नहीं होता। भूतार्थ-शुद्धदृष्टि की प्रतीति से अखण्ड की रुचि के बल द्वारा स्थिरता करने पर राग दूर होजाता है। उस अपेक्षा से राग को अभूतार्थ कहा है। अभूतार्थ का अर्थ आत्मा के स्वभाव में न होना है। यहां पर शुभभाव को असद्भूत व्यवहारनय का विषय कहा है। आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिये असद्भूत और अवस्था में कर्म के संयोग से होता है सो एक

समय की अवस्था मात्र को होता है, नित्यस्थायी नही है इसलिये व्यवहार है ।

अखण्ड ध्रुव स्वभाव के लक्ष से स्थिरता के अंश बढते हैं सो दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अवस्था सद्भूत है अथवा आत्मा मे शक्तिरूप से जो अनन्त निर्मल गुण हैं वे अखण्ड के लक्ष से निर्मलता के अंश प्रगट हुए हैं, इसलिये शक्ति मे से व्यक्त होने वाली पर्याय सद्भूत है, और अखण्ड स्वभाव के लक्ष से भेद होते हैं इसलिये वह व्यवहार है ।

यदि अकपायदृष्टि न हो और मात्र शुभरागरूप महाव्रतादि हो तो उसे असद्भूत व्यवहार भी नही कहा जासकता । यद्यपि शुभभाव वन्धन है तथापि अशुभभाव को छोडने के लिये शुभभाव ठीक है, यदि ऐसा न माने और शुभभाव को छोडदे तो, अभी वीतराग तो हुआ नही है इसलिये पापवन्ध करके नरकादि गतियो मे होकर परम्परा से निगोद मे जायेगा ।

शुभराग करते-करते धीरे-धीरे लाभ होता हो सो भी नही है । शुभाशुभ राग मेरा स्वरूप नही है, मैं निरावलम्वी ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि करके पहले राग का श्रद्धा मे अभाव करे और पूर्ण निर्मल ज्ञायक स्वभावको ही आदरणीय माने तो अन्तरग मे यथार्थ की ओरकी रुचि होने से सम्यक्दर्शन प्रगट होता है ।

छट्ठे गुणस्थान तक शुभ व्यवहार कैसा होता है यह वात उसकी क्रमिक भूमिका के अनुसार वारहवी गाथा में कही है । सातवें गुणस्थान में व्रतादि का शुभ-व्यवहार भी नही होता, वहाँ तो बुद्धि-पूर्वक विकल्प छूटकर अखण्ड रुचि में लीनता-एकाग्रता होती है । छट्ठे गुणस्थान से ही कषायत्रय की चौकडी का अभाव होता है, इसलिये सातवें और उससे ऊपर के गुणस्थानवर्ती मुनि के उपदेश ही नही होसकता । आचार्य महाराज कहते हैं कि चौथे-पाँचवें और छट्ठे गुण-स्थान में गुण की रुचि से वीतरागी उपदेश सुननेके सहज शुभभाव होते हैं । जिसे यह खबर नही है वह बाह्य-प्रवृत्ति को शुद्धि का साधन मानकर उसमें लग जाता है । बाह्य-प्रवृत्ति से अन्तरग परिणाम नही

सुधरते, क्योंकि किसी की अवस्था किसी के आधीन नहीं है। गृहस्थ दशा में परवस्तु के संयोग अधिक हैं किन्तु उन संयोगों से भाव नहीं बिगड़ते। किन्तु स्वयं उनमें इष्ट–अनिष्ट की कल्पना करके अशुभभाव कर रहा है उन्हें बदलकर अपने पुरुषार्थ से शुभभाव होते हैं वे अपने आप नहीं होते।

जिसे सम्यकदर्शन की खबर नहीं है और न जो यह जानता है कि सच्चे देव गुरु शास्त्र कौन हैं तथा वे जन्म–मरण को दूर करने के उपाय को समझने में किसप्रकार निमित्त होते हैं और जिसे सत्योन्मुख होकर शुभभाव नहीं करना है वह अपने परिणाम को भूलता है, वह मात्र पाप करके नरक में और परम्परा से एकेन्द्रिय निगोद में जाता है। जो तत्वज्ञान का विरोध करता है वह निगोद को प्राप्त करके संसार में परिभ्रमण करता है।

आलू आदि कन्दमूल में उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रियधारी जीव निगोदिया हैं। राई के छोटे से टुकड़े के बराबर भाग में असंख्यात शरीर होते हैं और ऐसे एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं जो कि तीव्र मूढ़ता और आकुलतावश एक श्वासोच्छ्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। उन्हें नारकीय जीवों से भी अनन्तगुना अधिक दुःख होता है। बाह्य–संयोग दुःख नहीं है किन्तु अज्ञान और आकुलता दुःख है। पहले तत्वज्ञान का विरोध किया था इसलिये ज्ञान की अनन्तशक्ति कम होगई और गुण की अनन्त हीनदशा प्राप्त हुई उसी में आकुलता का दुःख है। ज्ञायकस्वरूप में जो सावधानी है सो सुख है और विकारी भाव में जो सावधानी है सो दुःख है।

लोग बाहर के संयोगों को लेकर सुख दुःखका माप तोल करते हैं किन्तु वह झूठा है। किसी के पास लाखों रुपयों का संयोग हो और शरीर निरोगी हो किन्तु भीतर इच्छा के प्रतिकूल होने से कोई खटक लगी हो अपमान हुआ हो भाई–भाई के बीच क्लेश होगया हो जो कि कहने में न आती हो–जिसे कि बाहर नहीं कहा जा सकता तथा ऐसे ही और अनेक कारण होसकते हैं जिनको परेशानीको लेकर भीतर

हो भीतर अनेक कल्पनायें करके आकुलित होकर जलता रहता है। वाहर से अनुकूल सयोग दिखाई देते हो तथापि भीतरी मान्यता में आकुलता का दुख खटकता रहता है। तात्पर्य यह है कि वाह्य–सयोग से सुख–दुख नही होता। यदि भ्रम को छोडकर यथार्थ ज्ञान करे तो सुखी होसकता है। किसी को वाहर से प्रतिकूलताका सयोग हो तथापि मै पर से भिन्न हूं, पर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही है, मैं पवित्र ज्ञानानन्दरूप हूं, परवस्तु मुझे हानि–लाभ का कारण नही है, इसप्रकार यदि शान्त ज्ञानस्वभाव को देखे तो चाहे जिस देश में अथवा चाहे जिस काल मे दुख नही है। नरक मे भी सयोग दुख का कारण नही है, किन्तु भ्रम से पर मे अच्छा–वुरा मानने की जो बुद्धि है वही दुख है। नरक मे भी आत्मप्रतीति करके शान्ति का अनुभव किया जासकता है, क्योकि आत्मा किसी भी काल में और किसी भी क्षेत्र मे अपने अनन्त आनन्द गुण से हीन नही है। वह सदा अपने मे ही रहता है। आत्मा को परक्षेत्रगत कहना व्यवहारमात्र है।

एकेन्द्रिय दशा को प्राप्त जीवो ने पहले तत्त्वज्ञान का उग्र–विरोध किया था इसलिये उनकी अवस्था अनन्तगुनी हीन होगई है, वहाँ पर जीव तीव्र कषाय और मोहकी तीव्रता मे अनन्ती आकुलताका अनुभव करता है। शरीर के प्रति जो मोह है सो दुख है। जो शरीर है सो मैं नही हूं, इसप्रकार स्वाधीन अविनाशी पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करके जितना स्वभावोन्मुख होता है उतने ही अश में सुखानुभव होता है–दुखानुभव नही होता।

शुद्धनय का विषय साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसे पहले यथार्थ रीति से जानकर पूर्ण–निर्मल स्वरूप की श्रद्धा करने के बाद जबतक पूर्ण नही होजाता तबतक भूमिकाके अनुसार प्रयोजनभूत अवस्था समझनी चाहिये। सराग और वीतराग अवस्था जैसी हो उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है और पूर्ण अखण्ड स्वरूप को जानना सो निश्चय है, इन दोनो का यथार्थ ज्ञान करने वाला सच्चा ज्ञान प्रमाण कहलाता है, किन्तु वह परोक्ष–प्रमाण है। कोई भी राग मेरे लिये सहायक नहीं

है वह त्याज्य है। मेरा अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभाव सहायक है इसप्रकार प्रथम श्रद्धा में आने के बाद निश्चय और व्यवहार अर्थात् अखण्ड वस्तु और भेदरूप अवस्था–दोनों का ज्ञान करता है। व्यवहार से निश्चय प्रगट नहीं होता किन्तु निश्चयमें व्यवहार गौणरूप से आजाता है लेकिन वह व्यवहार निश्चय में सहायक नहीं होता।

लोगों को व्यवहार का यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये व्यवहार से धर्म मानते हैं जो कि मिथ्या है। जहाँ यथार्थ निश्चय वस्तुदृष्टि है वहाँ निचली दशा में रागके दूर करने पर शुभराग रहता है और निर्मल अवस्था के अंश बढ़ जाते हैं। उसे यथावत् जानना सो व्यवहार है। शुभरागरूप व्यवहार से धीरे-धीरे परमार्थ प्राप्त हो जाता है, ऐसी श्रद्धा त्रिकाल में भी यथार्थ नहीं है।

व्यवहारदृष्टि–निमित्ताधीनदृष्टि–रागदृष्टि का आश्रय करने वाला मिथ्यादृष्टि है। निरावलम्बी नित्य स्वभावदृष्टि का पथ है भूतार्थदृष्टि या निश्चयदृष्टि उसके आश्रित सम्यक्दृष्टि है इस बातको ग्यारहवीं गाथामें कहकर बारहवीं गाथा में व्यवहार का यह ज्ञान करने को कहा है कि निश्चय के यथार्थ आश्रय में कहाँ–कहाँ कैसी अवस्था होती है। यदि अवस्था को भुला दिया तो निर्मलता करनेका पुरुषार्थ नहीं होगा और यदि अवस्था पर–व्यवहार पर ही दृष्टि रखी तो निर्मल अवस्था नहीं होगी। यदि निश्चय का लक्ष नहीं रखा तो निरावलम्बी अखण्ड तत्त्व की प्रतीति का नाश होजायेगा।

निरपेक्ष निर्विकारी ज्ञायक स्वभाव को यथार्थ न्याय से लक्ष में लेने पर उसके बल से विकार का नाश होता है और विकारके लक्ष से अथवा निर्मल अवस्था के लक्ष से राग का नाश नहीं होता। जिसे ऐसी श्रद्धामय यथार्थ स्वरूप का निश्चय होता है उसे वर्तमान अवस्था का यथार्थ विवेक अवश्य होता है तथापि यहाँ पर व्यवहारनयका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिये उपदेश में व्यवहार से कहना पड़ता है कि तू अशुभराग को छोड़ने के लिये शुभभाव का आश्रय ले। और फिर दूसरा आशय यह है कि कोई ग्यारहवीं गाथा का आशय न समझे

और यह मानकर कि मात्र अखण्डतत्त्व है, अवस्था नही है—व्यवहार का ज्ञान न करे तो पुरुषार्थ नही कर सकेगा, इसलिये निश्चय और व्यवहार की अविरोधी संधि को लेकर दोनो गाथाओ में मोक्षमार्ग का स्वरूप समझाया है।

इसे समझे बिना यदि व्यवहार से चिपका रहे तो तत्त्व की श्रद्धा का नाश होजायेगा, और अवस्था के प्रकार को न जाने तो मोक्ष-मार्ग का नाश होजायेगा, अर्थात् जो व्यवहार को न मानता हो उसे स्पष्ट समझाने के लिये यह बारहवी गाथा है।

पराश्रय से होने वाला विभावभाव वर्तमान अवस्थामात्र के लिये क्षणिक है, और उसका नाश करने वाला स्वभावभाव त्रिकाल-स्थायी भूतार्थ है। उस निरावलम्बी, असग, अविकारी ज्ञायक स्वभाव को जीव ने अनादिकाल से नही जाना इसलिये वह वर्तमान अवस्था मे विकार मे स्थित हुआ है। शरीर, मन, वाणी तो पर हैं, उनके साथ आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नही है। आत्मा अविकारी ज्ञायक एकरूप वस्तु है, उसमें पर के सम्बन्धरूप विकल्पवृत्ति होती है सो विकार है। फिर चाहे वह दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि का शुभराग हो या हिंसा, चोरी इत्यादि का अशुभभाव हो, किन्तु वे दोनो विकार हैं। वे क्षणिक अवस्थामात्र तक होने से बदले जासकते हैं—नष्ट किये जासकते हैं। दोष का नाश, निर्मल अवस्था की उत्पत्ति और उस निर्मल अवस्था को धारण करने वाला नित्य ध्रुव है। यदि वह नित्य एकरूप स्थिर न रहता हो तो विकार को दूर करूँ और विकार रहित सुखी होजाऊँ यह कथन ही नही होसकता। स्वतन्त्र अर्थात् विकार रहित, पराश्रय रहित एकरूप निर्मल पूर्ण ज्ञानानन्दभाव से रहना, यही स्वभावभावरूप मोक्ष है। पूर्ण निर्मल पवित्र दशा मोक्ष है और उसकी कारणरूप हीन निर्मलदशा मोक्षमार्ग है।

विकारी अशुद्धभाव जीव की वर्तमान अवस्था में नये होते हैं, किन्तु वह अपना स्वाश्रित ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं अविकारी पूर्ण हूँ, पर के-कारण से मेरा बनना—बिगड़ना नहीं होता इसलिये मैं स्वतत्र हूँ, इस-

प्रकार त्रैकालिक पवित्र स्वभाव का निश्चय करके अखण्ड स्वाश्रितदृष्टि के बल से क्षणिक विकार का नाश होसकता है और जो निर्मल अवस्था शक्तिरूप से है वह प्रगट होसकती है। इसमें दो पक्ष आते हैं—मैं पूर्ण हूँ सो निश्चय और उसकी वर्तमान अवस्थाके विकार–अविकाररूप दो भर्गों को देखना सो व्यवहार है। उन भेदों पर दृष्टि डालने से विकल्प होता है और नित्यस्थायी अखण्ड भूतार्थ स्वभाव पर लक्ष करने से राग का भेद छूट जाता है और अवस्था निर्मल होकर द्रव्य में मिल जाती है।

श्रद्धा के बल से पूर्णदशा प्रगट नहीं होती क्योंकि श्रद्धा तो आत्मा के गुण की पर्याय है। उस अपूर्ण अवस्था के बल से पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट नहीं हो सकती किन्तु सबशक्ति की पूर्ण सामर्थ्य रूप स्ववस्तु की ओर बलवती एकाग्रता करने पर पहले अपूर्ण निर्मल अवस्था और फिर पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट होती है।

एकरूप स्वभाव पर यथार्थ निश्चय की दृष्टिका जोर देने पर भ्रम और विकारी अवस्था का नाश निःशंक सम्यकदर्शन और आंशिक निर्मलता की उत्पत्ति होती है तथा वस्तु एकरूप ध्रुव रहती है। वर्तमान होने वाली अवस्था को देखने वाली व्यवहारदृष्टि को गौण करके निर्मल निरपेक्ष निरावलम्बी असंग एकरूप सदृश स्वभाव को अखण्ड रूप से लक्ष में लेना सो सम्यकदर्शन है। श्रद्धा का विषय अभेद है किन्तु जो अवस्थायें होती हैं उन्हें यदि ज्ञान से वैसा न जाने तो ज्ञान में भूल होती है और ज्ञान में भूल होने पर दृष्टि में भूल होती है इसलिये सम्पूर्ण निर्मल निरपेक्ष स्वभाव को देखना सो निश्चय और अवस्था को देखना सो व्यवहार है। इसप्रकार दोनों को एक वस्तु में जानने वाला ज्ञान प्रमाण है। विकार उपादेय नहीं है ज्ञेयमात्र है।

इसप्रकार ग्यारहवीं और बारहवीं गाथा में निश्चय और व्यवहार को अविरोधी संधि किसप्रकार है सो चतुर्थ कलश में कहते हैं:—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एवं ॥ ४ ॥

अर्थः—निश्चय और व्यवहार—इन दो नयो में विषय के भेद से परस्पर विरोध है, इस विरोध का नाश करने वाले 'स्यात्' पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान के वचन में जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति के साथ अभ्यास करते हैं) वे पुरुष अपने आप (अन्य कारणो की सहायता के बिना) मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखते हैं। कैसा है वह समयसाररूप आत्मा ? नवीन उत्पन्न नही हुआ, पहले कर्म से आच्छादित था जो कि प्रगट व्यक्तिरूप होगया है। और फिर कैसा है ? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नही होता, निरबाध है।

पराश्रितरूप से होने वाला भाव एक प्रकार का नही होता, इसलिये आत्मा मे जो भूल होती है वह भी अनेक प्रकार की होती है और आत्मा का ध्रुवस्वभाव एक प्रकार का है।

आत्मा व्यवहार से निर्मल अवस्था का कर्ता–भोक्ता है। व्यवहार का विषय भेदरूप होने से निश्चयनय के अभेद विषय से उसका विषय विरोधरूप है तथापि व्यवहार है जिसका निषेध नही है, किन्तु उसका लक्ष अभेददृष्टि में गौण है।

जो पर-लक्ष से शुभाशुभ वृत्ति करता है, अर्थात् रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द में राग को लेकर अच्छे-बुरे भाव से लक्ष करनेपर उसमें जो लीनता होती है सो विषय है। धर्म के नाम से पर में जो अच्छीवृत्ति होती है वह भी पर–विषय में–राग में जाती है। मैं पर–सयोग तथा रागादिरूप नही हूं, किन्तु त्रिकाल एकरूप ज्ञायक हूं, इस-प्रकार स्वलक्ष करे तो भूल और मलिन अवस्था का नाश तथा (यथार्थ प्रतीतियुक्त) निर्मल श्रद्धा और अविकारी प्रतीति की प्राप्ति होती है।

(प्राप्ति होने का अर्थ यह है कि निज में जो शक्ति थी वह स्वभाव के बल से व्यक्त होती है ।)

जो अवस्था जैसी है उसे वैसी ही जानना चाहिये । यदि वस्तु *बिल्कुल अखण्ड एकरूप ध्रुव हो और उसमें अवस्था का बदलना न हो–* कूटस्थ हो रहे तो विकार का और भ्रान्ति का नाश तथा अविकारी अवस्था का प्रादुर्भाव नहीं होसकेगा । तथापि जिसे दोनों अपेक्षाओं के प्रकार की खबर नहीं है उसे एक तत्त्व का ज्ञान करने में खण्ड-अखण्ड–रूप दो विषयोंके भेद से दो अपेक्षाओं में परस्पर विरोध मालूम होता है किन्तु उस विरोध का नाश करने वाली स्याद्पद लक्षण वाली वीतराग की स्याद्वाद वाली न्याय से स्वतंत्र वस्तु को अविरोधरूप से सिद्धित् करती है । जिस अपेक्षासे वस्तु नित्य है उसी अपेक्षा से अनित्य नहीं है किन्तु वस्तुदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य है । विकार मेरा स्वरूप नहीं है मैं विकार का नाशक हूँ इसप्रकार अविकार के लक्ष से भेददृष्टि को (व्यवहार को) गौण करके पूर्ण अखण्ड वस्तु को लक्ष में न ले तो *त्रिकाल एकरूप स्वभाव का आश्रय नहीं होता ।* और यदि अवस्था भेद को न माने तो पुरुषार्थ नहीं होगा क्योंकि वस्तुका लक्ष अवस्था के द्वारा होता है और वस्तु के आश्रय से निर्मलता प्रगट होती है ।

यदि व्यवहारनय का विषय अवस्था न हो तो यह उपदेश मिथ्या सिद्ध होगा कि तू रागद्वेष को दूर करके निर्मल हो भ्रांति को छोड़कर अभ्रान्त हो । संसार अवस्था के समय भी आत्मा में त्रिकाल वस्तुस्वभाव की दृष्टि से शुद्धत्व ही है और पर–सम्बन्ध से वर्तमान अवस्थादृष्टि से अशुद्धत्व है । सर्वज्ञ भगवान ने जिस अपेक्षादृष्टि से जिस प्रकार वस्तु का वर्णन किया है उसीप्रकार वस्तु को जाने तो मोह का अवश्य नाश होता है । इस बात को समझने के लिये जो प्रेमपूर्वक और ध्यान से सुनेगा वह उच्च पुण्यबन्ध करेगा और जो समझेगा वह कृत कृत्य होजायगा ।

आत्मा परमार्थतः पर से और विकार से भिन्न है तथा पूर्ण

निरावलम्बी है। उसकी महिमा को सुनकर वस्तु के प्रति बहुमान करे, अन्तरग से उमगपूर्वक स्वीकार करे कि अहो ! यह बात अपूर्व है। इस-प्रकार यथार्थ की ओर जाते हुए सहज स्वीकृति हो तो स्वभावोन्मुख हुए बिना नही रहेगा। यदि किसी को यह बात जल्दी समझ मे न आये तो भी उसके प्रति आदरभाव रखकर वह समझने की जिज्ञासा रखे कि यह क्या कहा जारहा है, तो मन ऐसा एकाग्र होजाता है कि जिससे महान पुण्यबन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप इसीप्रकार तत्त्व को सुनने का योग पुन-पुन मिलता है। जो यह जानते हैं कि हमें यथार्थ तत्त्व सुनने को मिला है वे पुण्यबन्ध के लिये नही सुनते। जिस अपेक्षा से अथवा जिस न्याय से वस्तुस्थिति कही जाती है उसमे यदि शब्द आगे पीछे समझ मे आये तो मेल नही खाता।

स्यात् पद से चिह्नित जो श्री जिनेन्द्र भगवान के वचन हैं वे अनेकधर्म स्वरूप स्वतत्र वस्तु को पर से भिन्न तथा अपने ज्ञानादि अनत गुण और पर्यायो से अभिन्न बतलाते हैं। जब नित्य अभिन्न वस्तु स्वभाव को मुख्य बताया जाता है तब वर्तमान अनित्य अवस्था का लक्ष गौण समझना चाहिये, इसप्रकार सर्वज्ञ वीतराग की स्याद्वाद वाणी अवि-रोधी वस्तु को दो अपेक्षाओ से बतलाती है।

जो वस्तु को एकान्त अखण्ड शुद्धरूप मानकर अवस्थाको उडा देना चाहते हैं वे अवस्था को-पर्याय को समझे ही नही इसलिये उनका ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। अवस्था बदलती है तथापि वह भ्रम है यह कहने वाला स्वय ही भ्रमरूप सिद्ध होता है। अशुद्धता अपने ध्रुवस्वभाव में नही है, किन्तु यदि यह माने कि वर्तमान अपूर्ण अवस्था में विकार नही है तो विकार को दूर करने का पुरुषार्थ ही नहीं होसकेगा।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी के न्याय से जो निश्चय और व्यव-हार—दोनो नयो के द्वारा यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय करके एकरूप स्वाधीन वस्तु को जाने कि मैं निश्चय से त्रिकाल एकरूप निर्मल हूँ, पूर्ण हूँ और व्यवहारदृष्टि से वर्तमान अवस्था ऐसी है तथा जो पराश्रय से

विकारी एव स्वलक्ष से निर्मल पर्याय प्रगट होती है यह अवस्था मुझमें होती है- इसप्रकार दोनों नयों को जाने और एक को मुख्य तथा दूसरे को गौण करके वस्तु को लक्ष में ले तो यथार्थता निश्चित् होती है।

मिथ्या-व्यवहार के भेद के आग्रह की बात घर-घर सुनाई देती है। मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ शुभविकार से मुझे लाभ होगा, हम देह की क्रिया कर सकते हैं तथा दूसरे को बना या बिगाड़ सकते हैं ऐसा लोक व्यवहार आत्मा को सिखाना नहीं पड़ता उसका तो अनादि काल से परिचय चला आरहा है। किन्तु मैं चिदानन्द निर्विकार ध्रुव हूँ विकार का या पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ मेरा स्वभाव मलिन अवस्थारूप नहीं है यह जानकर भेद को गौण करके यथार्थ शुद्धदृष्टि के विषय का ज्ञान कराने वाले और उसका उपदेश देने वाले बहुत विरल हैं।

कोई आत्मा को सर्वथा अखण्ड-अविकारी मानकर अवस्थाके भेदों को उड़ाना चाहता है अर्थात् जो यह मानता है कि-पराबलम्बन से अनिरयतया होने वाले परिणाम सवथा जड़ के हो हैं इन्द्रियां अपने (इन्द्रियों के) विषय को भोगती हैं मैं नहीं भोगता वह स्वच्छन्दी है और इसीलिये संसार में परिभ्रमण करता है। जड़-इन्द्रियविषय को आत्मा नहीं भोग सकता तथापि स्वयं अपने को भूलकर परमें सुख की कल्पना करता है और अच्छा-बुरा मानकर राग में एकाग्र होकर आकुलता का वेदन करता है। जड़ में विकार नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं विकारी भाव से विकारी अवस्था को धारण करता है उस विकार में परवस्तु निमित्त होती है। राग की वृत्ति पर-लक्ष से होती है जो कि नित्यस्वभाव के लक्ष से दूर होती है इसलिये जो दूर होती है वह मधू तार्थ है मेरे ध्रुवस्वभाव में वह नहीं है यह जानकर अभेद स्वभाव को लक्ष में लेना सो तत्त्वदृष्टि का विषय है।

जो पुरुष सवज्ञ की वाणी के न्यायानुसार यथार्थ तत्त्व का निर्णय करने के लिये निश्चय और व्यवहार के अविरोधी न्याय में रमते

रहते हैं, अर्थात् प्रचुर प्रीति सहित—वास्तविक तीव्र रुचि के साथ अभ्यास करते हैं वे जहाँ-जहाँ जिस-जिस अपेक्षा के भाव का कथन होता है वहाँ उसीप्रकार समझते हैं, और दूसरे भाव की अपेक्षा गौण समझते हैं।

निश्चय से स्वभाव को देखना और व्यवहार से अवस्था को यथावत् जानना चाहिये, इसप्रकार यथार्थ वस्तु का निर्णय करनेके लिये उसका अभ्यास करना चाहिये। ससार की रुचि के लिये जागरण करता है, उपन्यास पढता है, नाटक देखता है किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के शास्त्र मे क्या कथन है और सच्चा हित कैसे होसकता है उसकी चिंता नहीं करता। उसके लिये कोई किसी से न तो कुछ पूछता है और न याद करता है। लोक व्यवहार मे पुत्र अपने पिता से यह नही पूछता कि आप मरकर कहाँ जायेंगे ? आपने यथार्थ हित क्या समझा है ? क्योंकि देखने वाला स्वय भी बाह्य परिस्थिति में ही विश्वास करता है इसलिये वह न तो यह देखता है और न यह जानता है कि भीतर ज्ञातास्वरूप कौन है ! उसे देह पर राग है इसलिये वह अपने बीमार पिता से पूछा करता है कि आपको जो केन्सर रोग हुआ है वह अब कैसा है ? इसप्रकार दूसरे की खबर पूछता है किन्तु अनादिकाल से जो अपने को ही अज्ञानरूपी केन्सर हुआ है, जन्म-मरणका कारणभूत विपरीत मान्यता का महारोग लगा हुआ है उसके लिये कोई नही पूछता। बाजार में से चार पैसे की वस्तु लेते समय बडी सावधानी से देखता है कि-कहीं ठगे तो नही जारहे हैं, क्योंकि घर पर उस सम्बन्ध में पूछने वाले बैठे हैं। किन्तु अन्तरग में भूल की चिन्ता कौन करता है ? कौन पूछता है ? न तो पिता को पुत्र की भलाई की खबर है और न पुत्र को पिता के हित का ध्यान है। मरकर पशु-पक्षी अथवा नारकी होगे इसलिये अपूर्व ज्ञान प्राप्त करने का यह सच्चा अवसर है, यदि इसप्रकार निज को चिन्ता हो तो अपने को जो अनुकूल पडे उसका दूसरे को भी आमन्त्रण दे, किन्तु वह तो अनादिकाल से देहादिक बाह्य-सयोगो को

आत्मा मानता आया है और उसे वह अनुकूल पड़ता है इसलिये उसी को बारम्बार याद करता है।

लड़का मर गया है यह मानकर अज्ञानी जीव रोता है किन्तु वह यह नहीं जानता है कि शरीरके परमाणुओं का अथवा आत्मा का–किसी का भी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय बदलती है। क्योंकि संयोग में सुख–दुःख मान रखा है इसलिये असंयोगी भाव नहीं रुचता। देह पर राग है इसलिये देह की सुविधा के लिये जिस संयोग को अनुकूल मानता है उसका आदर करके राग करता है और जिस संयोग को प्रतिकूल मानता है उसका अनादर करके द्वेष करता है। यह सब अपने भाव में ही करता है पर में कुछ नहीं कर सकता तथापि परका करने की आकुलता होती है यही दुःख है। संयोग से सुख नहीं होता किन्तु वह अपनी स्वाधीन सत्ता में ही विद्यमान है। आश्चर्य तो यह कि–कोई आत्मा की नाड़ी देखकर उसका यह निदान नहीं करना चाहता कि उसे सच्चा सुख कैसे प्रगट हो।

यदि निज को सच्चे धर्मकी रुचि हो तो उसकी भावना भाये और धर्म के प्रति राग उत्पन्न हो। यदि अनन्त भव–मरणों को दूर करना हो तो इसे समझना ही चाहिये इसे समझने के लिए तीव्र इच्छा और सम्पूर्ण सावधानी होनी चाहिये। जिसे सत्य को सुनने का प्रेम जागृत होजाता है उसे स्वप्न में भी वही मन्थन होता रहता है। वह अन्य चिन्ताओं को छोड़कर मात्र एक आत्मा की ही रुचि में रमता रहता है।

जो निश्चय–व्यवहार के अविरोधी पक्षभूओं का ज्ञान निश्चित करके सर्वज्ञके न्याय–वचन से यथार्थ तत्त्व का बारम्बार अभ्यास करता है उसका मिथ्यात्व–मोह (पर में सुख दुःख की बुद्धि, कर्तृत्वरूप अज्ञान और उसका निमित्त मोहकर्म) स्वयं नष्ट होजाता है। अपने अखण्ड स्वभाव में वास्तविक रुचि से एकाग्र होने पर अयथार्थ श्रद्धा के निमित्त–कारण दर्शन–मोह का स्वयं वमन (नाश) होजाता है। जिसका वमन कर दिया उसे कोई भी ग्रहण नहीं करना चाहता।

दूज के चन्द्रमा के उदित होने पर वह बढकर पूर्णिमा का चन्द्र अवश्य होगा, उसीप्रकार यथार्थ पूर्ण स्वभाव के लक्ष से सम्यक्‌दर्शन का निर्मल अश प्रगट होने पर वह पूर्ण निर्मल हुये बिना नहीं रहेगा। मैं पूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभाव वाला हूँ ऐसी रुचि की प्रबलता से जो बारम्बार यथार्थ अभ्यास करता है वह अस्तिके बल से मिथ्यात्व मोह-कर्म और उसमें सयुक्त विपरीत मान्यता का बमन करके अपने ध्रुव-स्वभाव की महिमा से पूर्ण अतिशयरूप परमज्योति निर्मल ज्ञायकरूप पूर्ण प्रकाशमान अपने शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखता है।

निश्चय से अर्थात् नित्य स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा अखण्ड शुद्ध है और वर्तमान अवस्था से देखने पर पर–सम्बन्ध से होने-वाला विकार (पुण्य–पाप की वृत्ति) भी है। अज्ञानभावसे आत्मा विकार का–रागद्वेष का कर्ता है, और ज्ञानभाव से अज्ञान तथा विकारका नाशक है। परमार्थ से आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। ऐसा स्वरूप समझे बिना लौकिक समस्त नीति का पालन करे अथवा धर्म के नाम पर पुण्यबन्ध करे किन्तु उससे परमार्थ तत्त्व को कोई लाभ नही होता। किसी बाह्य क्रिया से पुण्य नही होता किन्तु यदि अतरग से शुभभाव रखे, अभिमान न करे और तृष्णा को कम करे तो पुण्य–बध होता है किन्तु उससे भव कम नही होते। अज्ञान पूर्वक के शुभभाव में पापनुबधी पुण्य का बंध करके उसके फल से कभी देव होता है, किन्तु अज्ञान के कारण वहाँ से मरकर पशु और फिर नरकादिक पर्याय में परिभ्रमण करता है। किन्तु यहाँ तो भव न रहने की बात है।

कैसा है समयसाररूप शुद्ध आत्मा ? नवीन उत्पन्न नही हुआ, प्राप्त की ही प्राप्ति है, अखण्ड स्वभाव के लक्ष से निज वस्तु मे से यथार्थ श्रद्धा ज्ञान आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे चने का स्वाद स्वभाव से मीठा है किन्तु वर्तमान अवस्था में कचाई के कारण वह अप्रगट है। कच्चे चने को (पक्व मानकर) खाने से वास्तविक स्वाद नही आता; चने की वर्तमान कच्ची अवस्था प्रगट है और भीतर स्वाद-युक्त गुण शक्तिरूप से विद्यमान है, इसकार एक चने में दोनो अवस्थाओं

को न जाने तो कोई चने को भूनकर उसका स्वाद प्रगट करने का प्रयत्न ही न करे इसीप्रकार भगवान आत्मा चिदानन्द नित्य एकरूप है उसमें वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कचास है और शक्तिरूप से निराकुल आनन्द का स्वाद वाला पूर्ण स्वभाव है, इन दोनों प्रकारों को जाने तथा सम्पूर्ण अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभावके लक्ष से भार देने पर जैसा शुद्ध पूर्ण स्वभाव है वैसा ही प्रगट होता है यथार्थ की प्रतीति होने पर विपरीत मान्यतारूप अवस्था का नाश और सच्ची मान्यता की उत्पत्ति होती है तथा वस्तु तो ध्रुवरूप से स्थायी है ही।

प्रश्नः—गुण के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—तू स्वयं ही गुण को जानने वाला गुणस्वरूप है उसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। आत्मा के ज्ञान की जानकारी और ज्ञान की स्थिरतारूप क्रिया करनी चाहिये। आत्मा देह की क्रिया अथवा पर का कोई कार्य नहीं कर सकता।

मध्यस्थ होकर इस वस्तु को ज्यों की त्यों समझनी चाहिये। पुण्य-पापादि के भंग को मिलाये बिना अविकारी ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि शुरू करनी चाहिये और व्यवहारनय के विषय को ज्यों का त्यों जानकर उसे गौण करके निर्मल अखण्डस्वभाव के लक्ष से एकाग्र होना ही प्रारंभ का-पूर्ण निर्मलता को प्रगट करने का उपाय है। निज को भूलकर पर को विषय बनाकर जो रागद्वेष तथा अज्ञानरूप परिणाम किये सो ही अज्ञानभाव का कार्य है। विपरीत मान्यता से अपना पर से भिन्नत्व भूल गया है और इसलिये सम्पूर्ण आत्मा अज्ञान से आच्छादित हो गया है। किन्तु मेरे स्वभाव में विकार नहीं है विकार पर के सम्बन्ध से वर्तमान एक-एक समय की अवस्थामात्र के लिये होता है उसका स्वभाव के बल से नाश हो सकता है इसप्रकार नित्यस्वभाव के लक्ष से एकाग्र होने पर जिसे आच्छादित माना था वह प्रगट होगया अर्थात् उसकी यथार्थ प्रतीति प्रगट हो गई।

आत्मा का स्वभाव किसी परवस्तु से रुका हुआ अथवा बद्ध नही है, तथापि जहाँ तक अवस्था में जैसा विकार होता है वैसा ही जड-कर्म निमित्त होता है और उससे व्यवहारदृष्टि से आत्मा बँधा हुआ कह-लाता है, किन्तु जडवस्तु आत्मा मे त्रिकाल में भी नही है। प्रत्येक वस्तु पर की अपेक्षा से नास्तिस्वरूप है। जो अपने मे है ही नही वह क्या हानि कर सकती है? यह दृष्टि विपरीत है कि पर का—कर्म का बन्धन दूर होजाये तो सुखी होजाऊँ, अथवा मैं इस बन्धन के आने से दुःखी होरहा हूँ। विकार करने की आत्मा की योग्यता है, उसमें निमित्तरूप से जडकर्म अपने स्वतत्र कारण से उपस्थित होता है। यदि आत्मा अपनी ओर लक्ष रखे तो अपने मे विकार न हो किन्तु जब स्वय निज को भूलकर पर की ओर लक्ष करता है तब विकार होता है, उसमें जडकर्म निमित्त होता है, वह विकार वर्तमान एक अवस्थामात्र के लिये होता है। यदि स्वभाव का लक्ष करे तो विकारी अवस्था को वदलकर अविकारी अवस्था प्रगट कर सकता है। भीतर स्वभाव में गुण की पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके लिये बाह्य में कुछ नही करना पडता। जैसे लेंडीपीपर में चरपराहट की शक्ति भरी हुई है, जो कि उसके घोटने से उसी मे से प्रगट होती है। वर्तमान में उसकी चर-पराहट प्रगट नही है तथापि उसकी शक्ति पर विश्वास किया जाता है कि इसमें वर्तमान में चौंसठ पुटवाली चरपराहट शक्तिरूप से विद्यमान है, जो कि सर्दी को दूर कर देगी। इसप्रकार पहले विश्वास किया जाता है पश्चात् उसे घोटकर उसका गुण प्राप्त किया जाता है। इसी-प्रकार आत्मा में वर्तमान अपूर्ण अवस्था के समय भी अनन्तज्ञान और अनन्तसुख इत्यादि अनन्तगुणो की पूर्ण अखण्ड शक्ति भरी हुई है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर वह प्रगट होती है। निज—स्वभाव का विश्वास नही किया अर्थात् जो देह है सो मैं हूँ, राग-द्वेष मेरे काम हैं, इसप्रकार अज्ञान के द्वारा आत्मा के स्वभाव को ढक दिया और यह मान लिया कि मैं ऐसा पूर्ण नहीं हूँ, किन्तु यथार्थ स्वभाव के द्वारा जब पूर्ण स्वभाव की प्रतीति की तब कहा जाता है कि शुद्ध

आत्मा प्रकाशित हुआ है–प्रगट हुआ है ।

कैसा है शुद्ध आत्मा ? सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निरबाध है । यदि सर्वथा एक पक्ष से आत्मा को नित्य कूटस्थ ही माना जाये तो रागद्वेष की विकारी अवस्था नहीं बनसी आसकती । यदि कोई आत्मा को क्षणिक-संयोगमात्र तक ही सीमित माने तो पाप का भय न रहे और नास्तिक स्वच्छन्द होजायेंगे । किन्तु द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से नित्य शुद्ध अखण्ड स्वतन्त्र वस्तुरूप से जाने और व्यवहारदृष्टि से भेदरूप अवस्था जाने, इसप्रकार यथार्थता से यदि आत्मा की प्रतीति करे तो एकान्तपक्ष का खण्डन किया जासकता है ।

भावार्थः—सर्वज्ञ वीतराग की स्याद्वाद वाणी अविरोधी स्वरूप को बतलाने वाली है । वस्तु में दो अपेक्षाओं (निश्चय और व्यवहार) को यथावत् न जाने तो एक वस्तु में भेद और अभेद दोनों मानने में विरोध आएगा किन्तु वीतराग की वाणी कथंचित् विवक्षा से वस्तुस्वरूप को कहकर विरोध को मिटा देती है ।

सत्=होना प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से त्रिकाल है ।

असत्=न होना प्रत्येक आत्मा पर की अपेक्षा से असत् है, अर्थात् पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है–असत् है ।

इसप्रकार तत्त्व जैसा है उसे उसीप्रकार अविरोधी दृष्टि से न जाने तो यथार्थ निःसंदेहता की प्राप्ति नहीं होगी और स्वरूप में स्थिर होने की शक्ति प्रगट नहीं होगी ।

प्रश्न—सत् और असत् दोनों एक ही वस्तु में कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—एक ही वस्तु में सत् और असत् एक ही साथ रहते हैं । जैसे चांदी चांदी के रूप में है सोने के रूप में नहीं है इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से सत् और पररूप से (पर की अपेक्षा से) असत् है वस्तु को स्वतंत्रतया देखने पर वह वस्तु ही यह बताती है कि मैं पररूप से नहीं हूँ ।

प्रश्नः—जब कि वस्तु सत् है तब उसमे अस्ति ही मानना चाहिये, उसमें असत् का-नास्ति का क्या काम है ?

उत्तरः—पर से पृथक्त्व-असत्भाव मानने पर ही प्रत्येक वस्तु का सत्भाव, नित्यत्व और असयोगीपन सिद्ध होता है। अपनेरूप में होना और पररूप में न होना ऐसा सत्-असत्पन का गुण प्रत्येक वस्तु मे एक साथ रहता है। परवस्तु का अपनेरूप से न होना और अपना परवस्तुरूप से न होना सभी वस्तुओ का स्वभाव है।

स्वय जिसरूप से है उसरूप से अपने को नही समझा, नहीं माना इसलिये पर मे निजत्व मानकर देहदृष्टि से यह मान लेता है कि-पुण्य-पाप, रागद्वेष मेरे हैं और मैं देहादिरूप हूँ, मैं देहादि की क्रिया करता हूँ, इत्यादि। बोलता है, चलता है, दिखाई देता है सो यह सब जड की क्रिया है, उसकी जगह मैं वही हूँ, इसप्रकार अनादि-काल से पर मे अपनापन मानता आया है, तथापि आत्मा मे न तो विकार घुस गये हैं और न गुण ही कम हो गये हैं, वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्थामें भूल और विकार करता आया है। यदि स्वाधीन अस्ति-स्वभाव को जानले तो भूल और विकार का नाश करके निर्मल दशा को प्रगट कर सकता है।

प्रत्येक वस्तु अपनेरूप से है और पररूप से नही है। स्वय पररूप से असत् है परवस्तु दूसरी वस्तु मे (आत्मा में) असत् है, इसलिये कोई तेरे आधीन नही है और तू किसी की अवस्था का कर्ता नही है। किसी एक वाक्य के कहने पर उसमें दूसरी अपेक्षा का ज्ञान आजाता है, एक के कहने पर दूसरे की अपेक्षा निश्चय से आजाती है। नित्य कहने पर अनित्य की अपेक्षा आजाती है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है। एक आत्मा में नित्यत्व, अभेदत्व, एकत्व, शुद्धत्व कहने पर उसमें अनित्यत्व, भेदत्व, अनेकत्व और अशुद्धत्व अपनी अपेक्षा से आजाता है, इसलिये पर से भिन्नरूप मे एक-एक आत्मा में निश्चय-दृष्टि तथा व्यवहारदृष्टि से दो प्रकार देखे जाते हैं।

परवस्तुरूप से यह वस्तु नहीं है, यह कहने पर पर की अपेक्षा आती है। इसलिये परवस्तु उसरूप से है और परस्वरूप से नहीं है। जब कोई नहीं समझता तब कोई समझाने वाला उससे अलग है ऐसा साबित होता है। आत्मा देहादि संयोग से रहित है इससे इन्कार करने वाला वर्तमान में इन्कार भले ही करे तथापि वह संयोग-रहित ही है। जैसे अनन्त ज्ञानीजन ज्ञान का स्वभाव समझकर पुरुषार्थ करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं उसीप्रकार यदि श्रद्धा न करे अविरोधी वस्तु को न समझे तो स्वभाव की शान्ति नहीं मिल सकती। यह सत् है यह कहते ही उसमें से यह अर्थ निकलता है कि- यह पररूप नहीं है इसप्रकार अस्ति में पर की नास्ति आजाती है।

यदि कोई एकान्त पक्ष को पकड़कर कहे कि—जो एक है-उसे अनेकरूप से नहीं कहा जासकता एक वस्तु में दो विषयोंका विरोध है तो वह विरोध को सम्यक्ज्ञान नष्ट कर देता है। जैसे स्वर्ण में पीला-पन चिकनाहट भारीपन और स्निग्धता इत्यादि अनेक गुण तथा उन समस्त गुणों की पर्यायें एक साथ रहती हैं तथापि यदि उसे अनेक गुण रूप तथा पर्यायरूप देखें तो सोना अनेकरूप है और यदि सम्पूर्ण सोना ही सामान्यरूप से लक्ष में लिया जावे तो वह एकरूप है इसीप्रकार आत्मा उसके अखण्ड स्वभाव से एकरूप है और ज्ञानादिक गुण तथा पर्याय की दृष्टि से अनेकरूप है। यदि एक—अनेकरूप से सम्पूर्ण तत्व को न जाने तो यथार्थता ध्यान में नहीं आती और यथार्थ का पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता।

वस्तु सत् है ऐसा जानना सो निश्चयदृष्टि अथवा द्रव्यार्थिक-नय का विषय है असत्—पररूप से नहीं है ऐसा जानना सो व्यवहारनय का विषय है।

एकत्व:—यदि त्रिकाल अनन्तगुण और अवस्थारूप अखण्ड पिण्ड एकाकार वस्तुरूप से देखा जावे तो निश्चयदृष्टि से आत्मा एकरूप है।

अनेकत्व—व्यवहारदृष्टि से अनन्त गुण-पर्याय को लेकर

अनेकरूप है।

निश्चय से उसका लक्ष करके पूर्ण एकत्व के लक्ष से स्थिर होने पर ससार की विकारी अवस्था का नाश, मोक्ष की अविकारी अवस्था की उत्पत्ति और वस्तु का एकरूप ध्रौव्यत्व बना रहता है। जो इसप्रकार यथार्थरूप से समझ लेता है वह एकान्तपक्ष का विकल्प और विरोध मिटाकर एक वस्तु मे एकत्व-अनेकत्व का ज्ञान एक साथ कर लेता है, पर मे अपना एकत्व नही मानता।

नित्यत्वः—आत्मा चिदानन्द एकरूप बना रहता है, इसप्रकार वस्तुदृष्टि से नित्य है।

अनित्यत्व.—प्रत्येक द्रव्य स्थिर रहकर प्रतिसमय अपनी पर्याय को बदलता रहता है इसलिये पर्यायदृष्टि से अनित्य है।

जिस अपेक्षा से नित्यत्व है उस अपेक्षा से अनित्यत्व नही है। इसप्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व अर्थात् वस्तुदृष्टि से स्थिर रहना और पर्यायदृष्टि से बदलना-यह दोनों मिलकर एक स्वरूप है। यदि बिलकुल एकरूप अखण्ड हो तो विकारी अवस्था बदलकर अविकारी नही होसकेगा। कर्ता-कर्म अथवा क्रिया कुछ भी नही रहेगा। और यदि वस्तु अनित्य ही हो तो नित्यत्व के आधार के बिना अनित्यत्व ही नही कहा जासकेगा।

अभेदत्वः—प्रत्येक आत्मा अपने वस्तुस्वभाव मे अभिन्न है। आत्मा और गुणो में प्रदेशभेद नही है।

भेदत्वः—व्यवहारदृष्टि से आत्मा में भिन्नता है। नाम, सख्या, लक्षण और प्रयोजन से भेद किये जाते हैं।

(१) नामभेद—(सज्ञाभेद) आत्मा ज्ञानरूप से है इसप्रकार वस्तु और गुण के नामभेद न किये जायें तो आत्मा किसप्रकार बताया जायेगा ? इसलिये अखण्ड स्वरूप बताने के लिये नामभेद होता है।

(२) सख्याभेद—आत्मा एक है, उसमे ज्ञानादिक अनेक गुण हैं, इसप्रकार सख्याभेद है किन्तु प्रदेशभेद नही है।

(३) लक्षणभेद—अनन्त गुणों को धारण करना आत्मा का लक्षण है। ज्ञान का लक्षण जानना, श्रद्धा का लक्षण प्रतीति करना, चारित्र का लक्षण स्थिर होना, वीर्य का लक्षण आत्मबल को स्थिर रखना इत्यादि अनन्तगुण हैं, उनके लक्षण (चिह्न-स्वरूप) भिन्न-भिन्न हैं इसलिये लक्षणभेद है। पर्याय का लक्षण प्रतिसमय अवस्था का बदलना है।

(४) प्रयोजनभेद—आत्मा का प्रयोजन सम्पूर्ण स्व-द्रव्य का कार्य करना है। ज्ञान का प्रयोजन हिताहित का-निर्णय करके हितरूप से प्रवृत्ति करना है, चारित्र का प्रयोजन रागद्वेषरूप न होकर निर्मल स्थिरतारूप रहना है इत्यादि।

इसप्रकार एक वस्तु में अभिन्नता-भिन्नता और निश्चय-व्यवहार इन दोनों दृष्टियों से यथावत् जाने तो एक पक्ष का विरोध मिट जाता है।

शुद्धत्व—पर-निमित्त की अपेक्षा से रहित नित्यस्वभाव को देखने वाली निश्चयदृष्टि से देखा जाये तो आत्मा शुद्ध ही है।

अशुद्धत्व—पर-निमित्त की अपेक्षा से वर्तमान अवस्था में अशुद्धता (पुण्य पाप राग-द्वेषरूप) क्षणिक विकारीभाव जीव में होते हैं। पर को अपना मानकर ऐसी विपरीत धारणा बना लेना कि मैं रागद्वेष का कर्ता हूँ और शुभाशुभ भाव करने योग्य हैं सो अशुद्ध अवस्था है और यही संसार है।

अज्ञानी जीव के पर-संयोगाधीन विकारभाव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यवहार से है किन्तु विकार मेरा स्वरूप नहीं है स्वभाव की प्रतीति पूर्वक स्थिरता से वह विकार दूर किया जासकता है। संयोगाधीन विकारी अवस्था वर्तमान में है ऐसा जानना सो व्यवहारनय की अपेक्षा है। जब स्वयं विकारीभाव करता है तब विकार होता है। वह विकार क्षणिक अवस्थामात्र के लिये है। जो नित्यस्वभाव की दृष्टि से उसका स्वामी नहीं होता और उसे अपना स्वभाव नहीं मानता वह ज्ञानी है। अवस्थादृष्टि को गौण करके एकरूप यथार्थ

वस्तुस्वभावको लक्षमे ले तो निश्चय सम्यक्दर्शन की प्राप्ति होकर अपूर्व आत्मप्रतीति होती है और एकान्तपक्ष की मान्यता दूर होजाती है।

यदि वस्तुस्वभाव को यथार्थ समझले तो उसके प्रति बहुमान हुए विना नही रहता। इल्ली अथवा केंचुआ जैसा दोइन्द्रिय प्राणी भी शरीर की ममता के बल से पत्थर के नीचे दबकर उससे अलग होने के लिये इतना प्रयत्न करता है कि पत्थर के नीचे दबे हुए शरीर का एक भाग टूट तक जाता है, तथापि वह पत्थर के उस भार से हटकर स्वतत्र रहना चाहता है, इसीप्रकार जिसने पर से भिन्नरूप असयोगी ज्ञानस्वरूप को ही अपना माना है वह उसे विपरीत मान्यता और परावलम्बन–रूप विकार से दबा हुआ नही रहने देगा। जिसे अपना माना है उसे परिपूर्ण स्वतत्र रखना चाहता है। मैं त्रिकाल निर्मल असग हूँ, इसप्रकार शुद्ध स्वतत्र स्वभाव को दृष्टि के बल से वर्तमान सयोगाधीन विकारी झुकाव से और विपरीत दृष्टि से स्वय अपने को बचा लेता है। मै शुद्ध स्वतत्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, ऐसी प्रतीति नही थी तब स्वय कही अन्यत्र अशुद्धरूप अथवा सयोगरूप अपने को मानता था। यदि अपने अस्तित्व को नित्यस्थायीरूप न माने तो कोई सुख के लिये प्रयत्न ही न करे। जिसे अवगुण इष्ट नही है वह अवगुणो को दूर करने की शक्ति का लक्ष करके अवगुणो को दूर करके, गुणरूप से स्वतत्र रहना चाहता है।

जैसे यह मानना मिथ्या है कि–यदि विकार करेंगे तो उसके निमित्त से गुण प्रगट होगे, इसीप्रकार यह मानना भी मिथ्या है कि पुण्य–पाप की भावना में से पुण्य की भावना को बढायें तो लाभ होगा। पाप में प्रवृत्त न होने के लिये अथवा अशुभराग से बचने के लिये शुभभाव करे सो तो ठीक है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे पवित्र गुण प्रगट होगे, क्योकि जिस भाव से बन्धन होता है उस भाव से अविकारी भाव–(शुद्धभाव) नही होसकते।

जो व्यवहारनय अर्थात् पर्यायदृष्टि का आश्रय लेता है वह यह भूल जाता है कि वस्तुस्वभाव अखण्ड निर्मल अनन्त शक्ति से पूर्ण है,

इसलिये उसे राग के अभाव करने का पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। यदि वह अशुभराग को दूर करे तो वर्तमान मात्र के लिए राग मंद होजाता है परमार्थतः शुभभाव से राग कम नहीं होता। निश्चय अखण्ड निर्मल वस्तु में पूर्ण शक्ति जैसी है वैसी ही उसे पहिचानकर अवस्था को गौण करके यदि अखण्ड स्वभाव के लक्ष पर भार दे तो राग का सहज ही अभाव होता है और निर्मल आनन्द की वृद्धि होती है विरोधभाव दूर होजाता है।

सर्वज्ञ वीतरागकी वाणी में कथंचित् विवक्षा के भेद से एक-एक वस्तु में (एक अपेक्षा को मुख्य करके और दूसरी अपेक्षा को गौण करके) अस्तित्व एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व इत्यादि निश्चयदृष्टि की अपेक्षा का विषय और नास्तित्व अनेकत्व अनित्यत्व भेदत्व तथा अशुद्धत्व इत्यादि व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा का विषय होता है। यदि दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान करे तो प्रमाण ज्ञान-यथार्थ ज्ञान होता है। सत्य में से सत्य आता है। इसप्रकार वीतराग की वाणी के न्याय से जानने पर विरोधी अभिप्राय दूर होजाता है। वीतराग की वाणी में मिथ्या की कल्पना तक नहीं है।

परद्रव्य के आश्रयरूप उन्मुखता होने से पुण्य-पापकी विकारी अवस्था होती है वह व्यवहारदृष्टि मुख्य करने की आवश्यकता नहीं है उसे गौण करके अनादि अनन्त एकरूप निर्मल असंग अविकारी निरावलम्बी पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभाव को निश्चयदृष्टि से लक्ष में लेकर और उस स्वाश्रित अखण्ड दृष्टि से स्वभाव का बारम्बार मनन करना सो यही प्रयोजनभूत-मुख्य करने योग्य कहा है। अनादिकाल से संसार का बहुभाग पराश्रित व्यवहार के पक्ष को मान रहा है और यह मानता है कि-राग-द्वेष के काय करने योग्य हैं परवस्तु और शुभभाव का स्वामित्व रखकर हमें व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये तथा ऐसा कहने वाले की बात को जल्दी मान लेता है कि यदि पुण्य करोगे और देह की क्रिया करोगे तो धर्म होगा और वह मानता है कि हम देव होकर गुण प्राप्त करेंगे। इसप्रकार जिसकी दृष्टि बाह्य-संयोग पर

जाती है उसे पुण्य में मिठास मालूम होती है, क्योंकि उसे तत्त्वज्ञानरूप अविरोधी सत् की खबर ही नही है, तत्त्व से द्वेष और विकारके आदर का फल एकेन्द्रिय में जाना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इन ग्यारहवी और बारहवी गाथा मे जिस अपेक्षा मे जिसप्रकार कहा गया है उसे समझकर जो अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप निश्चय स्वभाव को मुख्य करके भेदरूप व्यवहार की दृष्टि को गौण करेगा उसके समस्त विरोधरूप ससार का नाश होजायेगा।

जो यह मानता है कि मैं पर का कुछ सकता हूँ वह परवस्तु को पराधीन मानता है, और ऐसा मानने से कि अन्य मेरा कुछ कर देगा—स्वय भी अकर्मण्य—पराधीन सिद्ध होता है। समस्त तत्त्व इस-प्रकार स्वतत्र हैं कि किसी को किसी की आशा नही रखनी चाहिये। सब आत्मा भी स्वतत्र हैं, अपनी अनन्त शक्ति से प्रत्येक आत्मा पूर्ण है। जो इसप्रकार नही समझता और जैसे उपचार से लोक व्यवहार मे घडे को 'घी का घडा' कहा जाता है इसीप्रकार इसने इसका भला किया अथवा उपकार किया है इत्यादि व्यवहार की लौकिक भाषा में कहा जाता है, यदि उसके अर्थ को उस भाषा के शब्दो को ही पकडकर किया जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं पर का कर्ता—भोक्ता हूँ, विकार मेरा कार्य है ऐसी विपरीत दृष्टि को दूर करके अखण्ड ध्रुवस्वभाव को मुख्य करो। और व्यवहार के भेदविकार की दृष्टि का त्याग करो। परवस्तु तुझरूप नही है, इसलिए पर के लक्ष से होने वाले विकार (पुण्य—पाप के शुभाशुभभाव) भी तेरे नही हैं, वे तुझमें स्थायीरूप से रहनेवाले नही हैं, इसलिए उस व्यवहारका विषय भेदरूप विकार आवश्यक नही हैं इसलिये उसमे नही लगना चाहिये। एकरूप ध्रुव विषय को मुख्य करके बारम्बार अखण्ड स्वभाव के बल से पूर्णज्ञानानन्द स्वभाव

का आश्रय करके शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि[१] का करना सो निश्चयनय है, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय को शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि से पर्यायार्थिकनय[२] अथवा व्यवहार कहते हैं।

तुझमें जो विकार होता है सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।
तेरी पर्याय में जो विकार होता है सो पर्यायार्थिकनय है।
पराश्रय से विकार होता है इसलिए व्यवहारनय है।

ऐसे वीतराग कथित न्याय-वचनोंके द्वारा जो अविरोधी तत्त्व का अभ्यास करता है सो वह योग्य जीव शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है यथार्थदृष्टि को प्राप्त करता है यथार्थ प्रतीति को प्रगट करता है। यह समस्त विषय अन्तरंग का है, इसमें नय का विषय सूक्ष्म है जो कि यहाँ सरल भाषा में कहा जाता है किन्तु जो अन्तरंग से उसकी चिंता नहीं करता और उसे स्मरण करके उसका मनन नहीं करता वह उसे नहीं समझ सकता। यदि स्वाधीन होकर उसे समझे तो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएँ दूर होजाती हैं। जैसे शरीर के रोगग्रसित होने पर उसे दूर करने का सावधानी पूर्वक प्रयत्न किया जाता है इसीप्रकार आत्मा को अनादिकाल से आकुलतारूपी रोग लगा हुआ है उसे दूर करने की अपूर्व विधि यहाँ कही जारही है उसे सावधानी पूर्वक समझना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित अविरोधी न्याय से जैसा कहा जाता है वैसा ही समझना चाहिये यथार्थता को सुनकर स्वयं यथार्थताका निर्णय करना और पूर्ण निर्मल अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभाव को निश्चय दृष्टि के बल से मुख्य करके उसका मनन करना चाहिये; वर्तमान विकारी अवस्था को जो कि आत्मा में है जड़ में नहीं जानना और

१-द्रव्यार्थिक—(द्रव्य+अर्थ) द्रव्य—वस्तु, अर्थ—प्रयोजन। वस्तु को द्रव्यस्वभाव से बताना सो द्रव्यार्थिकनय है।

२-पर्यायार्थिक—पर्याय (अवस्था) को बताने का जो प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय है।

अवस्था दृष्टि को गौण करना चाहिये, ऐसे प्रयोजन को जानकर अवस्था और अखण्ड वस्तु दोनो का यथार्थ ज्ञान करके, अन्तरग मे निर्मल ध्रुवस्वभाव की रुचि से उसकी दृढता का अभ्यास बढाना चाहिये। इसप्रकार तत्त्वज्ञान के विषय में रमणता करने से मोह का नाश होकर स्वभाव की प्रतीति होने से निर्मलदशा का अनुभव होता है।

इसे समझे बिना छुटकारा नही है। ऊपर से ऐसा मानता है कि मैंने समझ लिया है, मेरे समभाव है, मुझे बुरा नही करना है किन्तु अच्छा ही करना है और इसप्रकार अपने मन को समझाया करता है, किन्तु सर्वज्ञ वीतराग के न्यायानुसार अच्छा क्या है यह निश्चय न करे तो यह मालूम नहीं हो सकता कि विपरीत मान्यता कहाँ पुष्ट होरही है। जैसे गर्मी के दिनो मे किसी छोटे बालक को पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठडक से सतुष्ट होता है, यह उसकी मात्र अज्ञानता ही है, इसीप्रकार चैतन्य-मूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मन के विकल्पो से पृथक् है, उसे भूलकर अपनी कल्पना से (विपरीत मान्यता से) माने गये धर्म के नाम पर और अपने हित करने के नाम पर शुभभाव (चैतन्य स्वभाव के गुण की विकाररूपी विष्टा) को ठीक मानकर सतुष्ट होता है और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा, वह उस बालक के समान अज्ञानी है जो विष्टा को अच्छा मान रहा है। सर्वज्ञ के न्याय से, सत्समागम से, पूर्वापर विरोध से रहित, यथार्थ हित क्या है इसकी परीक्षा न करना सो अज्ञान है, और अज्ञान कोई बचाव नही है।

ससार की रुचि के लिये बुद्धि का विलोडन कर रहा है, उसमें (ससारमें) अच्छे-बुरे का निश्चय कर सकता है किन्तु यदि उस रुचि को बदलकर अपनी ही रुचि करे और भलीभाँति निश्चय करे कि यही सच्चा हित है तो यथार्थ हित हो इसलिये परीक्षा करनी चाहिये, किन्तु अन्ध-श्रद्धा से उसे नही मान लेना चाहिये।

समयसार में जो विविध न्याय निहित हैं वे अत्यत बहुमूल्य हैं। इस काल में वैसी यथार्थ बात कानो में पड़ना दुर्लभ है। यह

निवृत्ति का मार्ग है। अपूर्व आत्मधर्म में संसार का अभाव है उस धर्म की रुचि में समस्त संसार को उड़ा देना है। अपूर्व स्वभाव की रुचि में संसार की रुचि नहीं घुसा सकती।

लोकोत्तर पात्रता के बिना अन्तरंग के सूक्ष्मभाव समझ में नहीं आते और न वस्तु के प्रति बहुमान ही होता है। अनन्तकाल से न तो परमतत्व की संगति की है और न परिचय ही किया है तथा जब ज्यों-त्यों करके यथार्थ तत्त्व को समझने का अवसर आता है वहाँ उसकी प्रीति नहीं करता इसका कारण यह है कि उसे सामाजिक-लौकिक मोह रुचिकर है और इसलिये वह उसमें लगा रहता है।

यह ऐसा सुअवसर है कि जब जन्म-मरण कैसे दूर हो इसकी स्वयं चिन्ता करके अपना सुधार कर लेना चाहिये सबको एक साथ लेनेका अथवा पर में लग जाने या रुक जाने हित का उपाय नहीं है। यह तो परम आध्यात्मिक विषय है इसमें जीव को अत्यंत सावधानी रखनी चाहिये। दूसरा सब कुछ भूलकर तत्त्व का परिचय करने के लिये अत्यन्त पुरुषार्थकी आवश्यकता है। तत्त्व की भाषा ही अति गूढ़ होती है और उसका भाव बहुत गम्भीर होता है। यथार्थ पात्रता के बिना यथार्थ समझ नहीं जमती। पात्रता के अभाव में यह सब बातें ऊपरी सी मालूम होती हैं और वस्तु की महिमा-प्रतीत नहीं होती।

जो पुरुष निर्दोष वीतराग के वचनों में रमण करता है अभ्यास करता है वह यथार्थतया शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। दूसरे सर्वथा एकान्तपक्ष वाले लोग यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होते। कोई आत्मवस्तु को सर्वथा एक पक्ष से ही मानते हैं कि आत्मा बिल्कुल सर्वथा शुद्ध है पर्याय में भी विकार नहीं है अथवा पर्याय ही नहीं है मात्र नित्यता ही है राग-द्वेष विकार आदि की प्रवृत्ति को करता है और भोगता है ऐसा कहने वाले की बात मिथ्या है।

आत्मा के ध्रुवस्वभाव में पुण्य-पाप के विकार प्रविष्ट नहीं होजाते हैं यह बात सच है किन्तु वर्तमान अवस्था में विषय-मानरूप तृष्णा और रागद्वेष स्वयं करता है इसे न मानकर दूसरे पर डालता

है, उसे सामान्य त्रिकाल एकरूप शुद्ध द्रव्यत्व और विशेष वर्तमान अवस्था-भाव दोनो मिलकर पूर्ण वस्तु है इसकी यथार्थ प्रतीति नही होती। यदि कोई ऐसा माने कि त्रिकाल नित्यता ही है और वर्तमान अनित्य अवस्था का परिवर्तन न माने तो वास्तव मे ऐसा स्वरूप नही है अर्थात् उसकी मान्यता मिथ्या है।

मिर्च और कालीमिर्च की चरपराहट का अन्तर ज्ञानमे प्रतीत होता है, किन्तु उसके स्वाद का वर्णन वाणी द्वारा सतोष पूर्वक नही किया जासकता, इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव ज्ञानानन्द एकाकार स्वभाव को लक्ष में लेने पर सहज निर्मल अवस्था का आनन्द प्रगट होता है, उसका भेद नही करना पडता तथापि वह ज्ञान मे प्रतीत होता है। वर्तमान पर्याय में भेददृष्टि करने पर रागद्वेष-विकल्प होता है, यदि उसमें शुभभाव करे तो मन्द आकुलता और पापभाव करे तो तीव्र आकुलता का स्वाद आता है, उसके अन्तर को ज्ञानी जानता है। स्थिरता का लक्ष करने पर बीच में व्यवहार के भेद आते हैं, तथापि उन्हे मुख्य नही करते। इसप्रकार अखण्ड ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा के बल से क्रमश निर्मल अवस्था बढती जाती है और राग कम होता जाता है। शुद्धनय का फल वीतरागता है, भेदरूप व्यवहार में अटकने वाली अशुद्धदृष्टि का फल ससार है, ज्ञानी उसका आदर नही करते।

किसी बाह्य पदार्थ की शरण लेने से गुण प्रगट नही होते। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की शरण से भी अन्तरग तत्त्व को लाभ नही होता। देव गुरु वीतराग हैं, तुझसे पररूप हैं वे तुझमे नास्तिरूप हैं, जो अपना होता है वह काम आता है, मन और मन के सम्बन्धके योग से विचार करने में विकल्प होता है, किन्तु यदि उसकी ओर के लक्ष को भूल जाये तब स्वाश्रय अखण्डदृष्टि होती है। अन्तरग का मार्ग ऐसा परम अद्भुत है उसे यथार्थ समागम के द्वारा अपूर्व पात्रता से जागृत होकर समझना चाहिये। श्रवण के बाद यथार्थ क्या है इसका मनन करना सो लाभ का कारण है। भवके भय से मुक्त होनेके लिये जिसे निर्भय सत् की शरण चाहिये हो और अविकारी, अविनाशी, स्वतन्त्रताकी

नीच बासना हो उसे पहले से ही ऐसी यथार्थ की श्रद्धा करनी होगी कि जिसमें किसी ओर से विरोध न रहे उसके बाद ही चारित्र हो सकेगा।

लौकिक व्यवहार के साथ इस बात का मेल नहीं खाता। अखण्ड ज्ञायकस्वरूप को समझने के विचार में भेद (विकल्प) होता है तथापि वह सहायक नहीं है उसमें कोई गुण–लाभ नहीं होता। अखण्ड के यथार्थ लक्ष से अखण्ड का ज्ञान श्रद्धा और स्थिरतारूप चारित्र होता है। भेदरूप व्यवहार गौण होजाता है किन्तु ज्ञान में भेद रूप अवस्था अयाम से बाहर नहीं जाती। इस सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक मनन करना चाहिये। इसप्रकार बारह गाथाओं तक सम्पूर्ण समयसार की भूमिका हुई। जैसे वृक्ष की रक्षा के लिये उसके तने के चारों ओर चबूतरा बनाया जाता है इसीप्रकार आत्मा के सार को संक्षेप में समझने के लिये आचार्यदेव ने भूमिकारूपी चबूतरा बांधा है। विशेषरूप से विविध पहलुओं से दृढ़ता पूर्वक समझाने का अधिकार इसके बाद कहा जायेगा।

शंका—समयसार में तो मुनियों के लिये उपदेश है उसमें बहुत उच्च भूमिका की बात है ?

समाधान —ऐसा नहीं है किन्तु प्रथम धर्म के प्रारम्भ की ही बात है यह तो वीतराग मार्ग की सबसे पहली इकाई है।

अब आचार्यदेव शुद्धनय को प्रधान करके *निश्चयसम्यक्त्व* का स्वरूप कहते हैं। जीव–अजीव आदिक नवतत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार से सम्यक्त्व कहा है। नवतत्त्व के भेद–विकल्प से रहित एकरूप अखण्ड ज्ञानस्वरूप पूर्ण वस्तु को शुद्धदृष्टि के द्वारा जानने से विकल्प टूटकर अखण्ड के लक्ष से सम्यग्दर्शन होता है तथापि बीच में नव तत्त्व के भेद करने वाले शुभविकल्प का व्यवहार आता है किन्तु वह वहाँ सहायक नहीं होता। एकरूप यथार्थता का निश्चय करने के लिये भेदरूप व्यवहारनय द्वारा शुभविकल्पों से नवतत्त्वों को जानना सो

व्यवहार—सम्यक्त्व कहा है । उन नवतत्त्वों का स्वरूप यहाँ कहा जारहा है —

(१) जीवः—जीव=आत्मा । वह सदा ज्ञाता, पर से भिन्न और त्रिकालस्थायी है । (जब पर—निमित्त के शुभ अवलम्बन में युक्त होता है तब शुभभाव (पुण्य) होता है और जब अशुभ अवलम्बन में युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है, और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव होता है ।)

(२) अजीवः—जिनमे चेतना—ज्ञातृत्व नही है ऐसे पाँच द्रव्य हैं । उनमे से धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त है ।

अजीव वस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरे से स्वतन्त्र—भिन्न हैं । परसयोग से रहित एकाकी तत्त्व हो तो उसमें विकार नही होता । परोन्मुख होनेपर जीव के पुण्य—पाप की शुभाशुभ विकार की भावना होती है । जब जीव रागादिक करता है तब जड़कर्म की सूक्ष्म धूल जो क्षणिक सयोग सम्बन्ध से है निमित्त होती है ।

(३) पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि के भाव जीव के होते हैं सो अरूपी विकारीभाव हैं, जो कि भावपुण्य हैं और उसके निमित्त से जड़ परमाणुओ का समूह स्वय (अपने कारण से—स्वतः) एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध से जीव के साथ बँधता है सो द्रव्यपुण्य है ।

(४) पापः—हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत इत्यादि का अशुभभाव भावपाप है और उसके निमित्त से जड की शक्ति से परमाणुओ का जो समूह स्वय बँधता है सो द्रव्यपाप है ।

परमार्थ से पुण्य—पाप मेरा स्वरूप नही है । आत्मामें क्षणिक अवस्था में पर—सम्बन्ध से विकार होता है, वह मेरा नही है ।

(५) आस्रवः—विकारी शुभाशुम भावरूप जो अरूपी अवस्था

जीव में होती है सो भावास्रव है, और नवीन कर्म–रजकणों का आना (आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहना) सो द्रव्यास्रव है।

(६) संवर:—पुण्य–पाप के विकारी भावों (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध भावों से रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्म बँधने से रुक जायें सो द्रव्यसंवर है।

(७) निर्जरा:—अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभाव के बल से स्वरूप–स्थिरता की वृद्धि के द्वारा अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

(८) बंध:—आत्मा का राग-द्वेष, पुण्य-पापके भाव में अटक जाना सो भावबंध है और उसके निमित्त से पुद्गल का स्वयं की शक्ति से कर्मरूप बँधना सो द्रव्यबन्ध है।

(९) मोक्ष:—अशुद्ध अवस्था का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर पूर्ण निर्मल पवित्रदशा का प्रगट होना सो भावमोक्ष और निमित्तकारण द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्यमोक्ष है।

इसप्रकार जैसा नवतत्त्व का स्वरूप है वैसा शुभभावसे विचार करता है उस शुद्ध का लक्ष हो तो व्यवहार–सम्यक्त्व है। व्रतादि के शुभभाव को संवर–निर्जरा में माने तो आस्रव तत्त्व की श्रद्धा में भूल होती है। व्यवहारश्रद्धा में किसी भी ओर से भूल न हो इसप्रकार नवभेदों में से शुद्धनय* के द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायक स्वभावी आत्मा को परख लेना सो परमार्थश्रद्धा–सम्यग्दर्शन है। धर्मके नाम पर लोगों में अपना माना हुआ सम्यक्त्व दूसरे को देते हैं या कहते हैं किन्तु वैसा सम्यक्त्व नहीं होसकता क्योंकि किसी का गुण तथा गुण की पर्याय किसी दूसरे को नहीं दी जासकती।

---

* वर्तमान अवस्था के भेद को लक्ष में न लेकर (गौण करके) त्रिकाल एकरूप वीतराग स्वभाव को अभेदरूप से लक्ष में लेना सो शुद्धनय है।

प्रथम व्यवहारश्रद्धा में किसी भी ओर से कोई विरोध न आये ऐसी समझ होनी चाहिये । जो मिथ्या देव, गुरु, शास्त्र से अपना हित मानता है—शकर, हनुमान और ऐसे ही अन्य देवी,-देवताओ की मनौती मनाता है, इनसे सन्तान प्राप्ति होगी, धन मिलेगा, रोग दूर होगा ऐसी विविध धारणाएँ बना लेता है उसके तीव्र तृष्णाका पाप होता है। बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता का सयोग तो पूर्वकृत पुण्य-पाप के अनुसार होता है, देवी- देवता किसी भी प्रकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता करने मे समर्थ नही हैं । यदि ऐसा विश्वास अपने में लाये तो व्यवहार से शुभ—भाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है । वीतराग कथित सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और उनके स्वरूप को पहिचानकर माने तो जब शुद्ध का लक्ष होता है तब वह व्यवहार से सच्ची श्रद्धा कहलाती है, वह भी वास्तव में निमित्तमात्र है ।

शुभभावरूप नवतत्त्वो की श्रद्धा से निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं होता, तथापि प्रथम निश्चयस्वरूप की यथार्थता को जानने के लिये शुभ-विकल्प आते तो हैं किन्तु सम्यग्दर्शन और धर्म उससे भिन्न वस्तु है । जैसे किसी मंजिल पर जाते हुए बीच में सीढियाँ आती हैं किन्तु उनसे ऊपर नही चढा जाता, किन्तु जब सीढ़ियो को छोडते हैं (छोडने की दृष्टि से पैर रखते हैं) तब ऊपर पहुँचा जाता है, इसीप्रकार यथार्थ वस्तु का निर्णय करने के लिये श्रवण—मनन के द्वारा अनेक पहलुओ से विचार करने के लिये पहले शुभभाव आता है, तथा अशुभ से बचने के लिये दया, दान, व्रत, तप, पूजा भक्ति इत्यादि शुभभाव आते हैं किन्तु वह कर्म—निमित्तक शुभ उपयोग का भेद है । नवतत्त्व के भेदो का विचार करना भी मन के सम्बन्ध से होनेवाले शुभभाव के विकल्प हैं, अखण्ड स्वभाव नही हैं। नवतत्त्वके भेद से—विकल्पसे आत्माका विचार करना सो शुभराग है, व्यवहार है, उसमें धर्म नही है ।

वस्तु त्रिकाल मे ऐसी ही है । सत्य बदल नही सकता किन्तु जिसे सत्य समझना हो उसे बदलना होगा । पहले अनन्तकालमें अनत-बार व्यवहार के विकल्प जीवने किये हैं, भगवान के द्वारा कही गई

व्यवहार श्रद्धा अभव्य जीव भी करता है किन्तु उस भेद से लाभ नहीं होते।

जो अज्ञानी पहले समझना चाहता है उससे मात्र आत्मा अथवा "अखण्ड आत्मा" कह देने से नहीं समझ सकेगा, इसलिये उसे समझाने के लिये व्यवहार से नवतत्व के भेद करके विकल्प के द्वारा अखण्ड का लक्ष कराते हैं। मैं जीव हूँ अजीव नहीं पुण्य–पाप मेरा स्वरूप नहीं है, इत्यादि प्रकार नवतत्वों के शुभविकल्परूप श्रद्धा के भेद में से आत्मा को भिन्न करके एकत्व ग्रहण करके, त्रिकाल एकरूप स्थायी ज्ञायकरूप से पूर्ण स्वभावको शुद्धनय से श्रद्धामें लेना सो सम्यक् दर्शन है।

समझने वाला किसी प्रस्तुत वस्तु से अथवा विकल्प करने से नहीं समझता किन्तु स्वतः समझता है। जो जानता है सो जीव है उसमें पररूप न होने वाले अनन्त गुणों की अनन्त शक्ति है इसका विश्वास करने वाले के शुभभाव की प्रधानता नहीं है। तत्व का विचार करने पर जितने भेद होते हैं उनमें से अभेद वस्तु की ओर झुककर अभेदत्व का निश्चय करता जाता है वह पर से या मन के द्वारा निश्चय नहीं करता किन्तु स्वयं ज्ञाता होने से स्वयं निश्चय करता है। जब तक मन के सम्बन्ध से शुभविकल्प से श्रद्धा करता है तबतक निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं है किन्तु जब विकल्प का श्रद्धा में अभाव करके अखण्ड स्वभाव के लक्ष से व्यवहार के भेद को गौण करके एकरूप स्व वस्तु में एकाग्रता द्वारा अभेद स्वरूप का अनुभव करता है तब निश्चयसम्यक्दर्शन होता है।

शुभभाव राग है। राग के द्वारा आत्मा को मानना सो पुण्य रूप व्यवहार है धर्म नहीं। जीवादिक नौ तत्वों के लक्ष से श्रद्धा करना सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

व्यवहार का अर्थ है एकका दूसरे में उपचार। बिल्ली को सिंह कहना सो उपचार है। जिसने कभी सिंहको न देखा हो उसे समझानेके लिये बिल्ली में सिंह का उपचार करके सिंह की पहिचान कराई जाती

है, किन्तु बिल्ली वास्तव में सिंह नहीं है। जिसे उपचार की–व्यवहार की प्रतीति नही है वह बिल्ली को ही वास्तविक सिंह मान लेता है; इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान ने अखण्ड आत्मा की पहिचान कराने के लिये उपचार से–व्यवहार से नवतत्त्व के भेद कहे हैं। यदि वह नवतत्त्वो के विकल्प वाली श्रद्धा के भेद को ही यथार्थ आत्मा का स्वरूप मान बैठे तो उसे व्यवहार की ही खबर नही है। व्यवहार किसी परवस्तु मे या देहादि की क्रिया में नही है। कोई जीव शरीरादिक परवस्तु की क्रिया का या परवस्तु का व्यवहार से भी कर्ता नही है। आत्मा त्रिकाल मे भी न तो पररूप होसकता है और न पर की पर्यायरूप होसकता है। अज्ञानी जीव पुण्य–पाप के विकारी शुभाशुभभाव का कर्ता है। ज्ञानी के अखण्ड स्वभाव की प्रतीति होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति से राग होता है, किन्तु वह उसका स्वामिभाव से कर्ता नहीं होता।

जो जीव यथार्थ तत्त्वो का विचार करता है और यथार्थ स्वभाव का निश्चय करना चाहता है उसे नवतत्त्वो की श्रद्धा निमित्त-भूत होती है, किन्तु निर्विकल्प एकाकार ध्रुवरूप से ज्ञायक वस्तु की निर्मल श्रद्धा न करे तो शुभभाव से मात्र पुण्य होने से बाह्य फल दे-कर छूट जाता है। व्यवहारनयाश्रित निमित्त सम्बन्धी जो वृत्ति उद्भूत होती है उसकी शुभराग पर्यन्त मर्यादा है, किन्तु भेद का निषेध करके शुद्ध अखण्ड वस्तु की यथार्थ दृष्टि से अन्तरग में स्थिर हो तो भेद का लक्ष गौण होकर एकाकार पूर्ण स्वभाव के लक्ष से निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है, वहाँ उपचार से नवतत्त्वो की श्रद्धा व्यवहार से निमित्त कह-लाती है। जहाँ निश्चयश्रद्धा नही होती वहाँ शुभ व्यवहाररूप श्रद्धाको निमित्त भी नही कहा जाता।

नवतत्त्व के भेद को जानने वाला आत्मा ज्ञायकरूप से त्रिकाल अखण्ड है। शुभाशुभ विकल्प की जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसका ज्ञायकस्वभाव में अभाव है। मैं असंग एकरूप ज्ञायक हूँ, इसप्रकार निर्विकार निरावलम्बी निरपेक्ष स्वभाव को अखण्डरूप से श्रद्धा का

विषय बनाये तो यथार्थ सम्यकदर्शन होता है। जो अनन्तकाल में कभी प्रगट नहीं हुई ऐसी श्रद्धा यथार्थ के बल से प्रगट होती है और नवतत्त्वों के भेद तथा पर–निमित्त का बुद्धि पूर्वक विचार छूट जाता है। ऐसी यथार्थ वस्तुस्थिति में क्या है सो यह बताने के लिये तीन श्लोक कहते हैं।

प्रथम श्लोकमें कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजन वान कहा है तथापि वह कहीं वस्तुभूत नहीं है सहायक भी नहीं है क्योंकि निश्चय परमार्थ के अनुभव में वह छूट जाता है इसलिये अभूतार्थ है।

प्रश्न:—कहीं तो व्यवहार का विधान है और कहीं उसका निषेध है एकबार तो व्यवहार को स्वीकार किया जाता है और दूसरे ही क्षण उसका निषेध कर दिया जाता है ऐसी स्थिति में किसे यथार्थ समझा जाये ?

उत्तर:—जिस अपेक्षा से व्यवहार का विधान है उस अपेक्षा से वह वैसा है और जिस अपेक्षा से उसका निषेध है उस अपेक्षा से वह नहीं है, इसप्रकार वह जैसा है वैसा ही कहा जाता है। ध्रुवज्ञायकस्वभाव तो त्रिकाल एकरूप असम्बद्ध है उसे निश्चय से स्वीकार किया जाता है और वर्तमान अवस्था में पर–सम्बन्ध से विकार होता है तथा ज्ञायक स्वभाव का संबन्ध करने से निर्मल अवस्था होती है उसे व्यवहार से स्वीकार किया जाता है अखण्डस्वभाव को ध्रुव एकाकार देखने वाले निश्चय नय के बल से स्वभाव में विकल्प–रागरूप नहीं है निमित्ताधीन होने से निषेध किया जाता है, शुद्धार्थदृष्टि में व्यवहारभेद नहीं है।

शंका—राग–द्वेष अज्ञान जड़ प्रकृति कराती है ?

समाधान—स्वयं उसका कर्ता होकर जड़कर्मके सिर पर थोपता है किन्तु जड़ तो अत्य–अचेतन है उसे कुछ खबर नहीं है। यदि कोई माने कि हम तो मात्र ज्ञाता–दृष्टा ही हैं और इन्द्रियाँ के विषय को इन्द्रियाँ ही भोगती हैं तो यह ठीक नहीं है। विषयों के भोगने का विकारीभाव स्वयं ही करता है अर्थात् दोष स्वयं करता है और उसे

दूसरे पर डालता है, ऐसा 'अन्धेर नगरी बेबूझ राजा' का राज्य वीत-राग मार्ग मे नही है।

जहाँ गुण हैं वहाँ गुणो की विपरीत अवस्था (विकार) होसकती है और विकार का नाश भी वही होसकता है। मुझमें न तो विकार है और न उसकी अवस्था ही, मैं तो शुद्ध ही हूँ, ऐसा एकान्तको मानने वाला दोनो पहलुओ को नही समझा है। यदि त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनो को यथावत् मानकर स्वभाव को मुख्य करे तो अविकारी—स्वभाव का आनन्द प्रगट हो।

सम्यक्दर्शन होने से पूर्व सच्चे देव गुरु शास्त्र की पहिचान, श्रद्धा, पूजा, भक्ति तथा तत्त्वविचार इत्यादि शुभभाव आते हैं। यथार्थ में जाते हुए बीच में व्यवहार का आश्रय दृढतापूर्वक आजाता है जो कि खेद का विषय है, वह सारभूत वस्तु नहीं है। अब वह कलश द्वारा कहते हैं—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

आचार्य देव कहते हैं कि—जो व्यवहारनय है सो यद्यपि इस पहली पदवी मे (जबतक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति न होजाये तबतक) जिन्होने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषो को, यथार्थ स्वरूप का अविरोध निर्णय करने के लिये खेद है कि हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य—चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावो से रहित (शुद्धनयके विषय-भूत) परम 'अर्थ को' अन्तरग मे अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा तद्रूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं उनके लिये यह व्यवहारनय किंचित्मात्र भी प्रयोजनवान नही है।

जबतक यथार्थ वस्तु का निश्चय करके आत्मा में स्थिर नहीं हुआ जाता तबतक व्यवहारनय हस्तावलम्बन तुल्य कहा गया है, वास्तव मे उसका अवलम्बन नही है। किसी मजिल पर चढ़ते हुए जीनेकी

सीढ़ियों पर पैर रखते हैं और दीवाल का सहारा लेते हैं किन्तु वह छोड़ने के लिये ही होता है, इसीप्रकार यथार्थ स्वरूपके विरोध से रहित निर्णय करने के लिये शुभविकल्प में रुकना पड़ता है सो व्यवहार है किन्तु खेद है कि निमित्ताश्रित भेद में रुकना पड़ता है। परमार्थ में जाते हुए बीच में तत्त्व के विकल्प का आँगन आता तो है किन्तु उसे लेकर आगे नहीं बढ़ा जाता। अपने बल से जब स्वयं उसे लाँघ जाता है तब वहां जो विकल्प का अभाव है सो निमित्त कहलाता है। जब मंजिल पर चढ़ने वाला ऊपरकर अन्तिम सीढ़ी को छोड़ देता है तब यह कहा जाता है कि जो छूट गया है वह निमित्त था। इसीप्रकार अनादिकाल से पराश्रयरूप व्यवहार की पकड़ से राग-द्वेष पुण्य पाप पर का स्वामित्व—कर्तृत्व मान रखा था वहाँ से कुलाँट खाकर अखण्ड अविकारी निरावलम्बी स्वभाव के बल से विकल्प का अंश टूटकर प्रारम्भ के तीन गुणस्थानों को लाँघकर सीधा चौथे गुणस्थान में पहुँचता है।

विकार का नाशक स्वभाव नित्य एकरूप ज्ञायक है उसका ऐसा स्वरूप नहीं है कि विकार में अटक जाये। आचार्यदेव कहते हैं कि जीव को परमार्थ में ही जाना है तथापि नवतत्त्व के और गुण—गुणी के भेदविचार और शुभविकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता तथापि वह कोई प्रयोजनवान नहीं है। जैसे कोई माल मिठाई लेते समय उसकी किस्म तय की जाती है भाव तय किया जाता है और फिर तौल कराई जाती है इसप्रकार लेते समय यह सब कुछ करना पड़ता है किन्तु माल लेने के बाद उसे खाते समय (स्वाद लेते समय) तराजू बाँट और भाव इत्यादि साथ में नहीं रखे जाते इसीप्रकार परमार्थस्वरूप आत्मा का निर्णय करने के लिये पहले जीवादि नवतत्त्व क्या है यह जानने का तथा विकल्परहित यथार्थ तत्त्व क्या है इसका माप करने का विचार गुरुज्ञान से यथावत् करना पड़ता है किन्तु उसके एकरूप अनुभव—स्वाद के लिये नवतत्त्व और माप लेने का विकल्प आदि सब छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उस शुभविकल्प से आत्मानुभव प्रगट नहीं होता।

वास्तविक सम्यक्दर्शन ही धर्म का प्रथम प्रारम्भ है। यदि नवतत्त्व का यथार्थ ज्ञान न करे तो आत्मा का पूर्ण स्वभाव ज्ञात नही होता। जीवादिक नवतत्त्वो को यथावत् शुद्धता के लक्ष से जानना सो व्यवहार है। अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बध एकदम त्याज्य है, तथा शुद्ध, जीव, सवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहार से आदर योग्य हैं। ऐसा व्यावहारिक यथार्थ विवेक करने पर शुभभाव होता है। नव-तत्त्वो को यथार्थतया जाने तो वह सम्यक्दर्शन के लिये हस्तावलम्बन—आधार कहलाता है। उस अवस्था का आधार से सम्यक्दर्शन नही होता किन्तु वह पुरुषार्थ से होता है। जो इतना नहीं समझता वह धर्म के निकट भी नहीं पहुँच पाया, ऐसा समझे बिना धर्म नहीं होता। धर्म तो मन और इन्द्रियो से परे (बिल्कुल भिन्न) मात्र अन्तरग ज्ञानदृष्टि से अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति करने से बाह्यदृष्टि एव दशा बदल जाती है। प्रतीति करना सर्वप्रथम कर्तव्य है, वह चतुर्थ गुण-स्थान सम्यक्दर्शन है, उसीसे धर्म का, आनन्द का प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् श्रावक और मुनिदशा होती है और अशतः निर्मलता-स्वरूप—स्थिरता होती है, जो कि बहुत ऊँची बात है।

सुख का प्रारम्भ करने के लिये पहले यथार्थ ज्ञान करना होता है। निराकुल स्वाधीन सुखरूप आत्माको जाननेके लिये पहले नवतत्त्वके यथार्थ भेद जानने पड़ते हैं। वह विकल्प राग का अश है। नवतत्त्व को गुरुज्ञान से यथार्थतया जानने पर परमार्थस्वरूप के निकट पहुँचा जाता है। यह जीव स्वरूप के आँगन में आकर उपस्थित है, घर में—स्वभाव में प्रविष्ट नहीं हुआ, स्वभाव की ऋद्धि ही अलग है। पहले से ही उन समस्त विकल्पो को त्याज्य समझकर यथार्थतया नवतत्त्वो को न जाने तो निर्विकल्प अनुभव सहित अखण्डतत्त्व की श्रद्धा नही होती, निज—पर की भिन्नता का विवेक करने वाला यथार्थ ज्ञान नहीं होता और अन्तर रमणतारूप चारित्र नही होता।

निर्विकल्प पूर्ण परमार्थस्वभावको प्रगट करने के लिये, तत्त्व-सम्बन्धीविशेष ज्ञान करने के लिये नवतत्त्वों के विचार में रुकना

पड़ता है इसका भी भाचार्य को खेद है। किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सच्चे देव गुरु तत्त्व कौन हैं और मिथ्या कौन हैं उनकी तो यहां बात ही नहीं है। जो सच्चे देव गुरु का विपरीत स्वरूप मानते हैं पुण्य से धर्म करते हैं, पाप से बचने के लिये जो पूजा–भक्ति इत्यादिके शुभ भाव होते हैं उस पुण्य बंध के कारण को (आस्रव तत्त्व को) गुण का कारण मानते हैं अथवा पाप की अशुभ भावना को धर्म मानते हैं और आकुलता में सुख मानते हैं उन अज्ञानियों को तो व्यवहार से भी नव तत्त्वों की खबर नहीं है।

देह पर दृष्टि रखकर क्रियाकाण्ड-तपस्या करे और यह माने कि मैंने कष्ट सहन किया है, तथा एक ओर तो उस कष्ट सहनेका खेद करे और दूसरी ओर उसमें धर्म माने कि अहो! धर्म बहुत कठिन है, लोहे के चने चबाने के समान है। और यह माने कि मैंने बहुत कष्ट सहन किया है इसलिये बहुत धर्म हुआ है, किन्तु उसमें जो खेद होता है सो तो अशुभभाव है आर्तध्यान है पाप है। जीव की अन्तरंग महिमा ज्ञात नहीं हुई और यह मालूम नहीं होसका कि वास्तविक गुण क्या है इसलिये समझे बिना तपस्या उपवास आदि में लगा रहता है और तज्जन्य खेद–प्रशंसा–उपेक्षा को धर्म मानता है आकुलता और अनाकुलता की प्रतीति के बिना हठ कष्ट एवं अशुभभाव से किये गये क्रियाकाण्ड में धर्म मानता है और यह मानता है कि अधिक कष्ट होगा तो अधिक धर्म होगा किन्तु धर्म तो आत्मा का पूर्ण निराकुलस्वभाव है उसमें दुःख हो नहीं सकता और जहां दुःख है वहां धर्म नहीं है। धर्म सुख–शान्ति देने वाला हो या दुःख देने वाला हो और वह निज में हो या पर में हो इसकी जिसे खबर नहीं है वह पर को देखता है और यह मानता है कि शरीर अधिक सूख गया है इसलिये धर्म बहुत हुआ है। और इसप्रकार बाह्य में दुःख पर खेद प्रगट करके उल्टा असातावेदनी कर्म की उदीरणा करता है।

आत्माके जिस भाव से शुभाशुभ विकारका भाव रुकता है वह संवर है। पंच महाव्रतादि के शुभभाव आस्रव (नवीन कर्मबंध का

कारण) है। जो उसे धर्म मानता है उसे व्यवहार से भी नवतत्त्वोका ज्ञान नहीं है। पाप मे प्रवृत्त न होने के लिये शुभभाव का होना ठीक है, किन्तु यह बात त्रिकाल असत्य है कि शुभविकार से धीरे-धीरे सम्यक्दर्शन इत्यादि गुण प्रगट होते हैं।

जिसे यथार्थ आत्मस्वरूप का अनुभव-आत्मसाक्षात्कार करना है, निर्विकल्प श्रद्धाके विषय में स्थिर होना है उसे पहले तो नवतत्त्वोको और देव, शास्त्र, गुरु को यथार्थतया जानना होगा किन्तु उसी समय यह ध्यान रखना होगा कि उस विकल्प से (भेद के लक्ष से) सम्यक्दर्शन प्रगट नही होता। व्यवहाररूप भेद अभेद का कारण नही होता। जिसे यथार्थ आत्महित की खबर नही है और जिसे नवतत्त्वो के नाम तक नही आते उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति अथवा आत्मा का धर्म कहाँ से प्राप्त होसकता है।

मनके सम्बन्ध से, विकल्प से, नवतत्त्वोका यथार्थ विचार करने के बाद अवस्था के भेद के लक्ष को गौण करके पूर्णरूप शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर, मन से भी किंचित् पृथक् होकर अखण्ड की श्रद्धा के विषय में स्थिर हो और निरावलम्बी, असग, अविकारी, ज्ञायकस्वरूप में तद्रूप एकत्व की श्रद्धा लाये सो यथार्थ सम्यक्दर्शन है। जन्म-मरणके दुःख को दूर करने का यह एक ही उपाय है। विपरीत दृष्टि को दूर करने के बाद जहाँतक स्थिर न हुआ जासके वहाँ तक अशुभ से बचने के लिये; नवतत्त्व सम्बन्धी विशेष ज्ञान की निर्मलता करने के लिये शुभ-भाव मे रुकना पडता है, किन्तु ज्ञानी उस भेद का आदर करके उसमें अटकता नहीं है। आगे कहा गया है कि मात्र नवतत्त्व की भेदरूप श्रद्धा का होना मिथ्या-दृष्टि है। चिदानन्द पूर्ण स्वरूप को यथार्थ प्रतीतिपूर्वक न माने तबतक शुभ विकार की श्रद्धा है, किन्तु अविकारी अखण्ड स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

सर्वप्रथम यह समझने योग्य है। चाहे जितनी सांसारिक सावधानी रखे किन्तु उसका परिणाम शून्य से अधिक नहीं होता। जब प्रारम्भ में शून्य होता है तब उसके योगफल में भी शून्य ही आता है,

किन्तु उसके हर्ष का तो पार नहीं होता और जिससे अविनाशी हित होता है उसकी वह चिन्ता नहीं करता।

आचार्यदेवने परम अद्भुत रहस्यको प्रगट कर दिया है। जिसे इस अपूर्व वस्तु का ध्यान नहीं है वह उसका विचार कहां से करेगा? यदि सावधानी के साथ तत्त्वाभ्यास न करे तो स्थिर होने का कहीं भी ठिकाना नहीं मिल सकता वह तो मात्र परिभ्रमण ही करता रहेगा। यह अनन्तकाल में एक क्षणभर को भी यथार्थ सम्यकदर्शन प्रगट नहीं हुआ। वस्तुका यथार्थ निर्णय करने के लिये उसका अधिक समय का अभ्यास और यथार्थ श्रवण होना चाहिये। एकाधवार थोड़ा बहुत सुनकर चले जाने से दोनों अपेक्षाओं का मेल नहीं बैठता। यदि अपनी बुद्धि से एक अपेक्षा से अर्धसत्य को पकड़ रखे तो यथार्थ रहस्य समझ में नहीं आसकता। जैसे किसी महिला ने अपनी पड़ौसिन के बच्चे को जीने पर चढ़ते हुऐ देखकर कहा कि यदि गिरेगा तो मर जायेगा उस बालक की माँ ने इतना ही सुना कि 'मर जायेगा' और इस अपूरी बात को सुनकर वह अपना पड़ौसिन से लड़ने लगी कि तूने मेरे बालक से मरने की बात क्यों कही? उत्तरमें उस महिलाने कहा कि तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी मैंने तो यह कहा है कि यदि 'गिर जायगा तो मर जायेगा' और इसप्रकार मैंने तुम्हारे बालक से मरने की नहीं किन्तु जीने की बात कही है तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी इसमें तुम्हारी ही भूल है। इसीप्रकार पूर्वापर विरोध से रहित सर्वज्ञ वीतरागके वचनोंमें क्या कथन है उसे भलीभांति सम्पूर्ण सुनकर न्याय को संधिपूर्वक न समझे और एक ओर की ही अपूर्ण एकान्त बात को पकड़ रखे तो विरोध का होना स्वाभाविक ही है।

जिसे व्यवहार तत्त्व की भी कोई खबर नहीं है और पुण्य–पापरूप आस्रव को जो नहीं समझता वह उससे भिन्न संवर–निर्जरारूप धर्म को भी नहीं समझ सकता। जहां प्रथम व्यवहार श्रद्धा में ही भूल हो वहां परमार्थ के आंगन तक कहां से आसकता है? परमार्थ से तो शुभास्रवभाव भी त्याज्य है, नवतत्त्व के भेद–विकल्प भी परमार्थदृष्टि

से त्याज्य हैं। नवतत्त्वो की श्रद्धा को परमार्थ नही कहा है तथापि बीच में हस्तावलम्बन की भाँति आजाने से उसमें रुक जाने का खेद है। सीधा ही परमार्थ मे जासकता हो तो व्यवहार में रुकने की कोई बात नही है।

भावार्थ:—आत्मा की निर्मल श्रद्धा होने के बाद श्रद्धा के लिये नवतत्त्वो के विकल्परूप व्यवहारका कोई प्रयोजन नही रहता। निश्चय-श्रद्धाके साथ आंशिक स्वरूपाचरण चारित्र के प्रगट होने पर फिर श्रद्धा के लिये अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नही होता। व्यवहार से नव-तत्त्वो को जानकर शुभभाव करे और उस शुभव्यवहार में लगा रहे तो उसे परमार्थ से कोई लाभ नही होता।

अब निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यक्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः॥ ६॥

[आचार्यदेव ने सर्वज्ञ वीतरागके कथन का रहस्य उद्घाटित करके जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया है। किसी को यह बात जम सकती है अथवा नही भी जम सकती। अब अपने-अपने भाव में उल्टा-सीधा करने के लिये स्वतंत्र हैं। सत् को स्वीकार या अस्वीकार करनेके लिये भी सब स्वतंत्र हैं। प्रभु! तेरी अशुद्धता की विपरीतता भी बहुत बडी है। श्रीमद्राजचन्द्र ने लिखा है कि—"भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं, तथापि उनमें भी कुछ कम अपलक्षण नही हैं" इसप्रकार आत्मा को संबोधित करके पुरुषार्थ करने को कहा है।]

कोई कर्म के संयोग में रत होकर यह माने कि राग-द्वेष मेरे हैं, करने योग्य हैं, और मैं पर का कर्ता हूँ और अविकारी शुद्धतत्त्व से इन्कार करे तो उसे स्वीकार कराने के लिये कोई समर्थ नही है। यदि कोई औंधा गिरता है तो उसमें भी वह स्वतंत्र है। जैसे किसी बालक

के हाथ से उसकी पुगली लेकर दूसरे बालक को देदी जाय तो वह ऊँ–ऊँ करके रोना प्रारम्भ करता है और फिर बराबर रोता रहता है यदि उसके हाथ में पेड़ा देदिया जाये तब भी वह चुप नहीं रहता और यदि उसे वह पुगली लाकर देदी जाये तो भी वह रोना बन्द नहीं करता क्योंकि उसे यही ध्यान नहीं रहता कि मैंने क्यों रोना प्रारम्भ किया था इसीप्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा पुण्य-पाप से भिन्न है पुण्य से भी आत्मा का धर्म नहीं होता, आत्मा का आनन्द प्रगट होने की श्रद्धा असत्य ही है इसे सुनकर निषेध करने की धुन लगी सो उसके पुण्य–पाप के कर्तृत्व को और पर का स्वामित्व रखने की मान्यतारूप अज्ञान (स्वभाव से इन्कार) छुड़ाने के लिये ज्ञानियों ने पुण्य–पापरहित परभाव की बात को तथापि उसे सत्य–असत्य की खबर ही नहीं और न यही खबर है कि मैंने कहाँ भूल की है इसलिये उसके भाव में से उसका विरोध नहीं मिटता। जैसे (उपरोक्त दृष्टांत में) बालक का पिता बालक को चाहे जिस रीति से और चाहे जितना समझाता है किन्तु वह नहीं मानता और फिर अपनेआप चुप रह जाता है, इसीप्रकार औंधे पड़े हुए जीवों को अनन्त ज्ञानी समझाते हैं किन्तु वह नहीं मानते सच तो यह है कि अपना स्वतन्त्र पुरुषार्थ हो तभी समझा जासकता है।

[आचार्य महाराज कहते हैं कि हम किसी दूसरे के लिये नहीं कहते किन्तु यह तो हमारी रुचि का निमंत्रण है जो सत् अनुकूल पड़ा है उसीकी घोषणा है किसी का कोई विरोध नहीं है। जैसे अपने घर कोई अतिथि आये तो उसे अपनी रुचि की उत्तम से उत्तम वस्तु परोसी जाती है उसीप्रकार ज्ञानीजन जगत के समस्त निस्पृह करुणा से सत् की घोषणा करते हैं क्योंकि वही उनकी रुचि की वस्तु है। कोई दूसरा सत् के मूल्य को आंके या न आंके–उसे यह अनुकूल पड़े या न पड़े उसपर उनकी दृष्टि नहीं है किन्तु वे तो अपनी अनुकूलताके गीत गाते हैं।]

परद्रव्यों से तथा पुण्य के विकारी भावों से भिन्न आत्मा के

त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानमय अखण्डानन्द स्वरूप को श्रद्धा में लेने की रीति जानकर, व्यवहार दृष्टि को गौण करके एकरूप अखण्ड स्वभाव के लक्ष से मिथ्या मान्यता का निषेध और यथार्थ मान्यता का स्वीकार एव मैं अखण्ड ज्ञायक परमानन्दरूप से पूर्ण हूँ इसप्रकार ध्रुवस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा में जो स्वीकृति है सो सम्यक्दर्शन है।

भगवान आत्माको परद्रव्य से सदा भिन्न देखना, परसम्बन्ध–रहित–विकार रहित मानना अर्थात् प्रतिष्ठा, धन, स्त्री, पुत्र, मन, वाणी, देह तथा देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सब अपने से भिन्न हैं, पुण्य–पाप के विकार भी अपने स्वभावरूप नही हैं, इसप्रकार सर्वथा पर से भिन्न एकरूप शुद्ध आत्माको मानना श्रद्धा मे लेना सो नियम* से सम्यक्दर्शन है। जब दूसरे से अपने को भिन्न माना और यह माना कि त्रिकाल में भी किसी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही है तब पर से लाभ–हानि नही होसकती ऐसी श्रद्धा होने से परवस्तु सम्बन्धी की भ्रांति से छूटकर मात्र स्वाधीनभाव मे ही (स्वभाव में ही) स्थिर होना रह जाता है। पुण्य–पाप का स्वामित्व छूट गया (अखण्ड स्वरूप की प्रतीति में विकार की नास्ति है) किसी के साथ एकमेक करने की बात न रही, किसी में कर्तृत्व की मान्यता न रही इसलिये अनन्त रागद्वेष तो दूर हो गया और आंशिक निराकुल आनन्द प्रगट होगया, इसप्रकार एकरूप निरावलम्बी आत्मा की प्रतीति करना सो धर्म के प्रारम्भ का मूल सम्यक्दर्शन है।

भगवान आत्मा पर से तो भिन्न है किन्तु अपनेपन से कैसा है ? सदा अपने गुण पर्यायो मे व्याप्त रहने वाला है, और वह रागादि मे नही रहता। स्वय ज्ञान दर्शन आनन्द से पूर्ण त्रिकाल एकरूप ध्रुव-भाव से स्थिर होकर अपने गुणरूप से रहकर अपने गुणोकी अवस्था में व्याप्त होकर रहनेवाला है। उसे पर से भिन्न अविकारी ज्ञानानन्दरूप मानकर, पर मे कर्तृत्व–भोक्तृत्व से रहित मानना ही प्रारम्भ से आत्मा के लिये लाभदायक है।

---

* नियम कदापि नहीं बदलता, और यदि बदले तो वह नियम नहीं कहा जासकता।

और फिर कैसा है वह आत्मा ? शुद्धनय से एकत्व में निश्चित् किया गया है । शुद्धनय के द्वारा तत्व के सब भेदों में से एक ज्ञायक स्वरूप से अखण्डरूप में आत्मा को लक्ष में लेकर अपने त्रिकाल ध्रौव्यत्व में निश्चित् किया गया है । यद्यपि गुण अनन्त हैं किन्तु अखण्ड की श्रद्धा में भेदविकल्प छोड़ दिया जाता है । जैसे सोने में पीलापन चिकनापन इत्यादि अनेक गुण एक साथ होते हैं किन्तु मात्र सोने को ही खरीदने वाले स्वर्णकार को उसके विभिन्न गुणों पर अथवा उसकी रचना इत्यादि पर लक्ष नहीं होता उसका लक्ष तो एकमात्र सोने पर ही होता है वह तो यह देखता है कि उसीमें समस्त अवस्थाएँ तथा गुणों की शक्ति वर्तमान में एक ही साथ विद्यमान है । भेद को लक्ष में न लेकर अखण्ड ध्रुव एकरूप पूर्ण स्वभाव को लक्ष में लेना उसमें किसी निमित्त की अपेक्षा को न मिलाना सो सच्चा धर्म—सम्यकदर्शन है । इसमें ऐसी बात नहीं है कि यदि हमारी बात को मानो तो ही सम्यकदर्शन होगा किन्तु स्वयं निश्चित् करके अपने स्वतन्त्र—पूर्ण एकत्व स्वरूप को अपने से ही मानो तो सम्यकदर्शन होता है । देव गुरु शास्त्र और वीतराग की साक्षात् वाणी भी परवस्तु है । तू उसके आश्रय से रहित पूर्ण है ऐसे एकरूप अखण्ड स्वरूप की प्रतीति तुझसे ही होती है ।

परमाणुमात्र मेरा नहीं है रागद्वेष मेरा कर्तव्य नहीं है मैं पर का कर्ता—भोक्ता नहीं हूँ किन्तु अखण्ड ज्ञायक हूँ ऐसी यथार्थ प्रतीति (सम्यकदर्शन) गृहस्थदशा में (सधन या निर्धन चाहे जिस अवस्था में) होसकती है । गृहस्थदशा के अनेक संयोगों के बीच रहते हुए भी अपने अविकारी स्वभाव की प्रतीति होसकती है । यदि वह राग को दूर करके विशेष स्थिरता करे तो मुनि होसकता है वह वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति को जानता है और अन्तरंग में उदास रहकर पराश्रयजन्य सम्पूर्ण राग को छोड़ना चाहता है । वह संसार में रहता हुआ भी संसार के संयोगों में अनुरक्त नहीं है किन्तु अपने स्वरूप में ही ज्ञानमय साक्षीरूप से आत्मा में ही विद्यमान है । जब पशुओं के किसी मेले में

कोई वणिक् अपनी दूकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शका कदापि नही होती कि मैं इन सब अछूतो के साथ एकमेक होगया हूँ ? उसके मन में यह निःशंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक् ही हूँ । इसीप्रकार मैं आत्मा पुण्य—पापरूप विकार का नाशक, स्वरूप का रक्षक, अखड अविकारीस्वभाव का स्वामी हूँ, विकल्प-सयोग का स्वामी नही हूँ, मैं सयोग मे एकरूप नही होजाता । ऐसी यथार्थ श्रद्धा होने के बाद वर्तमान पुरुषार्थ से वीतरागी अबध ही हूँ । आत्मा अछूत—हरिजन अथवा वणिक नही है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नही है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है ।

पर से भिन्नरूप सिद्ध—परमात्मा के समान पूर्ण पवित्र आत्मा में परमार्थ से एकत्व का निर्णय करना सो उसे भगवान ने सम्यक्दर्शन कहा है । जिसके अविकारी अखण्ड के बल से एकबार ही आशिक निर्मलदशा प्रगट होगई है वह बारम्बार निर्मल एकत्वस्वभाव में एकाग्रता के बल से पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है ।

और वह पर से भिन्न आत्मा कैसा है ? पूर्ण ज्ञानानदघन है । उसमें विकल्प पुण्य-पाप की रज प्रवेश नही कर सकती । जैसे निहाई (ऐरन) में लोहे की कील प्रवेश नही कर सकती उसीप्रकार निरपेक्ष, एकरूप, ज्ञानघन आत्मा में पुण्य—पाप की क्षणिक वृत्ति प्रवेश नही कर सकती । विकल्प का उत्थान निमित्ताधीन अवस्था से होता है जो कि गौण है । त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वभाव परमार्थ मे विकार के कर्तृत्व का किंचित्मात्र अवकाश नही है ।

प्रथम श्रद्धा में पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ही हूँ, ऐसी प्रतीति के बल से कोई विकार की प्रवृत्ति का स्वामित्व नही होने देता तथापि वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्ति के कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, अशुभ से बचने के लिये शुभ में प्रवृत्त होता है किन्तु उसमें गुण का होना नही मानता । श्रद्धा में प्रत्येक विकार (परावलम्बन) का निषेध है । जैसे अग्नि ईंधन की नाशक है—रक्षक नहीं और सूर्य का स्वभाव अन्धकार को उत्पन्न करना नही किन्तु उसका नाश करना है इसीप्रकार

मेरा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव एकरूप सतत ज्ञायकस्वरूप है किसी में अच्छा बुरा मानकर रुकनेरूप नहीं है। ऐसे वीतरागी भाव की प्रतीति के बल में राग का स्वामित्व–कर्तृत्व नहीं है तथापि पुरुषार्थ की अशक्तिके कारण जो राग होता है उसे मात्र जानता है किन्तु करने योग्य नहीं मानता। वह विकल्प को तोड़कर स्थिर होना चाहता है और यह मानता है कि अखण्डस्वभाव के बल से अन्तरोन्मुख होना ही उसका उपाय है, विशेष स्थिरता होनेपर अशुभराग टूटकर सहज ही व्रतादि आते हैं उसमें जितना राग दूर होता है उतना हो गुण मानता है और जो राग रहता है उसका किंचित्मात्र भी आदर नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कथित न्यायानुसार नवतत्त्वोंको जानकर पर से और विकार से आत्मा भिन्न है उसे शुद्धनय से जानना सो सम्यक्दर्शन है जो कि अनन्तकालमें जीवने कभी भी प्रगट नहीं किया। उससे रहित पुण्यभाव में मिथ्यादर्शन का महा–पाप बन्धता है। भक्ति पूजा दान व्रत तप, त्याग में राग को कम करे तो पुण्यबन्ध होता है जिसके फल से कभी बड़ा राजा अथवा निम्नकोटि का देव होता है। हिंसा झूठ चोरी कुशील इत्यादि के अशुभभाव करने से पाप–बन्ध होता है जिसके फल से तिर्यंच और नरक इत्यादि गति में परिभ्रमण करता है। पुण्य–पाप की उपाधि से रहित अविकारी असंग, एकरूप स्वभाव की श्रद्धा और स्वपर के भेदरूप ज्ञान के बिना सच्चा चारित्र नहीं होसकता और वीतराग चारित्र के बिना केवलज्ञान या मोक्ष नहीं होसकता।

जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है। जितने में मिठास है उतने में मिश्री है इसीप्रकार पूर्णरूप शुद्ध आत्मा को लक्ष में लेने वाला सम्यक्दर्शन उतना ही है जितना आत्मा है क्योंकि वह (सम्यक्दर्शन) आत्मा का ही निर्मल परिणाम है। निरावलम्बी शुद्धात्मा की श्रद्धा का भाव आत्मा में आत्मा के आधार से है, मन वाणी देह अथवा पुण्य–पाप की शुभाशुभ वृत्तिके आधार पर अवलंबित नहीं है। यदि कोई मात्र शास्त्र से आत्मा की बात को मन में धारण करले

तो वह भी सम्यक्दर्शन नहीं है। पूजा, भक्ति, व्रतादि तथा नवतत्त्वो के शुभभाव की वृत्ति करे तो भी वह सयोगाधीन क्षणिकभाव है कृत्रिम भाव है, वह शाश्वत, अकृत्रिम, अविकारी, एकरूप, ज्ञायकस्वभाव का नही है। कुछ भी करने धरने की हां या ना के रूप में जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है वह सब उपाधिभाव है, उस उपाधिभाव के भेद से रहित यथार्थ श्रद्धा सम्पूर्ण आत्मा के स्वरूप में फैली हुई है, आत्मा से भिन्न नही है। ऐसे निरुपाधिक शुद्ध पूर्ण स्वभाव का जो निश्चय किया गया उसे सर्वज्ञभगवान ने सम्यक्दर्शन कहा है।

आचार्यदेव प्रार्थना करते हैं कि "इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोडकर, हमे यह एकमात्र आत्मा ही प्राप्त हो।" अन्यत्र रुक जाना हमे नही पुसाता। उसे नवतत्त्व के विचार मे मन के सम्बन्ध से विकल्प करने को रुक जाना भी ठीक नही है। आत्मा का स्वरूप ऐसा नही है कि नवतत्त्व के विकल्प से उसका पूरा पड सके। समझे बिना अपनी कल्पना से शास्त्र पढे अथवा चाहे जितने अन्य प्रयत्न करे किन्तु अन्तरग का मार्ग गुरुज्ञान के बिना हाथ नही आता। यथार्थ निःसदेह ज्ञान जब स्वय करे तब स्वत होता है, किन्तु एकबार यथार्थ गुरुज्ञान होना आवश्यक है।

आत्मा में मात्र आनन्द भरा हुआ है। उसकी श्रद्धा में यथार्थ समझपूर्वक स्थिर होना सो निर्विकल्प चारित्र की क्रिया है। उसी मे आनन्द है। जो कष्ट में धर्म मानता है वह कहता है कि "देहे दुःख महाफल" अर्थात् यदि कष्ट सहन करो तो गुण प्राप्त होगा। जो यह कहता है कि उपवास तो धूल का ग्रास है उसे उपवास पर अरुचि है। उस अरुचि (द्वेष) भाव को भगवान ने आर्त्तध्यान कहा है। शारीरिक प्रतिकूलता सहन नही होती इसलिये जो यह मानता है कि क्षुधा-तृषा से या शरीर के कष्ट से धर्म होता है वह पाप को गुणरूप मानता है। वहां व्यवहार से भी नवतत्त्वो की श्रद्धा नही है। जो धर्म करते हुए कष्ट मानता है उसे निराकुल स्वभाव के प्रति अरुचि है

क्यों कि द्वेष है और द्वेष पाप है, उससे धर्म नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता।

प्रश्न—इतने-इतने कष्ट सहन करने पर भी धर्म नहीं होता ?

उत्तर—हे भाई ! देह की क्रिया से धर्म तो क्या किन्तु पुण्य-पाप भी नहीं होता। स्वयं अपने परिणामों को सुधारे और कषाय को जितना सूक्ष्म करे उतना ही शुभभाव होता है, उस भाव से पुण्य होता है धर्म नहीं। पर सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना सो निराकुल स्थिरता है और उसी में सुख है। पर से किसी को कष्ट नहीं होता किन्तु पर के ऊपर जितना राग करता है उतना ही दुःख होता है।

प्रश्न—तपस्या न की जाय तो लड्डू खाकर क्योंकर मोक्ष जाया जासकता है ?

उत्तर—कोई (आत्मा) लड्डू खा ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव लड्डूके रागकी आकुलता को भोगता है और ज्ञानी निराकुल स्वभावके लक्ष से अपने परिणामका माप निकालता है। शरीर की अनुकूलता या प्रतिकूलता पर उसका लक्ष ही नहीं है। अखण्ड स्वभाव की रुचि के मंथन में आहार की इच्छा सहज ही टूट जाती है इसप्रकार इच्छा का निरोध करके स्वरूप में लीनता का होना सो भगवान ने तप कहा है और वही तप मोक्ष का कारण है। जो उसे कष्टदाता मानता है वह धर्म का-स्वभाव का अनादर करता है। उसे वीतराग कथित नवतत्वों की व्यवहार से भी श्रद्धा नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि यथार्थ नवतत्वों की परिपाटीकी पकड़ में लग जाना नहीं पुसाता। जो परमार्थतत्व को समझने के लिये तैयार होकर आया है उसे इतनी व्यवहार-श्रद्धा की खबर तो होगी ही ऐसा मान लिया है। यहाँ तो व्यवहार के भेद का उल्लंघन कर जाने की बात है। मात्र व्यवहारतत्व से और पुण्य से धर्म मनवाने वाले दुकानें बहुत सी हैं। जैसे कालेज वाले यह समझ लेते हैं कि यहाँ पढ़ने को आने वाले पहली कक्षा से लेकर मैट्रिक तक तैयार

होकर ही आये हैं, उसीप्रकार अनन्त जन्म-मरण को टालने के लिये जो परमार्थतत्व के निकट आया है उसे नवतत्वों के यथार्थ ज्ञान की खबर तो होनी ही चाहिये। यह धर्ममार्ग की सर्वप्रथम इकाई की बात है। सर्वप्रथम वास्तविक इकाई निश्चयसम्यक्दर्शन है।

कितने ही लोग यह कहकर कि समयसार में बहुत ही उच्च कक्षा की बात है, उसे समझने से या उसका परिचय प्राप्त करने से इन्कार करते हैं, किन्तु सर्वप्रथम धर्म का मूल्य परमार्थ सम्यक्त्व क्या है यह पूर्वापर विरोध रहित समझना हो तो उसके लिये यह बात है।

अनन्तकाल में स्वरूप को पहिचानने के अतिरिक्त आत्मा अन्य सब कुछ कर चुका है। "पहले जो कभी नहीं समझा था वह परमार्थ स्वरूप कैसा है" यही समझने के लिये जो आये हैं उन्हे आचार्य देव कहते हैं कि-यथार्थ नवतत्वों के शुभविकल्प की प्रवृत्ति से छूटकर इस ज्ञानानन्द अविकारी आत्माकी प्राप्ति करो। पर से भिन्न और निज से अभिन्न स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान प्राप्त करो।

भावार्थ:—सब स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप त्रैकालिक गुण-पर्याय के भेदो मे व्याप्त यह आत्मा एकाकार ज्ञायकरूप से शुद्धनय से बताया है, उसे सर्व अन्य द्रव्यो से तथा अन्य द्रव्य के निमित्त से होने वाले विकारी भावो से भिन्न देखना और अनुभव सहित यथार्थरूप मे श्रद्धा करना सो नियम से सम्यक्दर्शन है। भगवान आत्मा पर से निराला त्रिकाल स्वभाव से निर्मल ही है, वर्तमान प्रत्येक समय की अवस्था में कर्म के सयोग की अपेक्षा से अशुद्धता का अश है, उसे देखने वाली व्यवहारदृष्टि को गौण करके त्रैकालिक एकाकार सामान्य ज्ञायक स्वभाव को शुद्धनय से अपने एकत्व मे निश्चित् किया गया है अर्थात् नि शकश्रद्धा की गई है और वही जन्म-मरण को दूर करने का निश्चित् उपायरूप प्रथम गुण है। (गुण-लाभ)

नवतत्वोके जो विचार मन मे होते हैं उनके विकल्पोमे अटककर आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर व्यवहारनय सम्यक्दर्शनको अनेक भेदरूप कहता है वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, एकरूप नियम

नहीं रहता । आत्मा एकस्वभावी है उसे नवतत्त्वों में रोकना अर्थात् एक तत्त्व को अनेक तत्त्वों में रोकना सो व्यभिचार है ।

यहां कहने का तात्पर्य यह है कि अविरोधरूप से सच्चे देव गुरु शास्त्र और नवतत्त्वों की श्रद्धाके भेदों को जाननेके बाद भी उसके अनेक प्रकार में शुभराग में रुकना पड़ता है सो गुण नहीं है, किन्तु निर्दोष एकरूप स्वभाव का निश्चय करके उसमें शुद्धनय से श्रद्धा के भिन्न विषय में रुकना सो गुण है । देव गुरु शास्त्र भी परवस्तु है, उसके आश्रय से तथा नवतत्त्वों के शुभविकल्प में रुकने से एकरूप निर्विकल्प अनुभव नहीं होता किन्तु पूर्ण ज्ञानानन्द निर्विकार त्रिकाल स्वभाव का लक्ष करके अन्तरंग में उन्मुख हो तो अभेद शान्त आनन्द का अनुभव होता है । जिसे परावलम्बन से तथा शुभराग से गुण प्रगट होने का विश्वास जमा हुआ है उसके धर्म का प्रारम्भ भी नहीं हुआ है ।

समयसार में तो पहले धर्म के प्रारम्भ की बात है । जो अनादिकाल का अत्यंत अप्रतिबुद्ध–निरा अज्ञानी है वह परमार्थस्वरूपके रहस्य को जान सके इसलिये सर्वप्रथम परमार्थ सम्यक्दर्शन की बात कही है । समयसार में प्रत्येक बात स्पष्ट कही है । जो यथार्थ को समझता है । उसके सम्पूर्ण भ्रम का नाश होजाता है और जैसा परमानन्द पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है वैसा ही प्राप्त होता है ।

तीनोंकालमें मनुष्य भव महादुर्लभ है उसमें भी पांचों इन्द्रियों की पूर्णता और उत्तमधर्म का श्रवण दुर्लभ है । और जब ऐसा अमूल्य सुयोग प्राप्त हुआ है तब यदि जन्म–मरण को दूर करने का उपाय न करे तो फिर अनन्तकाल में भी ऐसा सुयोग मिलने वाला नहीं है । सांसारिक कार्यों में भी पिता पुत्र से कहता है कि यदि इस भर मौसम में नहीं कमावेगा तो कैसे चलेगा ? इन दो महीनों में बारह महीनों की रोटी पैदा करनी है । इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि अब तुझे यह सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हुआ है एक–एक क्षण एकसारा वर्ष के समान जारहा है इसलिये आत्मकल्याण करले । ऐसा महामूल्य मनुष्य भव प्राप्त करके भी यदि अपूर्व श्रद्धा नहीं करेगा तो यह प्राप्त

किया हुआ सब व्यर्थ जायेगा, इसलिये पहले पूर्वापर विरोध रहित आत्मा की यथार्थ पहिचान करना चाहिये । यह तो प्रथम भूमिका की रीति है।

शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर अथवा पवित्र स्वभावकी मर्यादा मे पहुँचने पर, नवतत्त्व का भेदरूप व्यवहार गौण होजाता है। तब विकल्प के आश्रयरूप दोष मे रुकना नही होता; परमार्थदृष्टि मे एकरूप निश्चय का नियम रहता है।

कैसा है वह शुद्धनय का विषयभूत आत्मा ? पूर्ण ज्ञानघन है, सर्व लोकालोक को एक ही साथ सहज जानने वाला ज्ञानरूप है। जैसे दर्पण मे जितना दिखाई देता है वह उसकी स्वच्छता की शक्ति है, दिखाई देनेवाली परवस्तु उस दर्पण में प्रविष्ट नही होती, इसीप्रकार आत्मा अरूपी पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है। जिस का स्वभाव ही जानना है वह किसे न जानेगा ? और कब न जानेगा ? वह सब को जानता है और एक ही साथ जानता है इसलिये मैं पूर्ण ज्ञायक हूँ, किंचित्‌मात्र हीन नही हूँ, मेरा स्वभाव विकारी या उपाधिमय नही है। ऐसे स्वाधीन आत्मा की पहिचान होने पर अनादिकालीन मिथ्या-मान्यता का नाश होकर निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है। श्रद्धा कही आत्मा से पृथक् पदार्थ नही है, वह आत्मा का ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। इसलिये जो सम्यक्‌दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नही।

इसे समझे बिना धर्म के नाम पर जो कुछ करता है वह सब व्यर्थ जाता है, क्योकि जिस भाव से भव होता है उस भाव से भव का नाश कदापि नही होता। जिस भाव से पुण्य-पाप के विकारी भाव का नाश होता है। वैसी श्रद्धा और स्थिरतारूप अविकारी भाव से धर्म का प्रारम्भ होता है। प्रतिक्षण भयकर भावमरण करके विपरीत भाव से अनन्त भव धारण किये तथापि तुझे अपनी दया नही आती ! अब भव धारण नही करना है इसप्रकार का भाव यदि अन्तरग में उदित हो तो भवरहित अविनाशी असंयोगी स्वरूप को पहिचानने का पुरुषार्थ करे, किंतु जिसे परभव की श्रद्धा ही नही है और जिसे अभी इतनी सामान्य

नास्तिकता भी नहीं है कि आत्मा नित्य होगा या नहीं अथवा आत्मा एकाकी रहे तो उसमें क्या सुख है, और जो वर्तमान संयोग को ही मानता है तथा जिसकी ऐसी धारणा है कि मरने के बाद चाहे जो होता रहे इसकी हमें चिन्ता क्यों होनी चाहिये उसके लिये आचार्यदेव कहते हैं कि तू प्रभु है तेरी विपरीत मान्यता से तेरे गुणों में क्षयरोग लग गया है और तू अपने स्वभाव के विरोधभाव से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है इसका खेद होना चाहिये। मुझे संसार का कुछ भी नहीं चाहिये और किसीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है यह जानकर असंग अविकारी, स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा कर।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि जो नय है सो श्रुत ज्ञान-प्रमाण का अंश है इसलिये शुद्धनय भी श्रुतज्ञान-प्रमाण का ही अंश हुआ। त्रिकालस्थायी सामान्य एकरूप स्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों मिलकर संपूर्ण वस्तु है इसप्रकार ध्यान में लेना सो अपूर्ण अवस्था में 'परोक्षप्रमाण' अथवा श्रुतज्ञान-प्रमाण कहलाता है और केवलज्ञानरूप पूर्ण अवस्था को 'प्रत्यक्षप्रमाण' रूप ज्ञान कहते हैं।

जैसे कोई पुरुष सौ वर्ष का है उसे वर्तमान रोगी-निरोगी अवस्था के भेदरूप से न देखकर एकरूप सौ वर्ष का देखना सो शुद्धनय अथवा निश्चयदृष्टि है उस निश्चय की ओर के लक्ष को गौण करके वर्तमान अवस्था को देखना सो व्यवहारनय है और इन दो अपेक्षाओं का भेद न करके पुरुष को जानना सो श्रुतप्रमाण है। इसीप्रकार आत्मा में त्रिकालस्थायी ज्ञायक एकरूप भाव को देखना सो निश्चयनय है अखण्डता के लक्ष को गौण करके वर्तमान अवस्था को देखना सो व्यवहारनय है और त्रिकाल अखण्डस्वरूप एवं वर्तमान अवस्था के दोनों पहलुओं का एक साथ अखण्ड वस्तुरूप से ज्ञान करना सो प्रमाण अर्थात् श्रुतप्रमाण कहलाता है। एक पहलू का ज्ञान नयज्ञान है और दोनों पहलुओं का एकसाथ जो ज्ञान है सो प्रमाणज्ञान है।

प्रश्नः—जब केवलज्ञान होता है तब आत्मा कैसा मालूम होता है ?

उत्तरः—जैसा यहाँ है वैसा ही वहाँ है। यहाँ परोक्षप्रमाण-रूप श्रुतज्ञान मे भलीभाँति आगम-शास्त्र द्वारा स्वय निजको जान सकता है। जो पचेन्द्रियो के विषय में सुख माना है सो कही पर में देखकर नहीं माना है, यथेच्छ मिष्टान्न आदि के रस में जो मिठास मान रखी है उसे स्वाद पर से निश्चित् नहीं किया है। मैं कहाँ पर सुखका निश्चय कर रहा हूँ इसकी खबर निश्चित् करने वाले को ही नही है। पर में सुख है ऐसी कल्पना स्वय ही भीतर से उत्पन्न की है, यह अरूपी भाव आँखो से दिखाई नहीं देता तथापि अनादिकाल से उसका ऐसा दृढविश्वास है कि उसमें वह शका नही करता। यद्यपि परवस्तु में सुख नहीं है किन्तु स्वयं अपनी विपरीत कल्पना से मिष्टान्न आदि जड़वस्तुके स्वाद में सुख मान रखा है। यह ज्ञान की विपरीतदशा है। यदि पर की ओर से दृष्टि को वदलकर अपनी ओर करे तो स्वय अपना निर्णय कर सकता है। सराग अवस्था मे आत्मा को परोक्ष श्रुतज्ञान–प्रमाण से जैसा जानता है उसी स्वरूप से केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, मात्र दोनो में निर्मलता–मलिनता का (–प्रत्यक्ष–परोक्षका) भेद है।

प्रश्नः—वर्तमान प्रत्यक्ष अनुभव किसप्रकार होता है।

उत्तरः—अन्धा मनुष्य मिश्री को नही देख सकता किन्तु वह देखने वाले मनुष्यके समान ही स्वाद ले सकता है। इसीप्रकार वर्तमान में परोक्षज्ञानी अपने सम्पूर्ण आत्मा को अनन्त शक्तिरूप प्रत्यक्ष न देखे तथापि उसका स्वसवेदन ज्ञान तो कर ही सकता है। जब यथार्थ श्रद्धाके समय बुद्धिपूर्वक विकल्परहित निज में एकाग्र होता है तब और उसके बाद जब–जब ऐसे अनुभव में स्थिर होता है तब–तब केवलज्ञानी अपने आनन्द का पूर्ण स्वाद अनुभव में लेता है, उसीप्रकार के आनन्द का आंशिक स्वाद श्रुतज्ञान के उपयोग के समय लिया जासकता है।

वीतराग कथित शास्त्रज्ञान से मति, श्रुतज्ञानी आत्मा को पूर्णतया गुणमय से परोक्ष जानता है, और अखण्डस्वभाव में एकाग्र होनेपर बुद्धिपूर्वक के विकल्प से छूटकर सम्यक्दर्शन की निर्मल अवस्था की उत्पत्ति होने के साथ ही आत्मा के निराकुल आनन्द का आंशिक अनुभव होता है।

धर्मों में पहला धर्म सम्यक्दर्शन है। धम आत्माका स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। श्रद्धा, ज्ञान चारित्र अविकारी गुण आत्मा में है, कर्मों के निमित्ताधीन शुभाशुभ विकार आत्माका मूल स्वभावभाव नहीं है। आत्मा का अविकारी अखण्ड मूलस्वभाव जिस भाव के द्वारा माना जाता है वह भाव निर्मल सम्यक्दर्शन है।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि के अनुसार जिसकी निमित्ताधीन विपरीत दृष्टि है उसके विकारी अवस्था की उत्पत्ति होती है और निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती ऐसा मिथ्या-दृष्टि का फल है। सम्यक् दृष्टि त्रिकाल ध्रुव अखण्डस्वभाव को लक्ष में लेता है। यथार्थ ज्ञान अविकारी स्वभाव को और वर्तमान विकारी अपूर्ण अवस्था को यथार्थ तया जानता है किन्तु उसमें विकार को नहीं रखना चाहता। जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसकी वसी सृष्टि (—पर्याय) होती है। मेरा स्वभाव त्रिकाल में पूर्ण निर्मल शाश्वत अनन्तशक्ति से भरा हुआ है उसकी प्रतीति के बल से एक समय में पूर्ण आनन्द प्रगट करने की शक्ति है उसकी यथार्थ स्वीकृति करनेवाला केवली होजाता है क्योंकि अविकारी पूर्ण केवलज्ञानघन हूँ ऐसी पूर्ण स्वभाव की श्रद्धा के बल से पूर्ण स्वभाव तक पहुँचने वाली प्रतिक्षण निर्मलपर्याय प्रगट होती है। पहले यथार्थ स्वरूप का बहुमान करके यदि उसके सच्ची रुचि को बढ़ाये तो यथार्थता प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

ज्ञानी राज्यादिके कार्यमें लगा हो, बाहर में बहुत—सी प्रवृत्ति हो तथापि वह आत्मा को यथार्थ प्रतीति होने के कारण स्वभाव की निःसंदेहता में प्रवर्तमान रहता है। वर्तमान अशक्ति से शुभाशुभ राग

में युक्त होता है, तथापि उसे आदरणीय नहीं मानता, पुण्य–पाप की क्रिया में स्वामित्व या कर्तृत्व नही मानता। निरावलम्बी अविकारी स्वभाव पर ही उसकी दृष्टि है इसलिये निर्मलताकी उत्पत्ति क्रमश. होती रहती है। जिसकी वर्तमान पर्याय पर दृष्टि है, शुभाशुभ विकार में कर्तृत्व की दृष्टि है और जो बाह्यप्रवृत्ति को अपनी मानता है वह भले ही मुनि होकर ध्यान में बैठा हो तथापि उसकी पर में कर्तृत्वबुद्धि होने से प्रतिसमय अशुद्धता की उत्पत्ति और गुण की अवस्था का नाश होता रहता है।

शुभाशुभ विकारके भाव को अपना स्वरूप मानना सो मिथ्यात्व है। सम्पूर्ण आत्मा का लक्ष करना सो प्रमाण है। एक वस्तु को एक पहलू से लक्ष में लेकर दूसरे पहलू को गौण करना सो नय है। अखण्ड-शुद्ध पहलू से देखना सो शुद्धनय–निश्चयनय है, और मलिन, अपूर्ण अवस्था के पहलू से देखना सो व्यवहारनय है। यह दोनो नय श्रुत-प्रमाणरूप सम्पूर्ण ज्ञान के एक–एक अंश–भाग हैं। सम्यक्श्रुतज्ञान के द्वारा अवस्था को और त्रिकालपूर्ण स्वभाव को एक साथ ज्ञान में माप लेना सो श्रुतज्ञान है। शुद्धनय भी श्रुतज्ञानप्रमाण का अंश है। श्रुत-प्रमाण परोक्षप्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ वीतराग के वचनरूप आगम द्वारा जाना है, इसलिये यह शुद्धनय सर्वद्रव्यो से भिन्न, आत्मा की सर्वपर्यायो में व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप–सर्वलोकालोक को जानने वाला, असाधारण चैतन्य धर्म को परोक्ष दिखाता है। श्रुतज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष नही दिखाई देता किन्तु वह प्रत्यक्ष का कारण है। शुद्धनय से, स्वाश्रित लक्ष से अविकारी ध्रुव एकाकार स्वभाव को मानना सो सम्यक्दर्शन है।

यह बात समझने योग्य है। एक आत्मा की यथार्थ समझ के बिना अनन्तकाल व्यतीत होगया जिसमें पशु नारक आदि के घोर दु ख अनन्तबार भोगे हैं, अब अनन्तकाल में यह दुर्लभ मनुष्य भव मिला है, मुक्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ है इसलिये यथार्थ मनन करना चाहिये। यदि कोई यह कहे कि अभी मेरे पास साधन नहीं है या

निवृत्ति नहीं है तो वह झूठा है। यदि सच पूछा जाय तो इसी समय सर्वसुयोग है क्योंकि आत्मा वर्तमान में अन्तरंग के सर्वसाधनों से परिपूर्ण है। अन्तरंग साधन से ही सब कुछ होसकता है। देह, मन, वाणी की प्रवृत्तिरूप आत्मा नहीं होगया है नरक में भयंकर प्रतिकूल तायों के संयोग में रहने पर भी आत्मा में कोई प्रतिकूलता नहीं आयी है, ऐसी प्रतीति करके वहां भी प्रतिकूलता के संयोग होने पर भी आत्मा शांति भोग सकता है। अनन्त जन्म-मरण का नाश करने वाले यथार्थ सम्यकदर्शन को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का वास्तविक कर्तव्य है यही मोक्ष का बीज है।

शुद्धमय पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप को परोक्ष दिखाता है। यदि पहले परोक्ष प्रतीति न करे तो प्रत्यक्ष प्रतीति भी न हो। जो यह कहता है कि जो कुछ अपनी आंखों से देखा जाय वही मानना चाहिये तो वह नास्तिक है। अनुभव से तो प्रत्यक्ष है ऐसा ज्ञानी कहते हैं किन्तु जो यह कहता है कि मैं तो प्रत्यक्ष देखने पर ही मानूंगा तो वह नास्तिक ही है, क्योंकि पूर्ण प्रत्यक्ष होने के बाद मानने को क्या शेष रह जाता है।

इस समयसार शास्त्र में किसी वस्तु का स्वभाव शेष नहीं है। "प्राणाधिराज तुम्में हैं भाव ब्रह्माण्ड के भरे"। विश्व की जितनी विपरीत मान्यताएँ हैं वे सब और स्वभाव की ओर की अनुकूल बातें एवं तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रश्नों का स्पष्टीकरण इस महान् ग्रन्थ में है। धैर्यपूर्वक अपूर्व पात्रता के द्वारा मुझे क्रमशः श्रवण-मनन की पद्धति से अभ्यास करे तो कुछ कठिन नहीं है। इस समय तो लोगों ने बाह्य क्रिया में और पुण्य-पाप की प्रवृत्ति में धर्म मानकर और मनवाकर वीतराग के शासन को छिन्न-भिन्न कर डाला है और समयसार में अन्तरंग तत्त्व की जो प्राथमिक बात सम्यक्दर्शन सम्बन्धी कही है उसे उच्च भूमिका की बात मानते-मनवाते हैं, इसलिये तटस्थ भाव से विचार करना चाहिये।

प्रश्नः—जब यह सब बुद्धि में जमेगा तभी तो माना जायगा ?

उत्तरः—किसी साहूकार से यहाँ पचास हजार रुपया व्याज पर रखना हो और वहाँ जाकर वह उस साहूकार से कहे कि पहले यह बताइये कि आपके पास कितनी जायदाद है, तथा उसके लिये अपने वही-खाते भी दिखाओ, साथ ही यह भी कहे कि अपने घर के गहने आदि भी दिखाओ एव अपनी प्रतिष्ठा का भी प्रमाण दो; तभी मैं आपके यहाँ अपने रुपये व्याज पर रखूँगा। ऐसा कहने वाले को साहूकार स्पष्ट सुना देगा कि मुझे तेरे रुपयो की आवश्यक्ता नही है, तू अपना रास्ता नाप। यदि उस साहूकार के मुनीम से पूछा जाये तो वह भी कहेगा कि सब कुछ नही बताया जासकता, किन्तु तू स्वयं आकर दूकान पर बैठ, यह देखकर प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में स्वत. जानकारी करले कि यहाँ हुडियाँ कैसी चल रही हैं, इसप्रकार कुछ दिन परिचय करके जानले, इसके बाद यदि तुझे स्वय विश्वास आये तो रुपये जमा करा देना। इसके वाद ऐसा करने पर जब विश्वास जमता है तो रुपया जमा कराता है, तथापि ससार के विश्वास में कही अन्तर पड सकता है, किन्तु परमार्थ में सत् मे से सत् ही आता है, उसमे अन्तर नही पडता। किसी की ऋद्धि अपनी आँखो से देखकर ही विश्वास करूँगा ऐसा कभी नही बनता, उसीप्रकार आत्मामे कितनी ऋद्धि भरी हुई है यह दिखाओ तभी मानूँगा, तो ऐसा कभी नही होसकता। किन्तु विचार करे कि जो वस्तु है सो नित्य है, ज्ञायकस्वभाव को कोई नही रोक सकता, कोई नही दे सकता इसलिए स्वभाव स्वतंत्र है। जिसका स्वभाव सतत् जाननेरूप है वह अपूर्ण, हीन अथवा पर में अटकने वाला नही होसकता यही निश्चित् होसकता है। ज्ञायकरूप से अरूपी आत्मा और उसका अरूपी ज्ञान परोक्षप्रमाण से बराबर जाना जासकता है। जिनके अल्प और अपूर्ण अवस्था या विकार नहीं है वे पूर्ण केवलज्ञानी ही हैं ऐसा निर्णय करना चाहे तो निश्चय होसकता है। इसलिये सत्समागम मे रहकर परिचय करके ध्यान रखकर सुनना चाहिये और अन्तरग से समझना चाहिये।

जो वस्तु नित्य है उसमें पूर्ण स्वाधीन शक्ति भरी हुई है।

यदि स्वाधीनतया पूर्णशक्ति न हो तो वह वस्तु ही नहीं है। जो 'है' उसे 'नहीं' कैसे कहा जासकता है ? जो है' सो स्वाधीन है, उसे परा धीन कैसे कहा जासकता है ? स्वयं नित्य जैसा है वैसा अपनेको जानना चाहिये और पररूप से–उपाधिरूप से नहीं है ऐसा जानना चाहिये। इसप्रकार त्रिकाल पूर्ण एकत्वका निर्णय करके अल्पज्ञान में पूर्ण ज्ञानकी श्रद्धा करे तो प्रत्यक्ष केवलज्ञानी होसकता है।

जैसे साहूकार की पेढ़ी में हुंडियों के लेन–देन में किसी प्रकार का कोई विरोध न देखे तो फिर उसके घर की सब बात जानने से पूर्व ही उसका विश्वास कर लिया जाता है इसीप्रकार केवलज्ञानीके वचनों के अविरोधी न्यायरूप आगम का सत् समागम के द्वारा परिचय करके श्रवण करके मिलान करके अविरोधीपन से तत्त्वका जो एक न्याय जम जाता है उसे अपने आत्मा में परिपूर्ण विश्वास होता है। वह श्रुतज्ञान प्रमाण परोक्ष है तथापि प्रत्यक्ष स्वभाव की प्राप्ति का कारण है यह जानकर छद्मस्थ–मतिश्रुतज्ञानी जीव वीतराग द्वारा कथित आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से ज्ञात अविकारी पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करता है सो निश्चयसम्यक्दर्शन है।

जहाँतक केवल (मात्र) व्यवहारनय के विषयभूत नवतत्त्वके विचार में जीव रुकता है वहाँतक सम्यक्दर्शन नहीं होता। निमित्ता धीन अवस्था में शुभाशुभ विकारीभाव के द्वारा मुझे गुण प्राप्त होगा ऐसा माने अथवा नवतत्त्वके शुभराग को करने योग्यमाने हितकरमाने अपना माने तो उससे मिथ्यादृष्टिता दूर नहीं होती। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जितने शुभाशुभ भाव हैं वे सब व्यवहार के पक्ष में जाते हैं। पश्चात् उन नवतत्त्वों की श्रद्धा हो तो भी वह केवल व्यवहार का पक्ष होने से वहाँ मिथ्यादृष्टि ही है। पूर्णस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा के बाद धर्मात्मा को जहाँ स्थिर नहीं होसकता वहाँ नवतत्त्व के विचार की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु उसे उसका अन्तरंग से आदर नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव ने कहा है कि नवतत्त्वों की परिपाटी को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो हम दूसरा

कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नही है। यदि सर्वथा नयो का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है या नहीं ? इतना सब समझने का कष्ट क्यो किया जाय ? दो अपेक्षाओं का ज्ञान करना, और फिर प्रमाण करना, और उसमे भी अवस्थादृष्टि को गौण करना एव निश्चयदृष्टि को मुख्य करना, इतना सब समझनेकी अपेक्षा 'आत्मा चैतन्य है' इतना मानने में निर्मलता की उत्पत्ति और मलिन अवस्था का नाश करने वाला सम्यग्दर्शन आया या नही ?

समाधानः—नही, नास्तिक मतावलम्बियो के अतिरिक्त सभी आत्मा को चैतन्य मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यक्दर्शन कहा जाये तो सभी को सम्यक्त्व सिद्ध होजायेगा। सर्वज्ञ वीतराग ने तीनकाल और तीनलोक का यथार्थ स्वरूप अपने ज्ञान से साक्षात् जानकर आत्मा का जैसा स्वतन्त्र पूर्ण स्वरूप कहा है वैसा ही सत्समागम से जानकर स्वभाव से निश्चय करके वैसा ही श्रद्धान करने से यथार्थ सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञ के ज्ञान को स्वीकार करने वाले ने यह निश्चय किया है कि अल्पज्ञ जीव भी अपूर्ण अवस्था के समय भी सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में पूर्ण होने की शक्ति वाले हैं, मेरे ज्ञानगुण की एकसमय की अवस्था में तीनकाल और तीनलोक को एकही साथ जानने की अपारशक्ति है। पूर्ण को स्वीकार करने वाला प्रतिसमय पूर्णतक पहुँचने की शक्ति रखता है। परोक्षज्ञान में भी यथार्थ निर्णय आये कि यह वस्तु वर्तमान में भी स्वतन्त्र त्रिकाल अखण्ड अविकारीरूप से परिपूर्ण है, इसप्रकार शुद्धनय से जानना सो निश्चयसम्यक्त्व होने का कारण है।

किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सर्वज्ञ वीतराग कौन हैं, उन्होने क्या कहा है, सच्चे नवतत्त्व और देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप क्या है, उसकी तो बात ही क्या की जाये ? यदि सर्वज्ञ वीतराग परमात्माके

यथार्थ स्वरूप को जाने तो उनके कहे हुए को स्वयं यथार्थ समझे और जाने। जैसी सर्वज्ञ भगवान की पूर्ण स्वभाव है वैसा ही परमार्थ से प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा शुद्धनय के आश्रय से होती है। यह बात सातवें श्लोक में टीकाकार आचार्य ने कही है :—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् शुद्धनयाधीन जो सर्व परद्रव्यों से भिन्न, पर-निमित्त के विकारी भावों से भिन्न तथा मन के विकल्पों से परे ऐसी चैतन्य-चमत्कार मात्र आत्मज्योति है सो प्रगट होती है क्योंकि वर्तमान अवस्था में नवतत्त्वों के विकल्पों में व्यवहार से भटकने पर अनेकप्रकार से दिखाई देती है, तथापि शुद्धनय से देखने पर अपने एकरूप ध्रुवस्वभाव को नहीं छोड़ती। इसप्रकार आत्मा को परिपूर्ण माने और न्याय से बराबर जानकर शुद्धनय के द्वारा पूर्णस्वभाव की श्रद्धा करे तो विकार का नाश, निर्मल अवस्था की उत्पत्ति और अल्पकाल में मोक्ष को प्रगट करने का सच्चा कारणभूत निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
५२	२१	कालु	कालुष्य
११५	१८	परबरतुल	परस्वरूप
१२६	२३	वंध न	बंधन
१५६	७	अरवएह	स्वंदम
१५७	२६	उनपर	अपर
१५६	२३	पर	परसे
१६४	१३	धार	धारा
२१६	८	निपेक्ष	निरपेक्ष
२११	४	अपृभेद	अभेद
२५५	१८	भव	भाव
२५६	६	धर्म पूर्वक	धर्म
२६५	१८	ब्राह्मणों	ब्राह्मण
४०८	१६	स्त्रय	स्त्रय
४१५	१५	सयाग	सयोग
४३६	१५	मेको	मेको
४४२	२६	परावलयन	परावलबन
४५७	१४	साज्ञात	साक्षात